कबीर वाङ्मय : खंड ३

साखी

डॉ. वासुदेव सिंह

'कबीर वाणी' में 'साखी' का विशिष्ट स्थान है। 'साखी' शब्द संस्कृत के 'साक्षी' का तद्भव है। साक्षी का अर्थ है—गवाह। गवाही के लिए संस्कृत में 'सांक्ष्य' शब्द है। साक्षी वह है जिसने स्वयं अपनी आंखों से तथ्य देखा हो। 'साक्ष्य' का अर्थ है—आँख से देखे हुए तथ्य का वर्णन। हिन्दी में 'साखी' शब्द 'साक्षी' और 'साक्ष्य अर्थात् 'गवाह' और 'गवाही' दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कबीर ने अपनो उन उक्तियों का शीर्षक 'साखी' इसलिए दिया है, क्योंकि उन्होंने इसमें वर्णित तथ्यों का स्वयं साक्षात्कार किया है। 'साखी' शब्द को चाहे हम 'गवाह' के अर्थ में लें या 'गवाही' के अर्थ में, भाव है— स्वसंवेद्य, स्वानुभूत आध्यात्मिक तथ्य का वर्णन करने वाली।

प्रस्तुत ग्रंथ में साखियों का प्रामाणिक पाठ निर्धारित करने के अतिरिक्त कबीर के काव्य-सौष्ठव का स्पष्टीकरण करते हुए भावार्थ बोधिनी व्याख्या दी गई है। व्याख्या करने में यही दृष्टि रही है कि कबीर को साधक एवं कवि के यथार्थपूर्ण संदर्भों में समझा जा सके।

आवरण चित्र

इस ग्रन्थ के प्रतीकात्मक आवरण चित्र में जल भव-सागर का एवं कमल-पुष्प जीव का प्रतीक हैं। पुष्प के अन्तस्तम तल में सुरति विद्यमान है। ऊपर सूर्य का प्रकाश सारशब्द अथवा कबीर के राम का द्योतक है। ज्यों-ज्यों सुरति सारशब्द की ओर उन्मुख होती है, त्यों-त्यों जीवरूपी कमल का विकास होता जाता है।

कबीर वाङ्मय : खण्ड ३

साखी

भावार्थबोधिनी व्याख्या सहित

डॉ० जयदेव सिंह

•

डॉ० वासुदेव सिंह

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९७६ ई०

मूल्य : बीस रुपए

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी–१

मुद्रक
स्वस्तिक मुद्रणालय
गोलघर, वाराणसी–१

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मेरा॥

क्रम

संकेत-विवृति

अ०	=	अरबी
गुप्त०	=	डॉ० माताप्रसाद गुप्त—कबीर ग्रन्थावली
तिवारी	=	डॉ० पारसनाथ तिवारी—कबीर ग्रन्थावली
ना० प्र०	=	बाबू श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली—प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
पं०	=	पंजाबी
प्र० अ०	=	प्रतीकात्मक अर्थ
फा०	=	फारसी
मु०	=	मुहाविरा
यु०	=	युगलानन्द—सत्य कबीर की साखी
राज०	=	राजस्थानी
ला० अ०	=	लाक्षणिक अर्थ
वि०	=	विचारदास—सद्गुरु कबीर साहब का साखी-ग्रन्थ
सं०	=	संस्कृत
हनु०	=	हनुमानदास—श्री सद्गुरु कबीर साहब का साखी-ग्रन्थ

उपोद्घात

कबीरदास का व्यक्तित्व न केवल हिन्दी सन्त कवियों में, अपितु पूरे हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है। हिन्दी-साहित्य के लगभग बारह सौ वर्षों के इतिहास में, तुलसीदास को छोड़कर, इतना प्रतिभाशाली एवं महिमामण्डित व्यक्तित्व दूसरे किसी कवि का नहीं है। यद्यपि उन्होंने 'मसि कागद' का स्पर्श नहीं किया था, तथापि उनके नाम से प्रभूत साहित्य उपलब्ध है। कबीरपन्थियों का तो विश्वास है कि उनकी वाणी अनन्त है। वनस्पति में जितने पत्र एवं गंगा में जितने बालुका-कण हैं, कबीर ने श्री-मुख से उतना ही कहा है:—

जेते पत्र बनसपती, औ गंगा की रैन।
पंडित बिचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन॥
(बीजक—साखी २६१)

सन्त सदाफलदेव के मत से "सद्गुरु कबीर साहेब बन्दीछोर स्वतः प्रकाशस्वरूप हैं एवं वे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव नित्य अनादि सद्गुरु हैं। वे चारों युगों में स्वच्छन्द संसार में प्रकट होकर जगजीवों को उपदेश करते हैं। अत उनको कुछ पढ़ने की तथा योग करने की कोई आवश्यकता नहीं है।"[1] कबीर-बीजक के टीकाकार रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'कबीर जी की कथा' में लिखा है कि "सिकन्दर शाह लोदी ने कबीर की महिमा को सुनकर उनसे न्याय, व्याकरण आदि विभिन्न शास्त्रों पर अपना मत लिखने का अनुरोध किया। कबीर ने सहस्र गाड़ियों में कागज भरवाकर, एक स्थान पर 'राम' शब्द लिखकर, उनको भिजवा दिया। कबीर के व्यक्तित्व के प्रभाव से हिन्दू-मुस्लिम धर्मों के सभी शास्त्रों के वचन उन पृष्ठों पर स्वतः लिख गये।"[2]

इसी प्रकार बीजक के अन्य टीकाकार श्री विचारदास शास्त्री का कहना है कि कबीर ने प्रत्येक जीव के लिए छः लाख छानवे हजार रमैनियाँ मौखिक रूप से कह दी थीं, जिन्हें उनके शिष्यों ने विभिन्न प्रदेशों में प्रचारित किया—'छः लाख छानवे सहस्र रमैनी एक जीभ पर होय।"[3]

---

१. सदाफलदेव जी—बीजक-भाष्य, पृ० १

२. सहस शकट कागज जब आयो। तब कबीर अति आनंद पायो॥
सबके ऊपर शकट यक माँही। लिख्यो राम अक्षर द्वै काहीं॥
सहसहु शकट साह ढिग भेजा। प्रगट्यो राम नाम कर तेजा॥
सकल शास्त्र सब कागज माँही। लिखिगे आपुहि ते श्रम नांही॥
(कबीर-बीजक, पृ० २०-२१)

३. बीजक, पृ० ४२।

कबीर-पन्थियों के मत से 'कबीर' एक समय में उत्पन्न एक व्यक्ति की संज्ञा नहीं है। कबीर वह 'परमतत्त्व' है जो अज्ञानान्धकार में भटकते हुए प्राणियों का मार्गदर्शन करने के लिए प्रत्येक युग में अवतीर्ण होता है और सदुपदेश करता है—'जुग-जुग सो कहवैया, काहु न मानी बात' (रमैनी—५)। एक साखी में तो यहाँ तक कहा गया है कि जिस समय यह कृत्रिम संसार नहीं था अर्थात् सृष्टि नहीं हुई थी, संसार-रूपी बाजार नहीं था, उस समय केवल राम के भक्त आदिगुरु कबीर थे, क्योंकि उन्हें लक्ष्य तक पहुँचने के कठिन और दुर्गम मार्ग का परिचय था :—

जा दिन किरतम नां हुता। नहीं हाट नहिं बाट।
हुता कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट॥ २८॥

(परचा को अंग)

वस्तुतः कबीर के अनुयायियों द्वारा उनकी अतिरंजनात्मक प्रशस्ति के मूल में कबीर-भक्तों की श्रद्धा की अभिव्यक्ति अधिक है, तथ्यों की सूचना कम। इसीलिए उनके उद्गार कबीर के सही व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं की सच्ची जानकारी देने में कम सहायक हुए हैं। एक प्रकार से इससे समस्या उलझी अधिक है, क्योंकि कबीर के इन भक्तों ने न केवल उनकी कोरी प्रशंसा ही की है, अपितु उनके नाम से प्रचुर साहित्य लिखकर प्रचारित भी किया है। देश के विभिन्न भागों में विद्यमान कबीर-पन्थियों की गद्दियों और मठों में कबीर के नाम से इतना अधिक लिखित-मौखिक साहित्य उपलब्ध है कि किसी भी तटस्थ वैज्ञानिक अनुसंधित्सु के लिए 'कबीर-साहित्य' को अलग कर पाना नितान्त असम्भव हो गया है। यही कारण है कि विगत ७०-७५ वर्षों से देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा कबीर साहित्य की प्रामाणिकता पर निरन्तर कार्य होने पर भी आज तक हम अन्तिम रूप से यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि उपलब्ध साहित्य में कितना कबीर का है और कितना कबीरेतर।

कबीर के नाम उपलब्ध साहित्य

कबीर पर १८वीं शताब्दी से कार्य प्रारम्भ हो गया था, किन्तु कबीर-साहित्य की वैज्ञानिक खोज का कार्य सन् १९०३ में एच० एच० विल्सन ने किया। उन्हें कबीर के नाम पर कुल आठ ग्रन्थ मिले। उनके बाद बिशप जो० एच० वेस्टकॉट ने कबीर लिखित ८४ पुस्तकों की सूची प्रस्तुत की। रामदास गौड़ लिखित 'हिन्दुत्व' नामक ग्रन्थ में कबीर की ७१ पुस्तकें गिनायी गयी हैं। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में ७५ ग्रन्थों की तालिका दी है। इसी प्रकार हरिऔध-जी द्वारा सम्पादित 'कबीर वचनावली' में २१ ग्रन्थों, युगलानन्द द्वारा सम्पादित 'बोधसागर' में ४० ग्रन्थों, डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में ६१ ग्रन्थों और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में १४० ग्रन्थों की सूची मिलती

है। उपर्युक्त विद्वानों ने विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कबीर की रचनाओं की सूची मात्र दी है। उनकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता पर गहराई से विचार नहीं किया है।

प्रामाणिकता का प्रश्न

कबीर-साहित्य की प्रामाणिकता और पाठ-निर्धारण आदि के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो दिशाओं में कार्य हुए हैं—एक साहित्यिक विद्वानों द्वारा और दूसरे कबीर-पन्थी साधुओं द्वारा। साहित्यिक क्षेत्र में इस दिशा में सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य बाबू श्यामसुन्दरदास ने किया। उन्होंने संवत् १९८५ में दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'कबीर ग्रन्थावली' का सम्पादन करके, नागरी प्रचारणी सभा, काशी से प्रकाशित कराया। उनके अनुसार "कबीरदास के ग्रन्थों की इन दो प्रतियों में से एक तो संवत् १५६१ की लिखी है और दूसरी संवत् १८८१ की।"[१] संवत् १८८१ की प्रति में पहली प्रति की अपेक्षा १३१ दोहे और ५ पद अधिक हैं। इन दो प्रतियों के अतिरिक्त संवत् १६६१ में संकलित 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत कबीर की वाणी को भी प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन में आधार बनाया गया है। 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में कबीर के जो दोहे और पद उक्त प्रतियों में भी थे, उन्हें मूल अंश में सम्मिलित कर लिया गया है और शेष को परिशिष्ट में दे दिया गया है। इस प्रकार 'कबीर-ग्रंथावली' में कुल ८०९ साखियाँ, ४०३ पद और ७ रमैनियाँ संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में १९२ साखियाँ और २२२ पद और दे दिये गये हैं।

संवत् १५६१ की हस्तलिखित प्रति के अन्त में एक पुष्पिका दी हुई है जिसके अनुसार यह प्रति खेमचन्द के पढ़ने के लिए मलूकदास ने काशी में लिखी थी। बाबू श्यामसुन्दरदास ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि ये मलूकदास कबीरदास के शिष्य और समकालीन प्रसिद्ध सन्त थे। इस प्रकार बाबू साहब ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत प्रति का संग्रह कबीर के जीवनकाल में ही होने से, इसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। किन्तु परवर्ती खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि उक्त पुष्पिका जाली है। मलूकदास का जन्म संवत् १६३१ में हुआ था। अतः वह अपने जन्म के ७० वर्ष पूर्व ही उक्त संग्रह कैसे कर सके? 'षेमचन्द्र' नामक किसी व्यक्ति का भी पता नहीं चल सका है। इस प्रति की भाषा में जो पंजाबीपन का आधिक्य है, वह भी सन्देह को जन्म देता है, क्योंकि कबीर के पूर्वी क्षेत्र में पैदा होने और निवास के कारण इसमें पूर्वीपन अधिक होना चाहिए, न कि पंजाबीपन।[२] साखियों की भाषा में पंजाबी-प्रभाव के आधिक्य को देखकर स्वयं बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा था कि

---

१. कबीर ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ० १।

२. विस्तार के लिए देखिए, नागरी प्रचारिणी पत्रिका (शोध-विशेषांक), संवत् २०२९ में डॉ० शुकदेव सिंह का निबन्ध—'कबीर-ग्रन्थावली की प्रामाणिकता', पृ० ९६–१०१।

"दोनों हस्तलिखित प्रतियों में जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कुछ कारण समझ में नहीं आता। या तो यह लिपिकर्त्ता की कृपा का फल है अथवा पंजाबी साधुओं की संगति का प्रभाव है।"[१] यदि लिपिकर्त्ता कबीर का समकालीन होता तो उसे कबीर की भाषा में इतना व्यापक परिवर्तन करने का साहस कैसे होता? अतः अधिक समीचीन यही प्रतीत होता है कि बाबू साहब ने जिन प्रतियों के आधार पर ग्रन्थावली का सम्पादन किया है, वे काफी परवर्ती हैं। (दूसरी प्रति को स्वयं बाबू साहब ने संवत् १८८१ की लिखित माना है)। अतः 'कबीर-ग्रन्थावली' की प्रामाणिकता को अन्तिम सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता।

बाबू श्यामसुन्दरदास की 'कबीर-ग्रन्थावली' के प्रकाशन के लगभग १५ वर्षों बाद संवत् २००० (सन् १९४३) में डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने 'सन्त कबीर'[२] नाम से कबीर की रचनाओं का अन्य संस्करण निकाला। उनके मत से "नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' का पाठ सन्दिग्ध और अप्रामाणिक है। पाठ का पंजाबीपन तो 'पूरब' निवासी कबीर की वाणी का विषम शीशे में पड़ा हुआ विकृत प्रतिबिम्ब-सा है।" डॉ० वर्मा की दृष्टि में 'कबीर-ग्रन्थावली' की भाषा अप्रामाणिक है ही, उसके पाठ-निर्धारण में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। "अनेक स्थलों पर शब्दों को अलग-अलग लिखने में भूल हो गयी है। कहीं एक शब्द दूसरे से जोड़ दिया गया है, कहीं किसी शब्द को तोड़कर आगे और पीछे के शब्दों में मिला दिया गया है।"[३] इसके अतिरिक्त 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में उद्धृत अनेक पदों को छोड़ दिया गया है।

डॉ० वर्मा के समक्ष यद्यपि कबीर-बानी के ६ संग्रह तथा नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०१ से सन् १९२२ तक की खोज रिपोर्टों में संकलित ८५ प्रतियों की सूची थी, किन्तु उन्होंने 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' को ही सर्वाधिक विश्वसनीय माना, क्योंकि उनके मत से "श्री ग्रन्थ साहिब का संकलन पाँचवे गुरु श्री अर्जुनदेव ने सन् १६०४ (संवत् १६६१) में किया था। सन् १६०४ का यह पाठ अत्यन्त प्रामाणिक है। यही नहीं, गुरुमुखी लिपि में लिखे जाने पर भी कबीर के काव्य का व्याकरण पूर्वी हिन्दी का रूप लिये हुए हैं।"[४] प्रस्तुत संग्रह में 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' के आधार पर २२८ पद (सबद) और २४३ साखियाँ दी गयी हैं। इस संग्रह में रमैनियों को बिलकुल छोड़ दिया गया है। कबीर-पन्थियों में सर्वाधिक मान्य रमैनियों को कबीर-साहित्य से अलग करना उचित नहीं प्रतीत होता। पदों और साखियों की संख्या भी बहुत कम

---

१. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४–५।
२. प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९४३।
३. सन्त कबीर, प्रस्तावना, पृ० ७।
४. सन्त कबीर, प्रस्तावना, पृ० १६–१७।

कर दी गयी है। बहुत सम्भव है 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में कबीर की कुछ चुनी हुई रचनाएँ ही रखी गयी हों। अतः 'सन्त कबीर' में संगृहीत पदों और साखियों को कबीर का सम्पूर्ण साहित्य नहीं माना जा सकता।

कबीर-साहित्य के वैज्ञानिक स्वरूप-निर्धारण का दूसरा कार्य डॉ० पारसनाथ तिवारी ने 'कबीर-ग्रन्थावली' नाम से किया है। कबीर की वाणी का पाठ-निर्धारण एवं प्रामाणिक रचना-संकलन करने के लिए डॉ० तिवारी ने विभिन्न पुस्तकालयों, कबीर-पन्थी, दादू-पन्थी एवं निरंजन-पन्थी संस्थानों तथा व्यक्तिगत संग्रहालयों से प्राप्त हस्तलिखित एवं मुद्रित सामग्री का अत्यन्त श्रम से निरीक्षण-परीक्षण करके प्रस्तुत संग्रह तैयार किया है। इस कार्य को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने दादू महाविद्यालय, जयपुर से १५; श्री कबीर मन्दिर, मोती डूँगरी से ९; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी से २९; हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से २; पंजाब विश्वविद्यालय के संग्रहालय से २; स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण से २; श्री उदयशंकर शास्त्री से १२ और श्री अगरचन्द नाहटा से २ प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों का भी उपयोग किया है। इन प्रतियों का लिपिकाल संवत् १८३१ और संवत् १८८० के मध्य है। डॉ० तिवारी को विभिन्न संस्थानों एवं व्यक्तिगत संग्रहों से उपलब्ध हस्त-लिखित एवं मुद्रित प्रतियों में कबीर के नाम से कुल मिलाकर लगभग १६०० पद, ४५०० साखियाँ और १३४ रमैनियाँ प्राप्त हुईं। इनके अतिरिक्त लगभग १०० रचनाएँ उन्हें और मिलीं, जो कबीर-कृत मानी जाती हैं। कबीर के नाम से उपलब्ध इस विपुल साहित्य से उनकी वास्तविक रचनाओं को अलगाना कितना श्रमसाध्य है एवं कितनी पैनी दृष्टि की अपेक्षा रखता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस कठिनाई की ओर संकेत करते हुए डॉ० तिवारी ने लिखा है कि "मैं नहीं जानता कि संसार के और किसी कवि या लेखक की रचनाओं की समस्त प्रतियों में समान रूप से प्राप्त और पुनः उनमें पृथक्-पृथक् सामूहिक अथवा स्वतन्त्र रूप से प्राप्त छन्दों की संख्या में इस कोटि की विषमता होगी, जितनी कबीर के सम्बन्ध में दिखाई पड़ती है।"[1] इस प्रचुर सामग्री का सतर्कता एवं सावधानी से अध्ययन करके डॉ० तिवारी ने निष्कर्ष रूप में २०० पदों, २० रमैनियों, एक चौंतीसी रमैनी और ७४४ साखियों को प्रामाणिक रूप से कबीर की रचना माना है। इस प्रकार उन्होंने बाबू श्यामसुन्दर-दास द्वारा स्वीकृत साखियों और पदों की संख्या घटा दी है तथा रमैनियों की संख्या ७ की अपेक्षा २० मानी है।

डॉ० तिवारी ने 'कबीर-ग्रन्थावली' का सम्पादन एवं पाठ-निर्धारण पी-एच० डी० की उपाधि के निमित्त डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में किया था, किन्तु डॉ०

---

१. डॉ० पारसनाथ तिवारी : कबीर-ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० ३।

गुप्त को उनके पाठालोचन से पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि उनकी दृष्टि में "कबीर-वाणी के दो सर्वाधिक प्राचीन और सुरक्षित पाठों का यथेष्ट रूप से न तो मूल्यांकन ही हुआ था और न कबीर-वाणी का सन्देश स्पष्ट करने में उपयोग ही हुआ था।'[1] इसलिए डॉ० गुप्त ने 'कबीर ग्रन्थावली' के पाठ-निर्धारण की नये सिरे से आवश्यकता अनुभव करते हुए उसका सम्पादन किया है। प्रस्तुत संस्करण का आधार आगरा विश्वविद्यालय के के० एम० मुंशी विद्यापीठ में सुरक्षित संवत् १७६२ की बनवारीदास की परम्परा की उस प्रति को बनाया गया है जो सबसे प्राचीन उपलब्ध पाठ देती है। इस संस्करण में नागरी प्रचारिणी सभा की 'कबीर ग्रन्थावली' के समस्त छन्द संशोधित पाठ के साथ दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त उक्त प्राचीनतर प्रति से उपलब्ध एक साखी और १९ पद अधिक दिये गये हैं। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण का पाठ एवं छन्द-संख्या लगभग बाबू श्यामसुन्दरदास की 'कबीर-ग्रन्थावली' जैसी ही है, प्रत्येक साखी के प्रारम्भ में 'कबीर' शब्द अवश्य जोड़ दिया गया है।

इन प्रमुख कार्यों के अतिरिक्त कबीर के पदों और साखियों को लेकर और भी अनेक संग्रह समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं, जिनमें हरिऔध की 'कबीर-वचनावली', बेलवेडियर प्रेस की 'कबीर साहब की शब्दावली', गोविन्दराम दुर्लभराम द्वारा सम्पादित 'ग्रन्थ-शब्दावली', मुन्शी शिवव्रत लाल की 'सत्य कबीर की शब्दावली' एवं 'सन्त कबीर की साखी', स्वामी युगलानन्द की 'कबीर की साखी', हुजूर साहब की 'कबीर की साखी', विचारदास शास्त्री का 'सद्गुरु कबीर साहब का साखी ग्रन्थ', महाराज राघवदास का 'सटीक साखी ग्रन्थ', रामचन्द्र श्रीवास्तव की 'कबीर साखी-सुधा' आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

बीजक—बाबू श्यामसुन्दरदास तथा अन्य विद्वानों द्वारा 'कबीर-ग्रन्थावली' के सम्पादन-प्रकाशन का परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक क्षेत्र में पदों और साखियों का ही अधिकाधिक प्रचार हुआ और विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इन्हीं को स्थान मिला। बीजक प्रायः उपेक्षित ही रहा, जब कि कबीर-पन्थियों में 'बीजक' ही अधिक मान्य ग्रन्थ रहा है, उसे पन्थ का 'वेद' माना जाता है। अमृतसर के गुरुद्वारे के कबीरपन्थी भगत 'बीजक' का ही पाठ करते हैं। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का सारतत्त्व 'बीजक' में ही उपलब्ध होता है। 'बीजक' का अर्थ ही है—गुप्त-धन बताने वाली सूची। कबीर ने कहा है—

> बीजक वित्त बतावई, जो बित गुप्ता होय।
> सब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥ (रमैनी—३७)

जो वित्त या धन गुप्त होता है अर्थात् कहीं पृथ्वी में गाड़कर या अन्यत्र छिपाकर रखा जाता है, उसका पता केवल उसके 'बीजक' से ही लगता है, उसी प्रकार जीव

---

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित : कबीर ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० १।

के गुप्त-धन को अर्थात् वास्तविक स्वरूप को शब्दरूपी बीजक (गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान-दीक्षा) बतलाता है। कबीर का प्रमुख साहित्य—रमैनी, साखी और शब्द (पद) बीजक में उपलब्ध है। कबीर ने बीजक (रमैनी) में सृष्टि, मोक्ष, मनोमाया, माया से सावधानी, भव-पन्थ के कष्टों, संसार की असारता, सत्यानुभव, ज्ञान-भूमिका, देवादि-मोह-विडम्बना, सत्संग महिमा, आसक्ति से ज्ञान की दुर्लभता, सद्गुरु-महिमा, भक्ति-महिमा आदि का विशद विवेचन किया है। दर्शन के साथ काव्य का सुन्दर सामञ्जस्य 'बीजक' की अन्य विशेषता है। कबीर के सिद्धान्त, साधना एवं काव्य-वैशिष्ट्य पर विस्तार से स्वतन्त्र रूप से लिखा जायगा। यहाँ हम केवल इतना संकेत करना चाहते हैं कि अब तक कबीर-वाणी के इस महत्त्वपूर्ण अंश पर साहित्यकारों द्वारा अपेक्षित विचार का अभाव वस्तुतः कबीर के साथ अन्याय ही कहा जायगा।

'बीजक' के लोकप्रिय न होने का कारण कबीरपन्थियों की कट्टरता भी है। वे इसे मन्त्रों की तरह प्रायः गोपनीय ही रखना चाहते हैं। वे जन-सामान्य में इसका प्रचार अनुचित मानते हैं। कहा जाता है कि बीजक का मूल कबीर के दो शिष्यों भगवानदास और जगन्नाथ साहब के हाथ लगा। भगवानदास ने इसे गोपनीय ग्रन्थ बना दिया। उस पर दूसरों की दृष्टि न पड़ने दी। यदि किसी ने उसे अध्ययन-मनन के लिए माँगा भी तो भगवानदास या भग्गोदास ने अस्वीकार कर दिया, केवल सम्प्रदाय के दीक्षा-कार्यों में ही इसका उपयोग हुआ। यह प्रति भगताही परम्परा के कबीर-पन्थियों में ही सुरक्षित रही। बीजक की दूसरी प्रति जो जगन्नाथ साहब के अधिकार में थी, कबीरपन्थियों में उसका ही अधिक प्रचार-प्रसार हो सका। उसी के अधार पर साम्प्रदायिक भक्तों के द्वारा टीका और भाष्य भी लिखे गये।

कहने का तात्पर्य यह है कि कबीरपन्थियों में बीजक को ही अधिक प्रामाणिक एवं आदि ग्रन्थ माना जाता है। बिशप जी० एच० वेस्टकॉट ने भी लिखा है कि 'बीजक कबीर साहब की शिक्षा का प्रामाणिक ग्रन्थ मान लिया गया है। यह सम्भवतः १५७० ई० में या सिक्खों के पाँचवे गुरु अर्जुन द्वारा नानक की शिक्षा आदि-ग्रन्थ में लिखे जाने के बीस वर्ष बाद लिखा गया था।"[१] कबीरपन्थी सन्तों द्वारा इसके पाठ-निर्धारण एवं टीका-भाष्य-लेखन के सम्बन्ध में समय-समय पर कार्य होते रहे हैं। इन ग्रन्थों में हंसदास शास्त्री का 'कबीर-बीजक',[२] मोतीदास चेतनदास का 'कबीर साहब का बीजक',[३] सदाफलदेव जी का 'बीजक-भाष्य',[४] खड्गविलास प्रेस

---

१. Kabir and Kabir Panth, p. 7.
२. कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, बाराबंकी।
३. कबीर प्रेस, सीयाबाग, बड़ौदा, सन् १९३९।
४. मुक्ति पुस्तकालय, पकड़ी, बलिया, संवत् २०१३।

से प्रकाशित 'सद्गुरु कबीर साहेब कृत बीजक',[१] श्री गोसांई श्री भगवान साहब का 'मूल बीजक',[२] महात्मा पूरनसाहब का 'मूल बीजक'[३] तथा विचारदास का 'बीजक'[४] प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। कबीरपन्थियों के अतिरिक्त 'बीजक' पर कुछ अन्य लोगों द्वारा भी कार्य किये गये हैं, जिनमें रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'पाषण्ड-खण्डिनी टीका'[५] और लाहौर से उर्दू में प्रकाशित मुंशी शिवव्रत लाल का 'कबीर-बीजक' मुख्य है। इनके अतिरिक्त 'बीजक' के और भी कई संस्करण उपलब्ध हैं। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने ऐसे ३२ संस्करणों की सूची दी है।[६]

विभिन विद्वानों और कबीरपन्थियों द्वारा 'बीजक' के जो संग्रह निकाले गयें हैं, उनसे स्पष्ट है कि 'बीजक' की छन्द-संख्या में विशेष अन्तर नहीं है। दो-चार छन्दों के अन्तर से प्रायःसभी संस्करणों में ८४ रमैनियाँ, ११५ शब्द, १ चौंतीसी, १ विप्रमतीसी, १ कहरा, १२ वसंत, २ चांचर, २ बेलि, १ बिरहुली, ३ हिंडोला और ३५३ साखियाँ पायी जाती हैं। छन्द-संख्या में विशेष अन्तर न होते हुए भी पाठ-भेद विद्यमान है। कबीरपन्थी संपादकों ने पाठ-निर्धारण में प्रायः साम्प्रदायिक दृष्टि को ही विशेष महत्त्व दिया है। यद्यपि कुछ पाठ-शोधकों ने विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों का भी उपयोग किया है, किन्तु पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया तथा काव्य-रचना की बारीकियों से अनभिज्ञ होने के कारण इनके द्वारा निर्धारित पाठ अधिक प्रामाणिक नहीं बन सके हैं। उदाहरणार्थ 'बीजक मूल' के सम्पादक साधु लखनदास ने "इस ग्रन्थ का संशोधन ग्यारह ग्रन्थों से किया है, जिसमें छः टीका-टिप्पणी के साथ हैं और पाँच हाथ की लिखी पोथी हैं। परन्तु इन सब ग्रन्थों को साक्षी रूप में रखा गया था, केवल स्थान कबीर चौरा, काशी के पुराने और प्रचलित पाठ पर विशेष ध्यान दिया गया है।"[७] इसी प्रकार विचारदास शास्त्री ने दावा किया है कि "इस पुस्तक का शोधन अति प्राचीन पाँच प्रतियों के आधार से किया गया है, जो कि स्थान कबीर चौरा के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। उनमें एक प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और अनेक दफा की जीर्णोद्धारित (मरम्मत) की हुई मालूम पड़ती है।"[८] श्री हंसदास शास्त्री द्वारा सम्पादित 'कबीर बीजक' में यद्यपि २८ प्रतियों को आधार बनाया गया

---

१. बाँकीपुर, पटना, सन् १९२६।
२. मानसर, दाऊदपुर, छपरा सन् १९३७।
३. बम्बई, संवत् १९६३।
४. प्रकाशक, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९२८।
५. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से संवत् १९६१ में प्रकाशित।
६. कबीर-ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ २७ से ३० तक।
७. बीजक मूल, भूमिका, पृ० ५।
८. बीजक, परिशिष्ट, पृ० ५०।

है, तथापि इसका "संपादन एक व्यक्ति ने नहीं किया, जिसका अपना निजी दृष्टिकोण ही प्रधान रूप से व्याप्त हो, वरन् तीन व्यक्तियों ने किया है और वे तीनों ही कबीर-पन्थी हैं। श्री हंसदास शास्त्री एक कबीरपन्थी मठ के अध्यक्ष हैं, श्री उदयशंकर शास्त्री कबीरपन्थी महन्त श्री गुरुशरणदास जी के पुत्र हैं और श्री महावीरप्रसाद जी कबीर-पन्थ में दीक्षित हैं।"[1]

यद्यपि डॉ० पारसनाथ तिवारी ने बीजक के ३२ संस्करणों की सूची दी है, तथापि 'कबीर ग्रन्थावली' के सम्पादन में उनका अधिक उपयोग नहीं किया है अथवा उन्हें प्रामाणिक नहीं माना है। बीजक की परम्परा में ८४ रमैनियाँ मान्य हैं, किन्तु डॉ० तिवारी ने २०० पदों और ७४४ साखियों के अतिरिक्त केवल २० रमैनियों और एक चौंतीसी रमैनी को ही अपने संग्रह में स्थान दिया है, क्योंकि उनकी मान्यता है कि "सिद्धान्ततः केवल उन्हीं पंक्तियों को निश्चित रूप से प्रामाणिक स्वीकार किया जाना चाहिए, जो दा० बी० (दादू-पन्थी) या नि० बी० (निरंजनी-सम्प्रदाय) में समान रूप से मिलती हैं। कठिनाई का अनुमान इस बात से और लगाया जा सकता है कि बीजक की ८४ रमैनियों में ६० ऐसी निकल जाती हैं जिनकी एक भी पंक्ति किसी अन्य प्रति में नहीं मिलती, चार रमैनियाँ ऐसी हैं जिनकी केवल एक-एक पंक्ति दा० नि० में मिल जाती है, तीन रमैनियाँ ऐसी हैं जो केवल आंशिक रूप से दा० नि० में मिलती हैं। सम्पूर्ण रूप से मिलने वाली रमैनियों की संख्या केवल १६ है।'[2] इस प्रकार उन्होंने दादूपन्थी और निरंजनी-सम्प्रदाय की प्रतियों को ही अधिक प्रामाणिक माना है, 'बीजक' की परम्परा की उपेक्षा की है।

इधर डॉ० शुकदेव सिंह ने 'बीजक'[3] पर नया कार्य किया है। इसे साहित्यिक क्षेत्र में किया गया प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। उन्हें बीजक के सम्बन्ध में डॉ० तिवारी के निष्कर्ष मान्य नहीं हैं। उन्होंने 'कबीर-बीजक' की भूमिका में लिखा है कि "डॉ० तिवारी द्वारा सम्पादित पाठ में २०० पद, २० रमैनियाँ, १ चौंतीसी और ७४४ साखियाँ हैं। सहज ही इस निष्कर्ष के लिए पूरा अवसर है कि इसमें बीजक का उपयोग अंगी सामग्री के रूप में हुआ है, क्योंकि बीजक का महत्त्व ८४ रमैनियों (बीजक के सभी रूपों में), ११२ शब्दों (या ११३ से ११५), २९७ साखियों (या ३५३ से लेकर अधिक से अधिक ४४५) चांचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, कहरा, बसन्त तथा विप्रमतीसी की दृष्टि से है। बीजक की अपनी ग्रन्थन शैली है, अपनी परम्परा है और कबीर के पन्थ में सबसे अधिक मान्यता भी है। इस

१. कबीर बीजक, प्राक्कथन, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० २।

२. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २६६-६७।

३. कबीर बीजक, प्रस्तुतकर्त्ता, डॉ० शुकदेव सिंह, नीलाभ प्रकाशन—५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७२।

प्रकार जाने-अनजाने इस महत्त्वपूर्ण सम्पादन में नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' का ही पाठ-विज्ञान की महत्तर और श्रणपूर्ण भूमिका में सम्पादन हुआ है। कदाचित् इसीलिए इसका नाम भी 'कबीर-ग्रन्थावली' ही रखा गया है। अतः बीजक का महत्त्वपूर्ण सम्पादन अभी तक छूटा हुआ ही माना जाना चाहिए।"[1]

इस प्रकार कबीर वाणी के एक महत्त्वपूर्ण अंश के वैज्ञानिक पाठ के अभाव की पूर्ति का संकल्प लेकर प्रस्तुत संकलन तैयार किया गया है। बीजक के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण के लिए विद्वान् लेखक ने लगभग १२ हस्तलेखों और तीन दर्जन के आस-पास बीजक के मुद्रित संस्करणों का उपयोग किया है। इस कार्य में लेखक ने अत्यधिक श्रम करके विभिन्न मठों में संगृहीत सामग्री का भी उपयोग किया है। उन्हें रामरूप गोस्वामी के सहयोग से भगताही पाठ भी उपलब्ध हो गया। लेखक के मत से उपर्युक्त सभी पाठों में 'भगताही बीजक' ही सबसे प्रामाणिक है। अतः उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ भगताही बीजक को प्रमाण मानकर सम्पादित किया है।[2]

प्रस्तुत संस्करण का प्रयोजन

कबीर-साहित्य सम्बन्धी कार्यों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी वाणी पर मुख्यतः दो क्षेत्रों में कार्य हुआ है—एक साहित्यिक विद्वानों द्वारा, दूसरा कबीर-पन्थियों द्वारा। यद्यपि इसके अपवाद भी हैं। इनमें बाबू श्यामसुन्दरदास, डॉ० पारसनाथ तिवारी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त और डॉ० शुकदेव सिंह द्वारा पाठ-निर्धारण और प्रामाणिकता-सम्बन्धी किये गये कार्य अधिक वैज्ञानिक और सुसंगत हैं। किन्तु इनमें ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है जो कि कबीर के समग्र साहित्य को एक साथ उपलब्ध कराता हो। यदि 'ग्रंथावली' नाम से प्रकाशित ग्रन्थों में साखियों और पदों को महत्त्व दिया गया है तो 'बीजक' में रमैनियों की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध की गयी है। साहित्यिक विद्वानों द्वारा 'कबीर ग्रन्थावली' अपनाये जाने का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी के छात्रों का अध्ययन साखियों और पदों तक ही सीमित रह गया है। वे प्रायः रमैनी से अपरिचित ही रहे हैं, जब कि कबीर के विद्यार्थी के लिए रमैनी की जानकारी आवश्यक है। अतएव एक ऐसे ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता थी, जिसमें कबीर का सम्पूर्ण प्रामाणिक साहित्य विस्तृत व्याख्या के सहित उपलब्ध हो। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में किये प्रयत्न का परिणाम है।

कबीर का प्रमुख साहित्य तीन रूपों में विभक्त है—रमैनी, साखी और शब्द या पद। प्रायः यह माना जाता है कि रमैनी में जगत्, साखी में जीव और सबद में ब्रह्म सम्बन्धी विचार हैं। 'रमैनी' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—(i) जिसमें

---

१. कबीर बीजक, भूमिका—पृ० ३७-३८।
२. कबीर बीजक, भूमिका—पृष्ठ ६।

संसार में जीवों के रमण का विवेचन हुआ है, (ii) परमतत्त्व में रमण कराने वाली और (iii) एक छन्द-विशेष जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। रमैनी में मुख्य रूप से सृष्टि और जीव तथा जगत् की स्थिति पर विचार किया गया है। इसमें मुख्य रूप से चौपाई-दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है। कितनी चौपाइयों के बाद दोहा-छन्द रखा जाय, इसका कोई निश्चित क्रम नहीं है। मौ० दाऊद (चंदायन) के बाद कबीर हिन्दी के दूसरे कवि हैं, जिन्होंने 'रमैनी' में चौपाई-दोहा छन्द का विधान किया है। इसी पद्धति को आगे चलकर अन्य सूफी कवियों और तुलसी ने 'मानस' में अपनाया है। कबीर ने एक स्थान पर कहा है कि शब्द ही माया है। शब्द का तात्पर्य है—परावाक्। माया में जीव की प्रीति उपजी और उसने माया में रमण करने का निश्चय किया:—

अद्बुद रूप जाति की बानी।
उपजी प्रीति रमैंनी ठानी॥ (४।३)

'साखी' शब्द संस्कृत के 'साक्षी' का तद्भव है। साक्षी का अर्थ होता है—गवाह। 'गवाही' के लिए संस्कृत में 'साक्ष्य' शब्द है। साक्षी वह है जिसने स्वयं अपनी आँखों से तथ्य देखा हो। 'साक्ष्य' का अर्थ है—आँख से देखे हुए तथ्य का वर्णन। हिन्दी में 'साखी' शब्द 'साक्षी' और 'साक्ष्य' अर्थात् 'गवाह' और 'गवाही' दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

कबीर ने अपनी इन उक्तियों का शीर्षक 'साखी' इसलिए दिया है, क्योंकि उन्होंने इनमें वर्णित तथ्यों का स्वयं साक्षात्कार किया है। उन्होंने किसी दूसरे से सुनकर अथवा दूसरे ग्रन्थों में उपलब्ध बात नहीं कही है। 'साखी' शब्द को हम चाहें 'गवाह' के अर्थ में लें या 'गवाही' के अर्थ में, इससे भाव में कोई अन्तर नहीं आता। भाव केवल यही है कि स्वसंवेद्य, स्वानुभूत आध्यात्मिक तथ्यों अथवा ज्ञान का वर्णन जिसमें किया गया है, उसे 'साखी' कहते हैं।

कबीर ने 'सबद' का प्रयोग दो भावों को ध्यान में रखकर किया है—एक तो परमतत्त्व के अर्थ में और दूसरे पद के अर्थ में।

रमैनी, साखी और सबद के अतिरिक्त कबीर के नाम में कहरा, वसंत, बेलि, बिरहुली, चाचरि, हिंडोला, चौंतीसी, विप्रमतीसी आदि अन्य काव्य-रूपों में लिखा साहित्य भी पाया जाता है। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि स्वयं कबीर द्वारा लिपिबद्ध न किये जाने के कारण तथा कबीरपन्थी भक्तों की उदारता और कबीर के प्रति उनकी श्रद्धाभिव्यक्ति के कारण, कबीर के नाम से प्रचुर साहित्य एकत्र हो गया है। उसकी प्रामाणिकता पर विभिन्न विद्वानों द्वारा अद्यावधि जो अनेक श्रमसाध्य कार्य हुए है, वे भी अन्तिम सत्य तक पहुँचानेवाले नहीं हैं। प्रायः सभी

शोधकों और पाठालोचकों ने स्वीकार किया है कि कबीर का साहित्य यही है अथवा इतना ही है, इसे अंतिम सत्य के रूप में नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः कबीर-जैसे रमते साधुओं के सम्बन्ध में इस प्रकार का अन्तिम निर्णय लिया भी नहीं जा सकता। उन्होंने काव्य-रचना का कोई निश्चित संकल्प लेकर लिखना नहीं प्रारम्भ किया था। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य जैसी कोई वस्तु भी नहीं लिखी। अतएव प्रस्तुत संग्रह तैयार करते समय कबीर-साहित्य की प्रामाणिकता, रचना-क्रम, पाठ तथा भाषा सम्बन्धी अनेक समस्याएँ आयीं, क्योंकि इन सब पर विचार किये बिना उनकी व्याख्या करने का कोई अर्थ ही नहीं होता। इस संग्रह में प्रयत्न किया गया है कि कबीर की लगभग सभी प्रामाणिक एवं मान्य रचनाएँ स्वीकृत पाठ के साथ सम्मिलित कर ली जायँ। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, रमैनी, पद और साखी कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं। अतएव हमने प्रस्तुत संस्करण में इन्हीं तीनों को स्थान दिया है।

क्रम-निर्धारण

इस सम्बन्ध में पहली समस्या क्रम-निर्धारण की आयी। कबीर ने पहले रमैनी की रचना की या साखी अथवा शब्द की, इसका निर्णय सर्वथा असम्भव है। सम्भवतः कबीर ने किसी एक क्रम से इनकी रचना की भी नहीं होगी। वे समय-समय पर अपने विचार प्रकट करते रहे होंगे और उनके शिष्य अपनी सुविधानुसार उसे लिपिबद्ध कर लेते होंगे, इसीलिए कबीर-वाणी के जितने संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें रचनाओं के समान-क्रम का अभाव है। इस उलझन का संकेत करते हुए डॉ० पारसनाथ तिवारी ने लिखा है कि "दा १, दा २ तथा दा ३ में पहले साखियाँ आती हैं, तत्पश्चात् पद और रमैनियाँ। दा ४ में पहले पद आते हैं, तत्पश्चात् रमैनियाँ और अन्त में साखियाँ। नि० में साखियों के पश्चात् पहले रमैनियाँ आती हैं, तत्पश्चात् पद आते हैं। गु० में पहले पद आते हैं, तत्पश्चात् साखियाँ! 'बावन अखरी' की रमैनियाँ पदों के बीच में ही गौड़ी राग के अन्तर्गत आ जाती हैं। बीजक में पहले रमैनियाँ आती हैं, तत्पश्चात् पद और अंत में साखियाँ मिलती हैं।"[१] डॉ० तिवारी ने इन विभिन्न प्रकार के उपलब्ध-क्रमों का उल्लेख करते हुए अपने संग्रह में सर्वप्रथम पदों, तत्पश्चात् रमैनियों और अन्त में साखियों को स्थान दिया है। इसके पूर्व बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने संग्रह में सर्वप्रथम साखियों, तत्पश्चात् पदों और अन्त में रमैनियों को स्थान दिया था। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी बाबू साहब के क्रम को ही अपनाया है। प्रस्तुत संग्रह में रमैनियों को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि रमैनियों को कबीर की आदि-वाणी माना गया है। कबीरपन्थियों में 'बीजक' ही सर्वमान्य ग्रन्थ है, उसी का पाठ भी किया जाता है। 'बीजक' में भी रमैनियाँ पहले रखी गयी हैं। रमैनियों के बाद कबीर-पंथियों में 'पद' या 'सबद' का महत्व है। अतः दूसरा खण्ड 'शब्द' पर होगा, जो

---

१. कबीर ग्रंथावली, भूमिका पृ० २७४।

शीघ्र ही प्रकाशित होगा।' बीजक' में साखियों का स्थान तीसरा है। किन्तु लोकप्रियता, कबीर-दर्शन तथा काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से 'साखियों' का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः तीसरा खण्ड 'कबीर वाङ्मय : साखी' आप के समक्ष है।

बीजक में ८४ रमैनियाँ मान्य हैं। इनके परस्पर क्रम में बहुत थोड़ा अन्तर पाया जाता है। प्रायः रमैनियों का प्रारम्भ 'जीव रूप यक अंतर वासा' से हुआ है। वा० प्रति में इसे दूसरे स्थान पर रखा गया है और दूसरी रमैनी 'अंतर जोति सब्द एक नारी' को सर्वप्रथम रखा गया है। बलि० वाली प्रति में प्रथम तीन रमैनियों के चरण परस्पर इधर-उधर हो गये हैं। इसी प्रकार अन्य प्रतियों की २९ नं० की रमैनी, ब० ख० की प्रतियों में नं० ३१ पर आयी है। उनमें इसके स्थान पर जो रमैनी आयी है, वह अन्य प्रतियों में ३८ नं० पर रखी गयी है। इस प्रकार कुल मिलाकर चार-पाँच रमैनियों के क्रम में ही अन्तर है, अन्यथा सभी प्रतियों में लगभग समान क्रम अपनाया गया है। रमैनियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें एक व्यवस्थित विचार-धारा मिलती है। अतः विचारों की अविच्छिन्नता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत संग्रह के प्रथम खण्ड में रमैनियों का क्रम निर्धारित करके उन्हें प्रकरणों में विभक्त कर दिया गया है।

विभिन्न संस्करणों में साखियों की संख्या और क्रम में अत्यधिक अंतर मिलता है। कबीरपंथियों में मान्य 'बीजक' के ही भिन्न-भिन्न संस्करणों में साखियों की संख्या समान नहीं है, अपितु २९७ से लेकर ४४५ तक पहुँचा दी गई है। गोसाँई श्री भगवान साहब के 'मूल बीजक' में २९७ साखियाँ मिलती हैं,[1] किन्तु कबीर चौरा, वाराणसी से श्री लखनदास जी और श्री रामफलदास जी द्वारा प्रकाशित 'बीजक मूल' में ३५३ साखियाँ दी गई हैं। इसी प्रकार कबीर चौरा के पुस्तकालय में ही सुरक्षित पाँच प्रतियों के आधार पर श्री विचारदास शास्त्री द्वारा संपादित 'बीजक' में भी ३५३ साखियाँ ही उपलब्ध हैं।[2] डॉ० शुकदेव सिंह ने भी ३५३ साखियों को ही प्रामाणिक माना है।[3] इनके अतिरिक्त रीवाँ नरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह के कबीर साहब के बीजक, में यह संख्या बढ़कर ३६९ हो गई है[4] और कतिपय अन्य बीजकों में ४४५ तक पहुँच गई है। इससे प्रतीत होता है कि 'बीजक' परम्परा में २९७ से लेकर ४४५ साखियों तक ही मान्य रही हैं। इन साखियों का 'अंगों' में विभाजन भी नहीं किया गया है। सम्भवतः कबीर ने किसी निश्चित क्रम से, निश्चित संख्या में साखियों की रचना नहीं की होगी और न उनका 'अंगों' में विभाजन ही किया होगा, क्योंकि श्री 'गुरु ग्रंथ साहब'

---

१. देखिए—गोसाँई श्री भगवान साहब, मूल बीजक, स्वसंवेद कार्यालय, सीयाबाग, बड़ौदा।
२. ,, विचारदास शास्त्री—बीजक प्र० रामनरायन लाल, इलाहाबाद।
३. ,, डॉ० शुकदेव सिंह, कबीर बीजक, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद।
४. ,, विश्वनाथ सिंह—कबीर साहब का बीजक, बम्बई।

में भी उपलब्ध साखियाँ अंगों में विभाजित नहीं हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'संतकबीर' में 'श्री गुरुग्रंथ साहब' को ही प्रामाणिक आधार मानकर २४३ साखियाँ दी हैं और उनका अंगों में विभाजन भी नहीं किया है।

आश्चर्य का विषय यह है कि 'बीजक' में साखियों की संख्या कम देने वाले हनुमान दास, विचारदास तथा युगलानंद आदि कबीरपंथियों ने जब स्वतन्त्र रूप से साखियों का संपादन किया तो उनके द्वारा साखियों की संख्या बढ़ा ही दी गयी है, उनका अंगों में विभाजन भी किया गया है। उदाहरण के लिए श्रीहनुमानदास द्वारा दो खण्डों में संपादित 'साखी ग्रन्थ'[1] में २०१५ साखियाँ संगृहीत हैं जो ८३ अंगों में विभक्त हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में २३ अंगों में विभक्त ३०६ साखियाँ और दी गयी हैं। इसी प्रकार श्री युगलानंद के 'सत्य कबीर की साखी'[2] में ७५ अंगों में विभक्त २६०० साखियाँ संगृहीत हैं और श्री विचारदास के 'सद्गुरु कबीर साहब का साखी-ग्रन्थ'[3] में ८४ अंगों में विभक्त ३९५० साखियाँ एकत्र की गयी हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में 'प्रश्नोत्तर को अंग' के अन्तर्गत ७४ साखियाँ और जोड़ी गयी हैं।

इन दो परम्पराओं से भिन्न साखी-संग्रह की तीसरी परम्परा साहित्यकारों की है। इनमें मुख्य रूप से बाबू श्यामसुन्दरदास, डॉ० पारसनाथ तिवारी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि आते हैं। बाबू साहब ने उपलब्ध दो हस्तलिखित प्रतियों तथा ग्रन्थ साहब के आधार पर 'कबीर ग्रन्थावली' का संपादन किया था, जिसमें ४०३ पद तथा ५९ अंगों में विभक्त ८०९ साखियाँ संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त १९२ साखियाँ परिशिष्ट में दी गयी हैं। बाबू साहब द्वारा संपादित 'ग्रंथावली' का साहित्य-क्षेत्र में काफी प्रचार हुआ, क्योंकि कबीर पर उसे ही एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया। प्रत्येक स्तर पर उसी के अंश पाठ्यक्रम में भी रखे गये। बाबू साहब का ग्रन्थ संवत् १९८७ में प्रकाशित हुआ था। उसके लगभग बीस वर्षों बाद डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर के प्रामाणिक साहित्य की परिश्रमपूर्वक खोज करके 'कबीर ग्रन्थावली' नामक ग्रन्थ में २०० पदों तथा कतिपय रमैनियों के साथ ७४४ साखियों को संगृहीत किया। ये साखियाँ ३४ अंगों में विभक्त हैं। बाबू साहब ने केवल दो हस्तलिखित प्रतियों और 'ग्रन्थ साहब' के आधार पर संपादन किया था। उन्हें उक्त दोनों प्रतियाँ पश्चिमी क्षेत्र से प्राप्त हुई थीं, जिनकी भाषा में पंजाबीपन अधिक था। कबीर की भाषा में पंजाबीपन का आधिक्य बाबू साहब को भी खटका था। डॉ० तिवारी ने साखियों की संख्या, पाठ आदि के निर्धारण में १७ प्रतियों का उपयोग किया है। इनमें से पाँच प्रतियाँ दादूपंथी शाखा की, एक प्रति निरंजनी शाखा की, एक गुरुग्रंथ की, दो बीजक की, दो शब्दावलियों की, तीन साखियों की, एक

१. रावपुरा, बड़ौदा से प्रकाशित, प्रथम संस्करण, सन् १९५२।
२. लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, बम्बई से प्रकाशित।
३. प्र०, कबीर धर्मवर्धक कार्यालय, सीयाबाग, बड़ौदा।

'सर्वंगी' की, एक 'गुणगंजनामा' की और एक 'आचार्य सेन' की है। इनके तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उक्त संग्रह तैयार किया गया है। डॉ० तिवारी की मान्यता है कि "ये प्रतियाँ कबीर के नाम पर उपलब्ध प्रतियों के विपुल समुदाय का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर देती हैं अर्थात् कबीर की वाणी का पाठ जिन विभिन्न रूपों से होकर गुजरा है, उनके सम्बन्ध में जितना उक्त प्रतियाँ बता देती हैं, उसके बाहर जाने को प्रायः कुछ नहीं रह जाता है।"[1] डॉ० तिवारी ने पाठानुसंधान का यह कार्य डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में किया था। फिर भी डॉ० गुप्त को इस कार्य से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने संवत् १७६२ की बनवारीदास की परम्परा की प्रति को आधार मानकर 'कबीर ग्रंथावली' का पुनः संपादन किया। यह संस्करण लगभग बाबू श्यामसुन्दर दास जैसा है। इसमें संगृहीत पदों और साखियों की संख्या, क्रम, अंग-विभाजन, पाठ, भाषा आदि लगभग बाबू साहब की 'कबीर ग्रंथावली' के ही समान हैं, केवल एक साखी बढ़ गई है।

प्रस्तुत संस्करण तैयार करने में हमारा ध्यान मुख्य रूप से कबीर के पाठ-शुद्धीकरण पर केन्द्रित रहा है। यतः कबीर के नाम से उपलब्ध साखियों की संख्या भिन्न-भिन्न संस्करणों में भिन्न-भिन्न है और ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर कबीररचित साखियों की संख्या सुनिश्चित की जा सके और यतः कबीर ने स्वयं साखियों का विभाजन 'अंगों' में नहीं किया था। यह परवर्ती संपादकों और कबीर के पाठकों का कार्य है। अतः साखियों की संख्या, क्रम और अंग-विभाजन में प्रस्तुत संस्करण में बाबू साहब तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त की प्रतियों को आधार बनाया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण में ८०९ साखियाँ दी गयी हैं, जो ५९ अंगों में विभक्त हैं। ये साखियाँ मुख्यतः दोहा छन्द में लिखी गयी हैं, केवल ६।७ सोरठा छन्द हैं। इनमें चार-पाँच साखियाँ ऐसी हैं जिनकी पुनरावृत्ति हुई है। उनका यथास्थान निर्देश कर दिया गया है।

पाठ-निर्धारण

कबीर की रचनाओं के सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या पाठ-निर्धारण की है, क्योंकि प्रथमतः कबीर ने उनको स्वयं लिपिबद्ध नहीं किया था, दूसरे उन्हें छन्दशास्त्र का भी ज्ञान नहीं था। अतएव उनकी रचनाओं में भाषा-वैविध्य के साथ ही छन्द-दोष भी पाया जाता है। वस्तुतः कबीर की वाणी का संकलन उनके शिष्यों द्वारा उन्हीं के समय से प्रारम्भ हो गया था। ये शिष्य विभिन्न प्रान्तों के और अनेक बोलियों तथा भाषाओं के क्षेत्र के थे। वे प्रायः कम पढ़े-लिखे भी थे। अतएव उनके द्वारा कण्ठस्थ छन्दों को जब लिपिबद्ध किया गया तो स्वभावतः उनके संस्कारवश भाषा-भेद तथा छन्द-दोष आ गये। इसके अतिरिक्त स्वयं कबीर किसी एक भाषा के पण्डित नहीं थे। वे भ्रमणशील

---

१. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका—पृ० ५३।

और बहुश्रुत व्यक्ति थे। राजस्थान, पंजाब और गुजरात से होकर बंगाल तक फैली कबीर की गद्दियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि उन्होंने लगभग पूरे उत्तर भारत की यात्रा की थी। इस अवसर पर वे विभिन्न भाषा-भाषी व्यक्तियों के सम्पर्क में आते रहे होंगे। अतएव उनकी वाणी में अनेक बोलियों तथा भाषाओं के शब्दों का सम्मिश्रण स्वाभाविक ही कहा जायगा।

वर्तमान समय में कबीर का जो साहित्य उपलब्ध है, वह प्रायः तीन स्रोतों से प्राप्त हुआ है—राजस्थानी परम्परा, पंजाबी परम्परा और पूर्वी परम्परा। बाबू श्यामसुन्दर दास की 'कबीर ग्रन्थावली' की भाषा में पंजाबीपन अधिक है। इसका कारण यह है कि बाबू साहब ने जिन दो हस्तलिखित प्रतियों तथा ग्रंथ साहब के आधार पर ग्रन्थ का सम्पादन किया है, वे पंजाबी प्रभावापन्न थीं। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "ग्रन्थ साहिब में कबीरदास जी की वाणी का जो संग्रह किया है, उसमें जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कारण तो स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है, पर मूल भाग में अथवा दोनों हस्तलिखित प्रतियों में जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कुछ कारण समझ में नहीं आता। या तो यह लिपिकर्त्ता की कृपा का फल है अथवा पंजाबी साधुओं की संगति का प्रभाव है।"[१] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बाबू साहब ने जिन प्रतियों के आधार पर पाठ निर्धारित किया है, उनकी भाषा को वे प्रामाणिक या कबीर-कृत नहीं मानते। किन्तु अन्य प्रतियों के अभाव में उन्हें विवश होकर उक्त पाठ देना पड़ा है।

भाषा

विगत वर्षों में कबीर की भाषा पर विभिन्न विद्वानों द्वारा जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनसे प्रायः दो प्रकार के निष्कर्ष सामने आये हैं। कुछ लोगों ने कबीर के नाथपन्थी और मुस्लिम संस्कार के आधार पर उन्हें खड़ी बोली के उस रूप का कवि माना है जो अमीर खुसरो, वली, दक्खिनी हिन्दी तथा राजस्थानी कवियों की रचनाओं में पायी जाती है. दूसरी ओर अन्य लोग कबीर के काशीवासी होने के कारण उनकी भाषा को भोजपुरी या पूर्वी मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डॉ० उदयनारायण तिवारी कबीर को भोजपुरी का कवि मानने के पक्ष में हैं।[२] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है कि "साखियों की भाषा में खड़ी का जितना अधिक व्यवहार मिलता है, उतना सबदी में नहीं। उसमें ब्रजी के शब्द कुछ अधिक मिलते हैं। रमैनी में पूर्वी रूप बराबर दिखाई देते हैं; जैसे—कोई-कोई या कोऊ-कोऊ के स्थान पर केऊ-केऊ। इस प्रकार विचार करने से यह कहा जा सकता है कि

---

१. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४-५।
२. कबीर बीजक, डॉ० शुकदेव सिंह, भूमिका, पृ० ४३-४४।

कबीर की तीन प्रकार की कृतियों में स्थूल रूप से हिन्दी की तीन उपभाषाओं की स्पष्ट और निश्चित प्रवृत्ति मिल जाती है।"[1] इस प्रकार मिश्र जी 'साखी में खड़ी, सबदी में ब्रजी और रमैनी में अवधी या पूर्वी' रूप देखकर मात्रा-भेद से उनकी रचनाओं को तीन उपभाषा या बोली वर्गों में विभक्त करने के पक्ष में प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः कबीर की भाषा के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय टेढ़ी खीर है। अनुमान के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि यतः कबीर के जीवन का अधिकांश काशी में बीता, उनके भाषागत संस्कार अध्ययन की अपेक्षा श्रवण से बने, उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्रा की तथा अनेक प्रकार के साधु-सन्तों के सम्पर्क में आये, अतः उनकी भाषा का मूल आधार 'पूर्वी' रहा होगा, जिसमें अन्य बोलियों और भाषाओं के लोक-प्रचलित शब्द अनायास ही आ गये होंगे।

प्रस्तुत संग्रह के पाठ-निर्धारण में उपर्युक्त भाषा-नीति को ही आधार बनाया गया है। इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि पाठ में छन्द-दोष न्यूनातिन्यून रहे तथा अर्थ में भी संगति बनी रहे। रमैनी के जो विभिन्न संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें भाषा-सम्बन्धी विशेष अन्तर नहीं पाया जाता है। लगभग सभी 'बीजकों' की भाषा एक क्षेत्र की है। व० ख० के पाठ लगभग एक-जैसे हैं. वलि० के पाठ में भोजपुरी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसमें 'राम-नाम, के स्थान पर प्रायः 'सत्यनाम' कर दिया गया है। छ० प्रति में छन्द-दोष अधिक विद्यमान हैं। बा०, बं० प्रतियों में शब्दों के संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है। रमैनी के पाठालोचन में डॉ० शुकदेव सिंह का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उन्होंने भी भगताही पाठ को अधिक प्रामाणिक एवं प्राचीन मानकर पाठ स्थिर करते समय उसी को आधार बनाया है। हमारी दृष्टि में उक्त पाठ में भी कई त्रुटियाँ दिखाई पड़ीं। अतएव उसको भी अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। कुछ उदाहरणों से हमारी बात स्पष्ट हो जायगी :—

डॉ० शुकदेव सिंह की प्रति का पाठ — प्रस्तुत पाठ

१. तिनि पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा—तिन्ह पुनि रचल पिण्ड ब्रह्मण्डा। (२।५)
२. ई ले ऊ व्यवहार— ई लयऊ व्यवहार। (दूसरी रमैनी की साखी)
३. धर्ती अकास दुई गाड़ खोदाया—महि अकास दुइ गाड़ खँदाया। (२८।२)
४. चाँद सूर्य दुई नारी बनाया—चाँद सुरुज दुइ नरी बनाया। (२८।२)
५. सहस्र तार ले पूरन पूरी—सहसतार लै पूरिन पूरी। (२८।३)
६. कहहि कबीर कर्म ते जोरी—कहहि कबीर करम सों जोरी। (२८।४)
७. छठये मांह सभ गैल बिगोई—छठये मा सभ गैल बिगोई। (३७।३)

---

१. हिन्दी-साहित्य का अतीत (भाग१), पृ० १५२।

८. वैसे शब्द बतावे जीव को—सब्द बतावै जीव को। (३७ वीं साखी)

९. करमत सो जग भो औतरिया—कर्म तो सो जो भव औतरिया,
करमत सो निजाम को धरिया। कर्म तो सो जो निमाज को धरिया।
(३९।३)

१०. हमरे कहल दुष्ट बहु भाई—हमरहि कहै छूटिहौ भाई। (४२।६)

११. हबीब औ नबी के कामा—नबी हबीबी के जो कामा। (४८।५)

१२. दिया नखत तन कीन्ह पयाना—दिया खताना किया पयाना।
(६६—साखी)

१३. सुख को ले सन सपनेहु पावै—सुख को लेस न सपनेहु पावे। (८४।५)

इसी प्रकार डॉ० शुकदेव सिंह की प्रति में ६१ वीं रमैनी की दूसरी पंक्ति और ७५ वीं रमैनी की दूसरी पंक्ति छूट गयी। प्रस्तुत संस्करण में इस प्रकार की त्रुटियों से सावधान रहते हुए, अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध पाठ देने की चेष्टा की गयी हैं।

साखियों और पदों में पंजाबी अथवा राजस्थानी के अधिक प्रयोग असंगत प्रतीत होते हैं। यह कबीर की स्वाभाविक भाषा नहीं हो सकती। अतएव इनके पाठ-निर्धारण में प्रयत्न किया गया है कि जहाँ तक सम्भव हो, रमैनियों के समान इनकी भाषा में भी एकरूपता लायी जाय और कबीर-वाणी के मूल अथवा निकट से निकट पहुँचा जा सके।

पाठ-निर्धारण में भाषा के अतिरिक्त छन्द तथा अर्थ को भी ध्यान में रखा गया है। बाबू साहब तथा डॉ० गुप्त की संस्करण में साखियों की भाषा में जो पंजाबीपन का आधिक्य है, वह निश्चित रूप से परवर्ती लोगों की देन है। इस दृष्टि से डॉ० तिवारी का पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त बाबू साहब के पाठ में कतिपय ऐसी साखियाँ हैं जिनमें एक-दो अक्षर इधर या उधर जुड़ गए हैं, अथवा हस्तलिखित प्रतियों के पढ़ने में भूल हो जाने से त्रुटि रह गई है। इससे पाठ नितान्त अशुद्ध हो गया है और अर्थ करने में भ्रान्तियाँ बढ़ी हैं। आश्चर्य यह है कि वैज्ञानिक पाठालोचक डॉ० गुप्त ने भी ऐसे दोषों पर ध्यान नहीं दिया और लगभग वही भ्रष्ट पाठ स्वीकार कर लिया जो बाबू साहब की प्रति में विवशतावश आ गया था। ऐसे कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

ना० प्र० का पाठ	प्रस्तुत पाठ
नैनाँ अंतरि आँचरू	नैनाँ अँतरि आव तूँ। (३।३३)
भेला पाया श्रम सों	भेला पाया सरप का। (३।४३)
कबीर देख्या एक अंग	कबीर देखा इक अगम। (५।३८)
सालै चिता सनेह	सालै चित्त सनेह। (६।१)
ओ अगाध एका कहैं	ओ अगाध ए का कहैं। (९।१)

सुरति ढीकुली ले जल्यौ	सुरति ढीकुली लेज ली। (१०।२)
दो जग तौ हम अंगिया	दोजख तौ हम अंगिया। (११।७)
संकल हो तैं सब लहै	साँकर हू तें सबल है। (१६।२५)
काँ सिकड़ू बासुत कलित	काँसि कुडुंबा सुत कलित। (१७।२२)
नाँ सुपनै तरगंम	नाँ सुपिनंतर गंम। (३१।४)
सतगुण सी गणिनँहि	सर गुण सींगणि नाँहि। (४०।५)
हीरावण जिया	हीरा बनजिया। (४५।२८)
नाँ तूँ वड़ी न	नाँ तुमरी नाँ बेलि। (५८।१)

भावार्थबोधिनी व्याख्या

प्रस्तुत कार्य का विशेष प्रयोजन कबीर-साहित्य की एक ऐसी प्रामाणिक एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करना रहा है, जो कबीर की साधना और सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के साथ उसके साहित्यिक वैशिष्ट्य को भी उद्घाटित कर सके। आधुनिक विद्वान् टीका-व्याख्या लिखना अधिक सम्मानजनक नहीं मानते। प्रायः मूल कृति के अध्ययन के बिना ही बड़े-बड़े मोटे समीक्षात्मक ग्रन्थ तैयार कर दिये जाते हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि आज के छात्र कवि की रचना से अपरिचित ही रह जाते हैं। आलोचनात्मक ग्रन्थों के अध्ययन से तलोपरिक ज्ञानोपार्जन द्वारा ही उन्हें सन्तोष करना पड़ता है। संस्कृत में टीका-भाष्य आदि लिखने की लम्बी परम्परा मिलती है और अनेक टीकाकार या भाष्यकार मूल लेखक से भी अधिक ख्यातिलब्ध हो गये हैं। हिन्दी में लाला भगवानदीन सदृश कुछ विद्वानों ने ही इस दिशा में रुचि ली।

कबीर का साहित्य सीधा-सरल नहीं है। उसमें एक साधक-चित्त की अनुभूति की गहराई है। कवि ने जिस अनिर्वचनीय परमतत्त्व को वाणी का विषय बनाया है, उसकी अभिव्यक्ति अभिधा द्वारा सम्भव नहीं। अतः उसने प्रतीकों का सहारा लिया है अथवा ध्वनि या व्यञ्जना के द्वारा उस परमानन्द का संकेत किया है। इसीलिए उनकी वाणी प्रायः अटपटी या उल्टी लगती है। उनके काव्य में निहित प्रतीकों या अन्यार्थ को समझे बिना, भावों की गहराई तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त कबीर के पहले नाथ-योगियों, बौद्ध सिद्धों तथा अन्य साधना-सम्प्रदायों की लम्बी परम्परा थी। अनेक पारिभाषिक शब्द इन सम्प्रदायों में परम्परा से प्रयुक्त होते चले आ रहे थे। कबीर ने अपनी बात स्पष्ट करने के लिए अनेक शब्दों को ग्रहण किया है। किन्तु यहाँ उनका अर्थ ठीक वही नहीं रह गया है, जो परम्परा से मान्य है। कबीर ने उन्हे नयी अर्थवत्ता से भास्वर कर दिया है। अतएव कबीर को समझने के लिए विशिष्ट शब्दों की परम्परा और पृष्ठभूमि से अवगत होना आवश्यक है।

कबीर-वाणी पर अर्थ या व्याख्या की दृष्टि से दो क्षेत्रों में कार्य हुए हैं। 'बीजक' अथवा रमैनियों की टीका प्रायः कबीरपन्थी साधुओं द्वारा की गयी है और साखियों तथा पदों की व्याख्या साहित्यिक विद्वानों द्वारा। ये टीकाएँ प्रायः एकांगी प्रतीत होती हैं। कबीरपन्थी साधु काव्य-गुणों से अपरिचित रहे ही हैं, पूर्वग्रह अथवा पन्थाग्रह से भी ग्रस्त रहे हैं। फलतः उनके द्वारा लिखी गयी टीकाएँ साहित्य के विद्यार्थी के लिए अनुपयोगी हैं। अभी तक हमारे देखने में जो टीकाएँ आयीं, वे सन्तोषजनक नहीं प्रतीत हुई। कहीं-कहीं तो एक ही रमैनी की दो-दो, तीन-तीन विचारों के आधार पर व्याख्या लिखी गयी है, जिनमें पूर्वापर सामञ्जस्य नहीं दिखलाई देता। इसी प्रकार साखी आदि की व्याख्या में भी बहुत असमञ्जसता दिखाई पड़ी। कबीर की वाणी की सर्व-सम्मत व्याख्या तो प्रायः सम्भव नहीं है, किन्तु उनकी वाणी सही परिप्रेक्ष्य में समझी जा सके, इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु यह प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत अर्थ करने में यह दृष्टि रही है कि पूर्वापर सामञ्जस्य बना रहे और कबीर को साधक और कवि के रूप में वास्तविक सन्दर्भ में समझा जा सके। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए 'कबीर-वाङ्मय' की सुविस्तृत भावार्थबोधनी व्याख्या एवं उनके साहित्य, पन्थ, दर्शन और साधना की प्रामाणिक समीक्षा की योजना बनी। प्रस्तुत ग्रंथ इसी विशाल एवं महत्वपूर्ण योजना का अंग है। इसका प्रथम खण्ड 'रमैनी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत तीसरे खण्ड में 'साखियों' की व्याख्या दी गयी है। दूसरा खण्ड 'सबद या पद' से सम्बद्ध होगा, जो शीघ्र ही प्रकाशित किया जायगा। चौथे और पाँचवे खण्ड में क्रमशः कबीर की जीवनी, साहित्य, दार्शनिक, सिद्धान्त और साधना सम्बंधी विवेचन रहेगा और छठा खण्ड 'कबीर कोश, का होगा। इस ग्रन्थ में आत्मा शब्द सर्वत्र पुलिंग में प्रयुक्त हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संग्रह-सम्पादन एवं लेखन में जिन कृतियों का सहारा लिया गया है, उनके लेखकों के प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। विश्वविद्यालय प्रकाशन के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के हम विशेश रूप से अनुगृहीत हैं, जिन्होंने कागज के संकट एवं अभाव को समस्या का समाधान करते हुए बड़ी लगन एवं तत्परता से 'कबीर वाङ्मय' को प्रकाशित करने की उदारता दिखायी है।

सितम्बर, १९७६

जयदेव सिंह
वासुदेव सिंह

साखी

(१) गुरुदेव को अंग

सतगुरु सवाँ न[1] को सगा, सोधी सइँ न दाति।
हरिजी सवाँ न[2] को हितू, हरिजन सइँ न जाति[3] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सगा = सं० स्वक (यहाँ 'क' स्वार्थे है) अपना। सवां = समान, सोधी= शुद्धि। दाति = दान 'दाति' शुद्ध संस्कृत शब्द 'दान' के अर्थ में वैदिक काल से चला आ रहा है। देखिए—हव्यदाति = हव्य का दान। सइँ = समान।

व्याख्या—सद्गुरु के समान कोई सगा या अपना नहीं है। शुद्धि (हृदय की) के समान कोई दान नहीं है। सद्गुरु ही हृदय की शुद्धि करता है। यही उसका सबसे बड़ा दान है। इस शुद्धि के समान दूसरा कोई दान नहीं हो सकता। सद्गुरु अपनी दृष्टि द्वारा अथवा वचन द्वारा शिष्य में ऐसे मानस-तरंग उत्पन्न करता है जो उसकी नाड़ियों में प्रवाहित होते हुए उसके रक्त और चित्त दोनों का शोधन करते हैं। कबीर के कहने का भाव यह है कि इस शुद्धि से बढ़कर कोई दूसरा दान नहीं है।

हरि के समान कोई हित करनेवाला नहीं है और हरिसेवक के समान कोई जाति नहीं है। कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ जाति नहीं है, जो प्रभु का भक्त है, उसी की जाति सर्वश्रेष्ठ है।

*** बलिहारी गुरु आपकी, घरी घरी सौ बार।[4]**
मानुष तैं देवता किया, करत न लागी बार ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बार = विलम्ब, दफा या मर्तबा, द्वार। बलिहारी = न्यौछावर, 'बलि' शब्द 'देय' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु विशेषतः 'देवताओं के प्रति जो दिया जाय'—इस

---

१. ना० प्र०–सवाँन। २. ना० प्र०–सवाँन।

३. [अ] सतगुरु सम को है सगा, साधू सम को दात।
हरि समान को है हितू, हरिजन सम को जात ॥ ३ ॥—सतगुरु को अंग–विचारदास

[आ] हनुमान दासजी की प्रति (सतगुरु का अंग ॥ ३।१) में भी यही पाठ है।

[इ] कुछ ग्रन्थों में सभी दोहों के प्रारम्भ में 'कबीर' शब्द लगा मिलता है।

४. ना० प्र० का पाठ—
बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौं हाड़ी कै बार। जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥ २ ॥

* गुरु ग्रंथसाहब में यह साखी नानक देव के नाम से मिलती है—पाठ इस प्रकार है—
बलिहारी गुरु आपणे दिउहाड़ी सदबार। जिनि माणस ते देवते कीए करत न लागी बार ॥ १ ॥
—मिशन संस्करण, पृ० ४६२।

अर्थ में 'बलि' का प्रयोग अधिक देखने में आता है। 'बलि' के साथ 'हृ' धातु का प्रयोग संस्कृत में भी मिलता है। इसका अर्थ होता है—ले जाना। 'बलिहारी' शब्द का संस्कृत में अर्थ होता है—बलि को ले जानेवाला, बलि को देनेवाला। हिन्दी में यह शब्द भाववाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ होता है—बलि देने का भाव अर्थात् उत्सर्ग।

व्याख्या—मैं अपने गुरु पर घड़ी-घड़ी सैकड़ों बार न्यौछावर जाता हूँ जिसने हमको मनुष्य से दिव्य कर दिया और जिसको ऐसा करने में विलम्ब न लगा।

इस साखी की प्रथम पँक्ति का एक अन्य पाठ अधिकांश प्रतियों में इस प्रकार है—'बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौहाड़ी कै बार।' इसमें 'द्यौहाड़ी' शब्द ही अधिक दुर्बोध है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'द्यौहाड़ी' का अर्थ 'दिवस' किया है। किन्तु यह अर्थ किस आधार पर लिया गया है, इसको बतलाने की उन्होंने कृपा नहीं की है।

'द्यौहाड़ी' शब्द 'द्योहर' का विकृत रूप है। द्योहर>देवघर>देवगृह का तद्भव है। इसका अर्थ है-देवालय। उसके साथ 'बार' का अर्थ होगा—द्वार। इस प्रकार 'साखी' का भाव यह होगा कि मैं अपने उस गुरु पर न्यौछावर जाता हूँ, जो कि देवालय का द्वार है अर्थात् जिसके माध्यम से मैं देव का साक्षात्कार कर सकता हूँ। 'द्यौहाड़ी कै बार' अर्थात् 'देवगृह का द्वार' गुरु का समानाधिकरण है। 'साखी' की दूसरी पंक्ति में अर्थ-भेद नहीं है।

ना० प्र० स० की प्रति में 'द्यौं हाड़ी कै बार' पाठ है। इसका अर्थ होगा कि मैं कितनी ही बार या दफा हड्डी तक समर्पित कर दूँ तो भी उऋण नहीं हो सकता।

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार[1]।
लोचन अनँत उघारिया[2], अनँत दिखावनहार[3] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अनँत = अपार, असीम, जिसका कोई आदि-अंत नहीं है अर्थात् काल से परे। उपगार = उपकार। लोचन = दृष्टि। उघारिया = खोलकर। दिखावनहार = दिखलानेवाला।

व्याख्या—सद्गुरु की महिमा अपार है। उसका उपकार असीम है। उसने अनँत दृष्टि खोलकर, उस प्रभु को, जिसका कोई आदि-अंत नहीं है अर्थात् जो काल से परे है, दिखलाने की कृपा की है।

'अनँत दृष्टि' के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) अनँत की दृष्टि। (२) वह दृष्टि जिसका अन्त नहीं अर्थात् जिसमें घट-बढ़ नहीं होती। ये दोनों अर्थ यहाँ लग सकते हैं।

---

१. हनु०, वि०–उपकार। २. ना० प्र०–उघाड़िया। ३. ना० प्र०–दिखावणहार।

राम नाम कै पटंतरे, देबे कौं कुछ नाहिं।
क्या[1] लै गुरु संतोषिए,[2] हौंस[3] रही मन माँहि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पटंतरै = बराबरी। देवेकौं—देवेको = देने के लिए, देने योग्य। हौंस = हौसला, उत्साह, उमंग। क्या लै = (मुहाविरा) किस वस्तु से।

व्याख्या—गुरु ने मुझे राम नाम दिया है। उसके बराबर बदले में संसार में देने को कुछ नहीं है। तो फिर मैं गुरु को क्या देकर सन्तुष्ट करूँ ? कुछ देने की अभिलाषा मन के भीतर ही पिहित (बंद) रह जाती है।

भाव यह है कि गुरु ने मुझे राम नाम का ऐसा दान दिया है कि मैं उसके अनुरूप कोई दक्षिणा देने में असमर्थ हूँ।

सतगुरु कै[4] सदकै करूँ[5], दिल अपनीं[6] का साछ[7] (साँच)।
कलिजुग हम सौं[8] लड़ि पड़ा,[9] मुहकम मेरा बाछ[10] (बाँच) ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सदकै = (अ०) न्यौछावर। साछ = साक्ष्य। मुहकम = (अ०) दृढ़, मजबूत, टिकाऊ। बाछ = वांछा, आकांक्षा, (बाँच) = बचा हुआ।

व्याख्या—अपने दिल के साक्ष्य से अर्थात् सच्चे हृदय से मैं सद्गुरु के चरणों में अपने को न्यौछावर करता हूँ। कलियुग मुझे विचलित करने के लिए लड़ पड़ा। किन्तु सद्गुरु की कृपा से मेरी वांछा अर्थात् प्रभु-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा दृढ़ है। वह मेरा कुछ न बिगाड़ सकेगा।

यदि 'दिल अपनी का साँच' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—'मैं अपने सच्चे दिल से सद्गुरु की न्यौछावर करता हूँ। दूसरी पंक्ति में 'मुहकम' अर्थात् दृढ़ विशेषण शब्द है; किन्तु यदि 'मुहकम मेरा बाँच' पाठ लिया जाय तो 'मुहकम' का प्रयोग विशेष्य के रूप में माना जायगा तब अर्थ होगा कि मेरी दृढ़ता बची हुई है अर्थात् कलियुग के प्रहार से भी मैं अपने पथ से नहीं डिग सकता।

सतगुरु शब्द कमान ले, बाहन लागे तीर।
एक जु बाहा प्रीति सौं, भीतर बिधा शरीर ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कमान = धनुष। बाहन = फेंकना। बाहा = चलाया।

व्याख्या—सद्गुरु ने शब्दरूपी धनुष लेकर आत्म-ज्ञानरूपी बाण चलाया। एक तीर जो उसने प्रेम से चलाया, वह मेरे शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर बिंध गया।

१. हनु०—कह। २. तिवारी-संतोखिए। ३. हनु.—हवस। ४. हनु०—से। ५. तिवारी, हनु०—किया। ६. ना० प्र०—अपणीं, हनु०—अपने को साँच। ७. तिवारी—साँच। ८. ना० प्र०—स्यूँ। ९. ना० प्र०—पड्या। १०. तिवारी, हनु०—बाँच।

११. सतगुरु लई कमाँण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर ॥ ६ ॥

ना० प्र० स० की प्रति में पाठ है—सतगुरु लई कमाँण करि! यहाँ 'करि' 'कर' का सप्तमी हैं, जिसका अर्थ है—कर में, हाथ में। इस प्रकार का प्रयोग प्राचीन हिन्दी में प्रायः मिलता है।

अलंकार—रूपक

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं [1]मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सूरिवाँ = सूरमा, शूर। सबद = शब्दरूपी शक्तिपात (शक्तिपात तीन प्रकार से होता है—स्पर्श, दृष्टि और शब्द से। यहाँ भाव है कि गुरु ने शब्द का शक्तिपात किया)। बाह्या = फेंका। भैं = भर में। छेक = छेद।

व्याख्या—सद्‌गुरु सच्चा शूर है। उसने ऐसा शब्द फेंककर मारा कि वह लगते-भर में ही मेरे भीतर प्रविष्ट कर गया और कलेजे को छेदकर पार कर गया अर्थात् उसके लगते मात्र ही मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ गया।

कहीं-कहीं पाठ है 'भय मिटि गया'। इसका अर्थ होगा कि शब्दरूपी वाण लगते ही मेरा भय मिट गया।

यदि 'भ्वैं या भुइँ' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा कि शब्द-बाण के लगते ही मैं भूमि में मिल गया, धराशायी हो गया। परन्तु इस पाठ में 'मिलि गया' का कर्त्ता 'मैं' अलग से लगाना होगा। ऊपरवाले पाठ में 'मिलि गया' का कर्त्ता उसके पूर्व प्रयुक्त 'सबद' है।

सतगुरु मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी[2] मूठि।
अंगि उघारै[3] लागिया, गई [4]दवा सूँ फूँटि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सूधी मूठि = सीधी मूठ, सीधी मुट्ठी में पकड़कर अर्थात् ठीक लक्ष्य करके। दवा = दावाग्नि। सूँ = समान, तरह। उघारै = खुले हुए।

व्याख्या—सद्‌गुरु ने सीधा लक्ष्य करके पूरी शक्ति से शब्द-बाण मारा। वह मेरे (शिष्य के) नंगे अंग पर लग गया अर्थात् आर-पार हो गया और मेरे भीतर दावाग्नि जैसी फूट पड़ी।

भाव यह है कि जैसे कवचरहित नंगे अंग पर बाण लगने से वह आर पार हो जाता है। उसका निशाना चूकता नहीं, वैसे ही सद्‌गुरु का शब्द-बाण मेरे आर-पार हो गया अर्थात् मेरे ऊपर उसका पूर्णतः प्रभाव पड़ गया। और मेरे भीतर परमब्रह्म के साक्षात्कार के लिए बिरह की आग फूट निकली।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

---

१. गुप्त, तिवारी-भुइं, हनु०। भय मिटि। विचार०—भय मिटि, युगला० भय मिटि।
२. वि० यु०—धीरी। ३. ना० प्र०—उघाड़ै। ४. हनु०, यु०—दुवांसो, तिवारी—दवा सौं।

हँसै न बोलै उन्मनी, चंचल [1]मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिधा, [2]सतगुरु के हथियार ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—उन्मनी = (i) जहाँ प्राण और मन एक हो जाते हैं। मन स्थिर हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार की अवस्था। (ii) मन को गति समाप्त हो जाती है। उसका संकल्प विकल्पात्मक स्वभाव बदल जाता है। चंचल=(प्र० अ०) मन। मेल्ह्या = (मेल्हना क्रिया) = बेचैन करना।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि सद्गुरु का शब्द-बाण इस प्रकार भीतर बिंध गया कि उसने चंचल मन को मार डाला अर्थात् अमनस्क कर दिया ('मन को मारना' एक अवस्था है जिसमें संकल्प-विकल्पात्मक मन की स्वाभाविक चंचलता समाप्त हो जाती है और मन में स्थैर्य-भाव आ जाता है।) और उन्मनी स्थिति प्राप्त हो गयी। परिणाम-स्वरूप वह न हँसता है, न बोलता है। यहाँ 'हँसै न बोलै' लाक्षणिक प्रयोग है। इसका भाव यह है कि मन का स्वाभाविक व्यापार समाप्त हो जाता है और वह एक विचित्र शान्ति का अनुभव करता है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

इसमें व्यञ्जना यह है कि वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जिसका वर्णन वह शब्दों में नहीं कर सकता।

टिप्पणी—उन्मनी—

उन्मनी और मनोन्मनी पर्यायवाची शब्द हैं। इस स्थिति का 'हठयोग प्रदीपिका' में इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते। यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी। (२।४२)

अर्थात् जब प्राणवायु का मध्यनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में सम्यक् रूप से संचार होने लग जाता है, तब मानव का संकल्प—विकल्पात्मक मन, जो स्वभावतः चंचल है, स्थिर हो जाता है। मन के इस सुस्थिर भाव को मनोन्मनी या उन्मनी अवस्था कहते हैं।

उन्मनी अवस्था में तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। तत्त्व का साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता, जब तक संकल्प—विकल्पात्मक मन की चंचलता समाप्त नहीं हो जाती। यह ऐसी स्थिति है जहाँ मन का स्वाभाविक कार्य समाप्त हो जाता है। इसलिए मन के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए इसे 'अमनस्क अवस्था' कहते हैं और इस अवस्था में साक्षात्कार की जो नयी स्थिति प्राप्त होती है, उसे 'उन्मनी' कहते हैं। यह मन के ऊपर की स्थिति है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

---

१. हनु० मेला। २. युगला० बिंधा।

गूँगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।
[१]पाऊँ तैं [२]पंगुल भया, सतगुरु[३] मारा बान[४] ॥ १० ॥

शब्दार्थ—पाऊँ = पैर। तैं = से। पंगुल = लँगड़ा।

व्याख्या – सद्गुरु का शब्द-बाण लगने पर शिष्य गूँगा और बावला-सा हो जाता है और कान से बहरा तथा पैर से पंगु-सा हो जाता है। शब्द-बाण मारने का अर्थ है—शब्द द्वारा शक्तिपात करना।

गूँगा, बावला, बहरा, पंगु आदि का भाव है—ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का विषय से विरत हो जाना। गूँगा, बावला और बहरा ज्ञानेन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति की समाप्ति के द्योतक हैं। 'पाऊँ तैं पंगुल भया' कर्मेन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का द्योतक है। विषयों की ओर प्रवृत्त न होने से वह लौकिक दृष्टि से गूँगा, बावला, बहरा और पंगु-सा लगता है।

*पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं[५] थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया[६] हाथि॥ ११ ॥

शब्दार्थ—दीपक = (प्र० अ०) = ज्ञान। थैं=से।

व्याख्या—मैं लोक और वेद के पीछे लगा हुआ था अर्थात् साधारण लौकिक और वैदिक मान्यताओं के बन्धन में पड़ा हुआ था। उनके साथ पीछे-पीछे घूम रहा था। इतने ही में सद्गुरु ने मुझे अज्ञानरूपी अंधकार में भटकते देखकर आगे से आकर अर्थात् बढ़कर हाथ में ज्ञानरूपी दीपक दे दिया।

इसमें गुरु के अनुग्रह की व्यञ्जना है। शिष्य को भटकते देखकर उसने बचा लिया।

अलंकार— रूपकातिशयोक्ति।

दीपक दीया[७] तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहना[८], बहुरि न आंवौं हट्ट॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अघट्ट=न घटनेवाली। बिसाहना = क्रय-विक्रय। हट्ट = हाट, बाजार, (प्र० अ०)-संसार।

---

१. हनु०, वि०, यु०—पावन ते। २. ना० प्र०—थैं। ३. ना० प्र०–मार्‌या, ४. ना० प्र०—बाण।
५. तिवारी—पैंड़े मैं। ६. युगला०—दीन्हा।
* हनु० की प्रति में— वहे बहाने जात थे, लोक वेद के साथ।
बीचहि में सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ॥
(सतगुरु का अंग—७)
७. यु०—दीना, हनु०—दीन्हा। ८. ना० प्र०—बिसाहुणाँ, तिवारी–बिसाहुना।

व्याख्या—गुरु ने ज्ञानरूपी दीपक प्रेमरूपी तेल से भरकर दिया और उसमें कभी न घटनेवाली सुरति की बत्ती डाल दी जिसके द्वारा मैंने संसाररूपी बाजार में अपना सब प्रारब्धजन्य कर्म समाप्त कर लिया और पुनः अब इस बाजार में नहीं आऊंगा अर्थात् अब मैं जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो गया हूँ।

तुलनीय—सुरति निरति का दिवला संजोले,
मनसा की कर लें बाती।
प्रेम हटी ते तेल मँगा ले,
जल रहा दिन राती॥
—मीरा

प्रस्तुत साखी लालदास के नाम से भी मिलती है—
लाल जी दीपक जोरा तेल भरि, बाती करी सुघाट।
पूरा किया बिसावनां, बहुरि न आवै बाट॥
—याज्ञिक संग्रह

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ग्यान प्रकासा[1] गुरु मिला[2], सों जिनि बीसरि जाइ।
जब गोविंद क्रिपा[3] करी, तब गुर मिलिया आइ॥ १३॥

शब्दार्थ—प्रकासा=प्रकाशित हुआ। बीसरि=भूलना।

व्याख्या—जब गुरु मिला तब ज्ञान प्रकाशित हो गया। मुझे अब यही प्रयत्न करना है कि जिस गुरु के द्वारा मेरे भीतर ज्ञान प्रकाशित हुआ है, उसको मैं किसी प्रकार भुला न दूँ। जब प्रभु ने अनुग्रह किया, तभी गुरु आकर मिला।

'सों' सर्वनाम गुरु और ज्ञान दोनों के लिए हो सकता है। प्रस्तुत साखी 'गुरुदेव को अंग' के अन्तर्गत हैं, जिसमें गुरु की महिमा का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। इसलिए 'सो' को गुरु के लिए ही लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि हम 'सों' को ज्ञान के लिए लें तो अर्थ होगा—अब हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जो ज्ञान गुरु के द्वारा प्राप्त हुआ है, उसे हम अपनी सावधानता और साधना से सुरक्षित रखें, जिससे वह क्षीण न होने पावे।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लौंन[4]।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौंन[5]॥ १४॥

शब्दार्थ—रलि गया = घुल-मिल गया। लौन = नमक। गुर गरवा = गुरुत्व युक्त गुरु।

१. ना० प्र०—प्रकास्या। २. ना० प्र०—मिल्या। ३. ना० प्र० कृपा।
४. ना० प्र०—लूणँ। ५. ना० प्र०—कौंण।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु की कृपा से मुझे गौरवशाली गुरु मिल गया। उसकी कृपा से मैं प्रभु में उस प्रकार एकमेक हो गया, जिस प्रकार आँटे में नमक मिलकर एकमेक हो जाता है। जैसे नमक अपने पृथक् अस्तित्व को खो देता है, वैसे ही नाम-रूप समाप्त हो जाने से मेरा पृथक् अस्तित्व मिट गया। जाति-पाँति और कुल आदि नाम-रूप पर ही आश्रित हैं। जब नाम-रूप के साथ मेरा आपा ही समाप्त हो गया, तब मेरे लिए जाति-पाँति या कुल निरर्थक हो गये। अब मुझे कोई किस नाम से अभिहित कर सकेगा?

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा।

जाका गुरु भी अँधला, चेला खरा[1] निरंध।
[2]अंधहि अंधा ठेलिया, दोनों[3] कूप पडंत॥ १५॥

शब्दार्थ—निरन्ध = घोर अंधा।

व्याख्या—जिसका गुरु अन्धा है अर्थात् अज्ञानी है, उसका चेला तो और घोर अन्धा अर्थात् महाअज्ञानी होगा। अन्धे को जब दूसरा अन्धा ढकेलकर आगे ले चलता है, तब दोनों कुएँ में जा गिरते हैं अर्थात् भव-कूप में पड़कर नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ 'ठेलिया' शब्द बहुत व्यञ्जक है। ज्ञानी गुरु तो आगे चलकर मार्ग-दर्शन करता है। किन्तु जो स्वयं अन्धा है, वह शिष्य को पीछे से ठेलकर आगे बढ़ाएगा। प[रि]णाम यह होगा कि दोनों ही कूप में गिरकर विनष्ट हो जाएँगे।

तुलनीय—जाव ण अप्पा जाणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ।
अंधे अंध कढ़ावइ, तिम वेण्ण वि कूव पड़ेइ॥
—सरहपा-दोहाकोष

× × ×

अन्धे अन्धा मिलि चले, दादू बाँधि कतार।
कूप पड़े हम देखता, अन्धे अन्धा लार॥
—दादू

नाँ गुर मिल्या न सिष[4] भया, लालच खेल्या डाव।
दोनौं[5] बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव॥ १६॥

शब्दार्थ—डाव = दाँव। सिष = शिष्य।

व्याख्या—साधना तभी सफल होती है, जब वास्तविक ज्ञानी गुरु मिले और सच्चा निष्ठावान शिष्य मिले। यदि सच्चा गुरु नहीं मिलता है और न सच्चा निष्ठावान शिष्य मिलता है तो दोनों लालचवश केवल अपने-अपने दाँव अर्थात् स्वार्थ-सिद्धि में लगे रहते हैं।

१. गुप्त—है जा चंध। २. वि०, शु०—अन्धे को अन्धा मिला, पड़ा काल के फन्द। ३. ना० प्र०—दून्यूँ। ४. तिवारी-सिख मिला। ५. ना० प्र०—दून्यूँ।

गुरु इस दाँव में लगा रहता है कि वह अपने महत्त्व प्रदर्शनार्थ शिष्यों की संख्या बढ़ाए और उनसे धन-मानादि प्राप्त करे। शिष्य इस दाँव में लगा रहता है कि किसी गुरु का शिष्य कहलाकर वह अपनी गणना सन्तों में करवाकर मान प्राप्त करे। यही दोनों का दाँव खेलना है। किन्तु सच्चे गुरु-शिष्य के अभाव में साधना की दृष्टि से दोनों भव-सागर में वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे पत्थर की नाव पर चढ़नेवाले नदी की धार में डूब जाते हैं। 'पाथर की नाव' में व्यञ्जना यह है कि अपने बोझ के कारण वह धार के तल पर बह नहीं सकती, डूब जाती है। ऐसे ही दिखावा मात्र के लिए झूठी साधना भी आगे चल नहीं सकती। उसका अवलम्ब करनेवाले विनाश को प्राप्त होते हैं। अपनी झुठाई के बोझ से वह 'पाथर की नाव' के समान शिष्य-गुरु दोनों को ले डूबती है।

ऐसे ही गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में तुलसीदास ने लिखा है :—

गुरु सिस बधिर अंध कर लेखा।
एक न सुनइ एक नहिं देखा॥

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घर किसकौ चाँन्दना,[1] जिहि घर गोंविद[2] नाँहि॥ १७॥

शब्दार्थ—जोइ = सँजोकर। चौंसठ दीवा = ६४ दीपक—(प्र० अ०) चौसठ कलाएँ। चौदह चंदा = द्वितीया से पूर्णिमा तक १४ दिन, (प्र० अ०) १४ विद्याएँ। चाँदना = प्रकाश, उजाला।

व्याख्या—जैसे किसी घर में चाहे चौंसठ दीपक जलाये जायँ और चन्द्रमा अपनी चौदह कलाओं से प्रकाशमान हो, परन्तु यदि उसमें कोई निवास करनेवाला नहीं है तो वहाँ किसका प्रकाश होगा ? अर्थात् सारा प्रकाश व्यर्थ है। उसी प्रकार जिस हृदय-मन्दिर में प्रभु का वास नहीं है अर्थात् जो भगवद्भक्त नहीं है, उसने चाहे चौंसठ कलाओं और चौदह विद्याओं का भलीभाँति परिशीलन कर लिया हो, फिर भी उसका हृदय अन्धकारमय ही रहेगा। वास्तविक प्रकाश प्रभु का प्रेम है। कलाओं और विद्याओं की निपुणता वास्तविक प्रकाश नहीं है

टिप्पणी—(i) यहाँ ६४ दीपक, ६४ कलाओं का प्रतीक है और १४ चन्दा, १४ विद्याओं का प्रतीक है।

(ii) द्वितीया से पूर्णिमा तक १४ दिन चाँदनी के होते हैं।

(iii) ६४ कलाएँ निम्नलिखित मानी गयी हैं :—

१. गीत, २. वाद्य, ३. नृत्य, ४. चित्रकारी, ५. भोजपत्र के पत्तों को तिलक की आकृति में काटना, ६. पूजन के लिए चावल और रंग-बिरंगे फूलों को सजाना, ७. घर

[1]. तिवारी—चाँदिनौ, ना० प्र०—चानिणौं। २. तिवारी, हनु०—सतगुर।

या कमरों को फूलों से सजाना, ८. शरीर, कपड़ों और दाँतों पर रंग चढ़ाना, ९. फर्श पर मणियों को बिछाना, १०. शय्या की रचना, ११. उदकवाद्य, १२. जलघात, १३. मन्त्र-तन्त्रों के प्रयोग, १४. माला गूँथना, १५. शिर के आभूषणों को उचित स्थान पर धारण करना, १६. अपने को या दूसरों को वस्त्रालंकार से सजाना, १७. हाथीदाँत, शंख से अलंकारों को बनाना, १८. सुगन्धित द्रव्य तैयार करना, १९. आभूषणों से मणियाँ सजाना, २०. इन्द्रजाल की क्रीड़ाएँ करना, २१. बाजीकरण प्रयोग, २२. हाथ की सफाई, २३. भोजन बनाने का कौशल, २४. पेय पदार्थों को बनाने का कौशल, २५. सिलाई, २६. सूत से चित्र बनाना, २७. वाद्य-वादन, २८. पहेलियों को बुझाना, २९. अन्त्याक्षरी, ३०. कठिन श्लोक कहना, ३१. पुस्तक वाचन, ३२. नाटकादि का ज्ञान, ३३. कविता द्वारा समस्यापूर्ति, ३४. वेंत और सरकण्डे की वस्तुएँ बनाना, ३५. मीनाकारी व पच्चीकारी, ३६. बढ़ईगीरी, ३७. गृह-निर्माण कला, ३८. मणियों और रत्नों की परीक्षा, ३९. धातु शोधन, ४०. मणियों को रंगना, ४१. वृक्षायुर्वेद, ४२. भेड़ा-मुर्गा आदि लड़ाना, ४३. तोता-मैना पढ़ाना, ४४. शरीर की मालिश की कला, ४५. सांकेतिक अक्षरों का अर्थ-ज्ञान, ४६. गुप्त भाषा विज्ञान, ४७. विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञान, ४८. फूलों से रथ-गाड़ी आदि बनाना, ४९. शकुन-विचार, ५०. स्वचालित यन्त्रों को बनाना, ५१. स्मरण-शक्ति बढ़ाने की कला, ५२, याद किये श्लोकों को दुहराना, ५३ विक्षिप्त अक्षरों से श्लोक बनाना, ५४-५५. शब्दकोशों और छन्दों का ज्ञान, ५६. काव्यालंकार का ज्ञान, ५७. बहुरूपियापन, ५८. वस्त्र-धारण की कला, ५९. द्यूत-क्रीड़ा की कला, ६०. पासा खेलना, ६१. बच्चों के खेलों का ज्ञान, ६२. आचार शास्त्र, ६३. विजय दिलानेवाली विद्याएँ, ६४. व्यायाम विद्या।

१४ विद्याएँ निम्नलिखित हैं :—

ब्रह्मज्ञान, रसज्ञान, कर्मकाण्ड, संगीत, व्याकरण, ज्योतिष, धनुर्विद्या, जलतरन, न्याय, कोक, अश्वारोहण, नाट्य, कृषि, वैद्यक।

अथवा

६ वेदांग = शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्ति, छन्द, ज्योतिष।

४ वेद = ऋक्, यजु, साम, अथर्वण तथा मीमांसा; न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

निस अँधियारो कारणैं, चौरासी लख चंद।
[1]अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि [2]नहिं मंद॥ १८॥

शब्दार्थ—कारणैं=अन्धकार दूर करने के लिए। निस अँधियारी = अज्ञानरूपी अन्धकार। मन्द = मूर्ख। आतुर=वेग से, जल्दी-जल्दी। ऊदै किया=उदित किया।

---

१. तिवारी—गुरु बिनु अति ऊदै भये, विचार० गुरु बिन येते उदय ह्वै। २. तिवारी—रहि, विचार०—सुद्रिष्टि हिं।

व्याख्या—जैसे रात्रि के घोर अन्धकार को दूर करने के लिए चाहे बड़ी आतुरता से ८४ लाख चन्द्रमा उदित किये जायँ अर्थात् उनका प्रकाश पुंजीभूत किया जाय, तब भी जो निसर्गतः मन्द-दृष्टि है, उसको दिखलायी नहीं दे सकता, ठीक उसी प्रकार प्रकृति से ही (मन्द) अज्ञानी जीवों को चाहे लाखों शास्त्रों के उपदेश मिलें, तब भी उनकी आन्तरिक दृष्टि नहीं खुलती।

इसमें व्यञ्जना यह है कि आन्तरिक दृष्टि केवल गुरु के द्वारा खुल सकती है, शास्त्र के द्वारा नहीं।

अलंकार—विशेषोक्ति।

> भली भई जु गुर मिल्या, नातर[1] होती हानि[2]।
> दीपक जोति[3] पतंग ज्यूं[4], पड़ता[5] आप निदान[6] ॥ १९ ।

शब्दार्थ—निदान=अन्ततः।

व्याख्या—यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे गुरु मिल गया, अन्यथा मेरी बड़ी हानि होती अर्थात् मेरा आध्यात्मिक पतन हो जाता। जैसे दीपक की ज्योति से आकृष्ट होकर अन्ततः पतंग जल मरता है, वैसे ही माया की चकाचौंध से आकृष्ट होकर मैं भी अन्ततः विनष्ट हो जाता। इस साखी की दूसरी पंक्ति का अन्य पाठ इस प्रकार है :—

'दीपक दिष्टि पतंग ज्यूँ, पड़ता पूरी जाँणि।'

इसका अर्थ होगा—जैसे पतंग की दृष्टि में दीपक ही अत्यन्त आकर्षक वस्तु होती है, वैसे ही मैं भी मायारूपी दीपक के आकर्षण से विनष्ट हो जाता। इसको अच्छी तरह से जान लो अर्थात् इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

अलंकार—उपमा।

> माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत[6]।
> कहै कबीर गुर ग्यान तैं,[7] एक आध उबरंत ॥ २० ॥

शब्दार्थ—इवैं=इसी में। तैं=से। उबरंत=उबरता है, बचता है। भ्रमि-भ्रमि= मँडराकर, भ्रम में पड़कर।

व्याख्या—माया दीपक के समान है और नर पतंग के समान। जैसे पतंग दीपक के चाकचिक्य से आकृष्ट होकर, भ्रमवश मँड़रा-मँड़राकर उसमें निमग्न होकर विनष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य माया के आकर्षण से भ्रमवश विषयों को प्रिय समझकर उनकी ओर चक्कर काटते हुए, उनमें निमग्न होकर नष्ट हो जाता है। कबीर कहते हैं कि माया का आकर्षण इतना प्रबल है कि कोई एक-आध ही गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से उससे बच सकता है।

---

१. ना० प्र०—नहीं तर। २. ना० प्र०—हांणि। ३. ना. प्र.—दिष्टि। ४. ना. प्र.—पड़ता पूरी जाँणि। ५. तिवारी—जांनि। ६. तिवारी, मांहि। ७. ना० प्र०—थैं।

तुलसीदास ने भी कहा है—

दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सतसंग॥
(मानस—३।४६)

अलंकार—सांगरूपक

सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहै चूक।
भावै त्यौं[1] परमोधिए, ज्यूँ बंसि[2] बजाई फूक॥ २१॥

शब्दार्थ—बपुरा=बेचारा। जे = यदि। चूक=भूल, त्रुटि। बंसि=वंशी, बाँसुरी। भावै=जैसा चाहे। परमोधिए ले = अर्थ निकाल ले।

व्याख्या—सद्‌गुरु के साथ-ही-साथ शिष्य को भी एकनिष्ठ और श्रद्धालु होना चाहिए। बेचारा सद्‌गुरु क्या कर सकता है, यदि शिष्य में ही खोट है। ऐसा शिष्य अपने पूर्वग्रहों और वासनाओं के कारण गुरु के उपदेश से मनमाना अर्थ निकाल लेता है। जैसे वंशी में कोई इच्छानुसार राग बजा लेता है, वैसे ही वह शिष्य गुरु के उपदेश से मनचाहा अर्थ निकाल लेता है। गुरु का वास्तविक प्रभाव दोषग्रस्त शिष्य पर नहीं पड़ता।

अलंकार—उदाहरण।

संसै खाया सकल जग[3], संसा[4] किनहुँ न खद्ध।
जे बेधे[5] गुरु अष्षिरां,[6] तिनि संसा चुनिचुनि[7] खद्ध॥ २२॥

शब्दार्थ—संसा=संशय। अष्षिरां=उपदेश द्वारा।

व्याख्या—आध्यात्मिक जीवन में श्रद्धा का प्रथम स्थान है। जो प्रत्येक विषय में संशय रखता है, वह आध्यात्मिक जीवन में उन्नति नहीं कर सकता।

कबीर कहते हैं कि संशय ने समस्त जगत् को खा लिया है अर्थात् उससे कोई नहीं बचा है, किन्तु संशय को कोई न खा सका अर्थात् कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो संशय पर पूरा अधिकार प्राप्त कर ले। जो गुरु के उपदेशों से विद्ध हैं, वे ही संशय को चुन-चुनकर खा डालने में समर्थ होते हैं।

टिप्पणी—'जे बेधे गुरु अष्षिरां' में प्राचीन कर्मवाच्य प्रयोग है। इसका अन्वय है—'जो गुरु अष्षिरां बेधे' अर्थात् जो गुरु के अक्षरों से बेधे गये हैं, विद्ध हुए हैं।

गीता में भी कहा गया है—'संशयात्मा विनश्यति।'

---

१. ना० प्र०—त्यूँ प्रमोधि ले, गुप्त—परमोधि ले। २. तिवारी, गुप्त—बांसि। ३. ना० प्र०—जुग। ४. हनु०—संशय काहु। ५. हनु०—बंधे। ६. हनु०—अक्षरा। ७. ना० प्र०—चुणि-चुणि।

चेतनि चौकी बैंसि[१] करि, सतगुरु दीन्ही[२] धीर।
निरभै होइ निसंक भजु,[३] केवल कहै कबीर॥ २३॥

शब्दार्थ—चेतनि=ज्ञान। बैंसिकरि=बैठकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि ज्ञान की चौकी पर बैठकर सद्गुरु ने धैर्य बँधाया और यह कहा कि निर्भय और निःशंक होकर तू अकेले परमात्मा को भज।

अलंकार—अनुप्रास।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी[४] भोल।
[५]पांसि विनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल॥ २४॥

शब्दार्थ—चोल=मजीठ। विनंठा=विनष्ट। भोल=भूल, भ्रम। मनि=मन में (प्राचीन सप्तमी प्रयोग)। पांसि=(सं० पांशु)=धूल।

व्याख्या—सद्गुरु मिला भी तो क्या हुआ, यदि मन में (मौलिक) भूल पड़ी हुई है अर्थात् यदि मन अत्यन्त मलिन है। यदि पांशु अर्थात् धूल से कपड़ा मलिन होकर नष्ट हो गया है तो मंजीठ बेचारी क्या कर सकती है अर्थात् उस पर रंग कैसे ला सकती है?

टिप्पणी—मंजीठ एक प्रकार की लता होती है, जिसकी जड़ों और डंठलों को उबालकर लाल रंग निकाला जाता है।

अलंकार—दृष्टान्त।

बूड़ा[६] था पै ऊबरा, गुरु की लहरि चमंकि[७]।
भेरा[८] देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि॥ २५॥

शब्दार्थ—लहरि = कृपा, मौज, ज्ञान की तरंग। चमंकि = चमकी, प्रकाशित हुई। भेरा = एक तरह की नाव, भेला। जरजरा = जीर्ण। फरंकि = अलग होकर, फड़ककर। पै = किन्तु।

व्याख्या—मैं बाह्याचार तथा कर्मकाण्डरूपी नाव पर चढ़कर भवसागर को पार करना चाहता था। इससे मैं डूबनेवाला ही था, किन्तु गुरु की अनुग्रह-तरंग चमकी या प्रकाशित हुई, जिससे मैं बच गया। मैंने यह देख लिया कि मेरी कर्मकाण्डरूपी नौका जर्जर है। यह हमें भवसागर के पार नहीं ले जा सकती। यह तो हमें डुबो ही देगी। बस, फड़ककर उस नाव से उतर पड़ा अर्थात् कर्मकाण्डरूपी साधन को छोड़कर गुरु के द्वारा बताये गये मार्ग का अनुगमन किया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. विचार, युगला०—बैठि के। २. युगला० ना० प्र०—दीन्हौं। ३. ना० प्र०—भजि। ४. विचार०—मन परिगा। ५. विचार०—कपास बिनाया कापड़ा। ६. ना० प्र०—बूड़े थे परि ऊबरे। ७ विचार, हनु०, युगला०—चमक्क। ८. तिवारी—जब भेरा देखा, हनु०, विचार०—बेड़ा देखा झांझरा, उतरी भया (भयो) फरक्क।

गुरु गोविंद तौ[1] एक है, दूजा यहु[2] आकार।
[3]आपा मेट जीव़त मरै, तौ पावै करतार॥ २६॥

शब्दार्थ—आकार=उपाधि, शरीर। आपा = अहंता, खुदी। करतार=ईश्वर, कर्त्ता।

व्याख्या—गुरु और प्रभु (गोविंद) वस्तुतः एक ही हैं। दोनों में केवल उपाधि-भेद है अर्थात् नाम-रूप का भेद हैं। यदि अपनी अहंता (खुदी) को मिटाकर कोई जीते ही मर जाय तो प्रभु का साक्षात्कार कर सकता हैं। जीव का अज्ञान की अवस्था में अहंता (मैं-मेरा) भाव ही जीवन है। शरीर रहते हुए 'मैं-मेरे' भाव का समाप्त हो जाना ही 'मरण' है। 'जीवति ही मरि जाय' का भाव यह है कि शरीर-प्राण रहते हुए 'मैं-मेरे' का भाव समाप्त हो जाय। कबीर ने अन्यत्र भी इसी प्रकार कहा है :—

ऊँचा तरुवर गगन फल, बिरला पंछी खाय।
वा फल को तो वो चखै, (जो) जीवत ही मरि जाय॥

अलंकार—विरोधाभास।

कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीख[4]।
स्वाँग जती का पहिरि करि, घरि घरि माँगै भीख[5]॥ २७॥

शब्दार्थ—सीख = शिक्षा। जती = (सं० यती), साधक, साधु। स्वाँग = वेश।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यदि सद्गुरु नहीं मिला और शिक्षा अधूरी रह गई, तब शिष्य केवल साधु या संन्यासी का वेश बनाकर घर-घर भीख माँगता फिरता रहता है।

सतगुर साँचा[6] सूरिवाँ[7], तातैं लोहि लुहार।
कसनी[8] दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार॥ २८॥

शब्दार्थ—सूरिवाँ = शूरवीर। तातैं = तप्त, गरम। कसनी = कसौटी। ततसार = सारतत्त्व। ताइ लिया = मूँदकर रखा, सुरक्षित रखा।

व्याख्या—इस साखी में सद्गुरु के लिए दो दृष्टान्त दिये गये हैं। पहले चरण में लोहार का और दूसरे चरण में सोनार का। लोहार लोहे को तप्त करके पीटकर इच्छा-नुसार मोड़ लेता है। कबीर कहते हैं कि सद्गुरु सच्चा शूर है, जो कि शिष्यरूपी लोहे को साधनारूपी अग्नि में तप्त करके जैसा चाहता है, वैसा मोड़ लेता है। दूसरे चरण में सोनार का दृष्टान्त है। सोनार कसौटी पर कसकर सोने को परख लेता है, ठीक वैसे ही सत्गुरु शिष्य को साधना या नियमों की कसौटी पर कसता है और उसके भीतर जो सारतत्त्व निहित है, उसको प्रलोभनों और उपद्रवों से बचाकर सुरक्षित रखता है।

---

१. हनु०, विचार०, युगला०—दोउ। २. तिवारी, हनु०, विचार०, युगला०—सब। ३. अन्य प्रतियों में—आपा मेटैं हरि भजै, तब पावै दीदार। ४. ना० प्र०—सीष। ५. ना० प्र०—भीष। ६. तिवारी—मेरा . ७. हनु०, विचार०—सतगुरु तो ऐसा मिला। ८. ना० प्र०—कसणी।

टिप्पणी—'ताइ लेना' का अर्थ है—किसी वस्तु को घड़े आदि में मूँदकर सुरक्षित रखना, जिससे वह बाहर की वायु—धूल आदि से बचा रहे। यहाँ 'ताइ लिया' का लक्ष्यार्थ है—सुरक्षित रखना।

अलंकार—दृष्टांत।

थापनि[1] पाई थिति भई[2], सतगुर दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा बनिजिया[3], [4]मानसरोवर तीर ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—थापनि = स्थापना, गुरु द्वारा शिष्य की पुष्टि। थिति = शांति, स्थिरता। धीर = धैर्य। बनिजिया = व्यापारी।

व्याख्या—सद्‌गुरु ने अपने अनुग्रह और उपदेश से धैर्य प्रदान किया, जिससे स्वरूप में निष्ठा दृढ़ हो गयी। कबीर अब मानसरोवर अर्थात् चैतन्य के तट पर ज्ञान-रत्न का संग्राही व्यापारी हो गया है। वह बाहरी साधनाओं से हटकर अन्तर्मुखी साधना करने लगा है।

यदि 'हीरा बनजिया' समस्त पद लिया जाय तो अर्थ होगा—हीरे का व्यापारी। यदि 'हीरा बनजिया' अलग-अलग लिया जाय तो 'बनजिया' क्रियापद हो जायेगा और अर्थ होगा—हीरे का व्यापार। इससे मूल भाव में कोई अन्तर नहीं आता है।

यहाँ 'हीरा' ज्ञान का प्रतीक है। 'मानसरोवर' में मानसरूपी सरोवर की व्यंजना है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

निहचल[5] निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर।
निपजी मैं साझी घना[6], बाँटे[7] नहीं कबीर ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—निहचल = अक्षय। निधि = कोष, (प्र० अ०)—परमानन्द। तत = तत्व, (प्र० अ०) जीवात्मा। निपजी = उत्पन्न हुआ। साझी = भागीदार। घना = अनेक। मैं = में

व्याख्या—सद्‌गुरु ने साधना में साहस और धैर्य देकर जीवात्मारूपी तत्व को अक्षय परमानन्द में संयुक्त कर दिया। उस उत्पन्न हुए आनन्द को बाँटने के लिए अनेक भागीदार खड़े हो गये। किन्तु कबीर उसे बाँट नहीं सकते, क्योंकि साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी अनुभूति का विषय है। वह अविभाज्य है, दूसरों को बाँटा नहीं जा सकता।

बौद्ध साधक नागार्जुन ने भी 'तत्त्व' का लक्षण बताते हुए उसे 'अपर प्रत्ययं' कहा है, जिसका अर्थ है—वह प्रत्यय या अनुभूति जो दूसरों को कोई दे नहीं सकता।

---

१. ना० प्र०—थापणि। २. युगला०—थिर भया। ३. ना० प्र०—वणिजिया। ४. युगला०—मीन सरोवर। ५. विचार०, युगला०—निस्चय निधी। ६. ना० प्र०—घणाँ। ७. विचार०, युगला०—बाँटनहार।

चौपड़ि माँडी चौहटै, अरध उरध बाजार[1]।
कहै[2] कबीरा राम जन, खेलौ सन्त विचार ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—चौपड़ि = चौसर (सं०—चतुस्सारि) एक प्रकार का खेल जो बिसात पर चार रंगों की चार-चार गोटियों और तीन पासों से दो मनुष्यों में खेला जाता है। माँड़ी = मंडित किया, सजाया। चौहटै = चौराहे पर। अरध = अधः, नीचे। उरध = ऊर्ध्वं, ऊपर।

व्याख्या—यहाँ त्रिकुटी को 'चौहट' कहा है जो कि दोनों भौंहों के मध्य में है। उससे ऊपर के चक्रों को 'उरध' कहा गया है और नीचे के चक्रों को 'अरध' द्वारा संकेतित किया गया है। इस त्रिकुटी में आज्ञाचक्र है। आज्ञाचक्र के खुलने पर ऊपर नीचे के मार्ग खुल जाते हैं। कबीरदास कहते हैं कि इस त्रिकुटी पर साधनारूपी चौसर बिछायी गयी है और उसके ऊपर-नीचे बाजार लगा हुआ है। 'बाजार' जीवनोपयोगी वस्तुओं के क्रय-विक्रय का स्थल होता है। इन चक्रों के खुलने से परिपूर्ति अथवा सिद्धि का मार्ग खुल जाता है। परन्तु रामजन अर्थात् रामभक्त कबीर ने अपने शिष्यों को यह संकेत दिया है कि इस चौसर को सावधानी से खेलो अर्थात् हठयोग द्वारा प्रतिपादित कुंभक आदि कष्टसाध्य साधनाओं के चक्कर में न पड़कर सरल मार्ग 'सुरति शब्द योग' की डोर पकड़ो तो तुममें वही सिद्धि आ जाएगी, जो कुंभक, प्राणायाम आदि द्वारा प्राप्त होती है।

यहाँ 'राम जन' कबीर का भी विशेषण हो सकता है और 'सन्त' का भी। यदि 'सन्त' का विशेषण लिया जाय तो अर्थ होगा—राम के भक्त संत जन विचार कर खेलो। किंतु 'खेलो सन्त विचार' पृथक् वाक्यांश हैं, इसलिए 'राम जन' को कबीर का विशेषण मानना अधिक समीचीन होगा।

टिप्पणी—गोरखनाथ ने तांत्रिक साधना द्वारा इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इस प्रकार उपदेश दिया है:—

अरध उरध बिचि धरी उठाई, मधि सुंनि मैं बैठा जाई।
मतवाला की संगति आई, कथंत गोरखनाथ परम गति पाई ॥ ७८ ॥
(गोरखबानी, पृ० २८)

इसका भाव यह है कि अधः अर्थात् नीचे जानेवाली अपानवायु और ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर जानेवाली प्राणवायु को बीच में उठाकर रखा अर्थात् केवल कुंभक किया और 'मधि सुंनि' (मध्य शून्य) अर्थात् ब्रह्मरंध्र में जा बैठा। वहाँ मतवाले शिव की संगति मिली। गोरखनाथ कहते हैं कि इस प्रकार हमें परमगति प्राप्त हो गयी।

---

१. तिवारी—बाजारि। २. तिवारी—सतगुर सेती खेलतां, कबहुँ न आवै हारि।

कबीर ने भी ऊपर-नीचे के चक्रों की बात कही है, किन्तु कबीर की विशेषता यह है कि सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों की तान्त्रिक साधना द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे कबीर के अनुसार उनके भक्तिपूर्ण 'सूरति शब्द योग' से ही प्राप्त हो सकती हैं, जिसमें कुम्भक आदि कष्टसाध्य साधनाओं की आवश्यकता नहीं रहती।

पासा पकड़ा[१] प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाँव बताइया, खेलै दास कबीर॥ ३२॥

शब्दार्थ—सारी = चौसर, यहाँ 'सारी' चौसर के उस कपड़े के लिए आया है, जिसे बिसात कहते हैं। इसी पर चौसर खेला जाता है। पासा = हाथीदांत या हड्डी के उँगली के बराबर छः पहले टुकड़े, जिनके पहलों पर बिन्दियाँ बनी होती हैं और जिन्हें चौसर के खेलने में खेलाड़ी बारी-बारी फेंकते हैं। जिस बल ये पड़ते हैं उसी के अनुसार बिसात पर गोटियाँ चली जाती हैं और अन्त में हार-जीत होती है।

व्याख्या—३१वीं साखी के भाव के क्रम में कबीरदास कहते हैं कि कबीर ने प्रेम की गोटी पकड़ी है और शरीररूपी बिसात पर वह सद्‌गुरु द्वारा बताये गये दाँव से चौसर खेल रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि सद्‌गुरु का मार्ग प्रेम का मार्ग है।

अलंकार—सांगरूपक।

सतगुर हम सूँ[२] रीझि करि, कहा[३] एक परसंग[४]।
बरसा[५] बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥ ३३॥

शब्दार्थ—परसंग = प्रसंग, रहस्य की बात।

व्याख्या—सद्‌गुरु ने प्रसन्न होकर हमसे एक रहस्य की बात बतलायी, जिससे प्रेम का बादल इस प्रकार बरसा कि हम उसमें भींग गये।

अलंकार—रूपक।

कबीर बादल प्रेम का[६], हम परि बरस्या[७] आइ।
अंतरि भीगी[८] आतमाँ, हरी भई बनराइ॥ ३४॥

शब्दार्थ—बनराइ = वनराजि।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सद्‌गुरु के बताये हुए मार्ग से प्रेम का बादल उमड़कर हमारे ऊपर बरसने लगा। हमारा अन्तरात्मा भींग गया और जीवनरूपी वनराजि हरी हो गयी।

अलंकार—रूपक।

---

१. ना० प्र०—पकड्या। २. तिवारी, विचार०, युगला०—सौं। ३. ना० प्र०—एक कह्या, विचार० युगला०—कह्यो एक। ४. ना० प्र०—प्रसंग। ५. ना० प्र०—बरसया। ६. युगला०—को। ७. ना० प्र०—बरष्या। ८. युगला०—भीजी।

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्ही आत्माँ, ताथैं सदा हजूरि॥ ३५॥

शब्दार्थ—मेल्या = फेंक दिया, निकल गया। ताथैं = इस कारण। हजूरि = उपस्थिति, विद्यमानता, साक्षात्, आमना-सामना। पूरे = पूर्ण, ब्रह्म। परचा = परिचय।

व्याख्या—गुरु-कृपा से मेरा पूर्ण अर्थात् ब्रह्म से परिचय हो गया और मैंने अपने सब दुःख झाड़कर दूर फेंक डाले अर्थात् मेरे सभी कष्ट जाते रहे। मेरा आत्मा निर्मल हो हो गया। मेरी पूर्ण शुद्धि हो गयी। इसलिए अब मुझे ब्रह्म का साक्षात्कार सदैव विद्यमान रहता है।

(२) सुमिरन को अंग

कबीर कहता जात है,[१] सुनता[२] है सब कोइ।[(अ)]
राम कहें भल होइगा, नहिं[३] तर भला न होइ॥ १॥

शब्दार्थ—नहिं तर = नहीं तो, अन्यथा।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि मैं कहता जाता हूँ अर्थात् बराबर कहता रहा हूँ और सभी मेरी बात सुनते भी हैं, किन्तु मेरे उपदेश के अनुरूप कोई आचरण नहीं करता। मेरा कहना यही है कि प्रभु के स्मरण से ही कल्याण होगा और किसी प्रकार से कल्याण नहीं हो सकता।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गये[४] ब्रह्म महेस।
राम नाम[५] ततसार है, सब काहू उपदेस॥ २॥

शब्दार्थ—कथि = कह। ततसार = सारतत्त्व।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि ब्रह्मा और शिव ने सारे संसार को एक मुख्य उपदेश दिया है और मैं भी वही कहता हूँ कि राम-नाम ही वास्तव में सार वस्तु है। यह उपदेश सबके लिए है अर्थात् बिना वर्ण, जाति, सम्प्रदाय और लिंग के भेद के राम की भक्ति का अधिकार सबको है।

तत्त तिलक तिहुँ लोक मैं, रामनाम[६] निज सार।
जन कबीर मस्तक[७] दिया, सोभा अधिक[८] अपार॥ ३॥

शब्दार्थ—तत्त = तत्त्व। तिलक = श्रेष्ठ। सार = निचोड़। जन = भक्त।

व्याख्या—तीनों लोकों में श्रेष्ठ तत्त्व रामनाम है और वही अपना भी सार है। भक्त कबीर ने अपने मस्तक पर उसको धारण कर लिया और इससे उनके जीवन में अपार शोभा आ गयी।

'तिलक' शब्द में यह व्यञ्जना है कि वह सर्वश्रेष्ठ है और सारे जीवन की शोभा भी उसी रामनाम से है। उसके बिना जीवन निस्सार है। तिलक मस्तक के शोभा की वस्तु है और वह अपने विश्वास का प्रतीक भी।

---

१. नां० प्र०—हूँ। २. ना० प्र०—सुणता। ३. तिवारी—नातर।

(अ) —कहता हूँ कहि जात हूँ, सुनता है सब कोय।
सुमिरन से भल होयगा, ना तर भला न होय॥ १३२॥ (हनु०)–(युगला० ९८)

४. ना० प्र०—गया। ५. ना० प्र०—नाँव। ६. ना० प्र०—नाँव। ७. तिवारी—मस्तकि। ८. तिवारी—अनंत।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मंना,[१] कबीर सुमिरन[२] सार॥ ४॥

शब्दार्थ—कर्मंना = कर्म से। मनसा = मन से। वाचा = वचन से।

व्याख्या—प्रभु की भक्ति और उनके नाम का भजन (जप) यही वस्तुतः सार है और सब बातें अपार दुःख हैं। कबीर का यह कहना है कि मन, वचन और कर्म से प्रभु का स्मरण ही जीवन का सार है।

अलंकार—यथासंख्य।

कबीर सुमिरन[३] सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत सब[४] सोधिया, दूजा देखौं[५] काल[६]॥ ५॥

शब्दार्थ—सोधिया = शोध किया, खोजा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु का स्मरण ही जीवन का सार है और सब बातें बन्धन में डालने वाली हैं। मैंने आदि-अन्त सब कुछ छानकर देख लिया है। प्रभु के नाम के अतिरिक्त, अन्य सभी वस्तुएँ विनाशकारी काल ही हैं।

चिंता[७] तौ हरि[८] नाँव की, और न चितवै[९] दास।
जे कछु चितवैं राम[१०] बिन, सोइ काल की पास[११]॥ ६॥

शब्दार्थ—चिंता = चिंतन। चितवै = चिंतन करना। पास = पाश, बंधन।

व्याख्या—दास कबीर कहते हैं कि मैं तो केवल हरि नाम का चिन्तन करता हूँ और किसी वस्तु का चिन्तन नहीं करता। जो लोग राम को छोड़कर और कुछ चिन्तन करते हैं, वह चिन्तन काल के जाल के समान बन्धन और मृत्यु में फँसाने वाला होता है।

पँच[१२] सँगी पिव पिव[१३] करै, छठा जु सुमिरै मंन[१४]।
आई सूति[१५] कबीर की, पाया राम रतंन[१६]॥ ७॥

शब्दार्थ—पंच सँगी = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, जो जीव की संगिनी हैं। जु = जो। सूति=स्वाति। रतन = मुक्ता रूपी रत्न।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरी पाँचों इन्द्रियाँ उसी प्रकार से अपने प्रिय प्रभु की रट लगाये हुए हैं, जैसे चातक स्वाति नक्षत्र की आशा में 'पिउ पिउ' रटता रहता है और मेरी जो छठी इन्द्रिय मन है, वह उसी प्रभु का निरन्तर स्मरण करता रहता है। कबीर

---

१. ना० प्र०—क्रमनाँ। २. ना० प्र०—सुमिरण। ३. ना० प्र०—सुमिरण। ४. हनु०—मध, विचार०, युगला०—मधि। ५. हनु०, विचार०—देखा। ६. युगला०—ख्याल। ७. ना० प्र०—च्यंता। ८. हनु०, विचार०—सतनाम। ९. ना० प्र०—चिंता। १०. हनु०, विचार०, युगला०—नाम। ११. हनु०, विचार०, युगला०—फाँस। १२. तिवारी, विचार०—पाँच संगि, हनु०—पाँच सखी। १३. तिवारी—पिउ पिउ, हनु०—पिय पिय। १४. हनु०—मन्न। १५. हनु०, विचार०, युगला०—सुरति। १६. हनु०—रतन्न।

सीप के समान हैं, जिसमें स्वाति के बूँद गिरते हैं, तब वह राम रूपी मुक्ता-रत्न को पाकर निहाल हो जाते हैं।

टिप्पणी—(१) भारतीय दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ छः हैं—पाँच बाह्येन्द्रियाँ—नेत्र, कर्ण, घ्राण, स्पर्श और रसना तथा छठवाँ मन है। इनमें से कबीर ने पाँचों इन्द्रियों को 'पंच सँगी' बताया है और छठवें के लिए कहा है—'छठा जु सुमिरै मंन'। पाँच इन्द्रियाँ चातक के समान 'पिउ पिउ' करती रहती हैं और मन जो आन्तरिक इन्द्रिय है, वह प्रिय का स्मरण करता रहता है। यह एक सुन्दर रूपक है जिसमें इन्द्रियों को चातक के समान बताया गया है, कबीर अपने को सीप के समान बताते हैं और राम की प्राप्ति मुक्ता के समान बतायी गयी है। चातक 'पिउ पिउ' की रट लगाये रहता है, वैसे ही पाँचों इन्द्रियाँ अपने प्रिय प्रभु की रट लगाये रहती हैं और छठी इन्द्रिय मन प्रभु का स्मरण करता रहता है। हृदय सीप के समान है। उस स्मरण से स्वाति का बूँद कबीर के हृदय रूपी सीप में गिरता है और वह राम रूपी मुक्ता-रत्न में परिणत हो जाता है। कबीर उसको पाकर निहाल हो जाते हैं।

(२) साँगरूपक अलंकार।

(३) तुलनीय—

बिरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, पंच पुकारै पीव॥ (दादू)

मेरा[1] मन सुमिरै राम को,[2] मेरा[3] मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा,[4] सीस नवावौं[5] काहि॥ ८॥

व्याख्या—मेरा मन राम का स्मरण करते-करते राममय हो गया। ऐसी स्थिति में अब मैं किसको नमस्कार करूँ ? भाव यह है कि जीव और परमात्मा का, साधक और साध्य का भेद ही समाप्त हो गया है तो नमस्कार किसको किया जाय ?

अलंकार—तद्गुण।

तूँ तूँ करता[6] तू भया, मुझ[7] मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई,[8] जित देखौं[9] तित तूँ॥ ९॥

शब्दार्थ—वारी = वारना, बलिहारी जाना। फेरी = भाँवरी, चक्कर। बलिगई = न्योछावर होना।

---

१. हनु०—मम। २. ना० प्र०—कूँ। ३. हनु०—मम। ४. ना० प्र०—रह्या। ५. हनु०—नमाऊँ युगला०—नवाऊँ। ६. हनु०—करते ७. हनु०—तुझमें रहा न हूँय, युगला०—तुझमें रही न हूँ। ८. तिवारी—वारी तेरे नाउँ परि, हनु०,—विचार०—वारी तेरे नाम पर, युगला०—वारी तेरे नाम की ९. विचार, युगला०—देखूँ।

व्याख्या—'तू तू' याद करते हुए मैं स्वयं 'तू' हो गया। मुझमें मेरापन न रह गया अर्थात् मेरा अहंभाव समाप्त हो गया। मैं पूर्ण रूप से तेरे ऊपर न्यौछावर हो गया हूँ और अब जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू दिखलाई देता है अर्थात् सारा जगत् ब्रह्ममय हो गया है।

दूसरी पंक्ति का अन्य पाठ इस प्रकार मिलता हैं—'वारी तेरे नाउँ पर'। इसका भी अर्थ वही है कि मैंने तेरे नाम पर अपने को न्यौछावर कर दिया।

'वारी फेरी बलि गई' का एक दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—वारी फेरी अर्थात् संसार में चक्कर काटने रहना, आवागमन, 'बलिगई' वल गया, जल गया, नष्ट हो गया। मेरा पृथक् भाव जाता रहा। संसरण समाप्त हो गया। अब जिधर देखता हूँ, तू ही तू दिखलाई देता है।

अलंकार—तद्गुण।

कबीर[1] निरभै राम जपु[2], जब लगि दीवै बाति।
तेल घटै[3] बाती बुझै[4], (तब) सोवैगा[5] दिन राति॥ १०॥

शब्दार्थ—निरभै = निर्भय, निडर। दीवै = दीपक में (प्र० अ०) शरीर। बाति= वर्तिका, बत्ती (प्र० अ०) प्राण। तेल = (प्र० अ०) सामर्थ्य।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब तक शरीर रूपी दीपक में प्राण रूपी वर्तिका विद्यमान है अर्थात् जब तक जीवन है, तब तक निर्भय होकर राम नाम का स्मरण करो। जब तेल घटने पर बत्ती बुझ जाएगी अर्थात् शक्ति क्षीण होने पर जब जीवन समाप्त हो जाएगा, तब तो तू दिन-रात सोएगा ही अर्थात् मृत हो जाने पर जब तेरा शरीर निश्चे-तन हो जाएगा, तब तू क्या स्मरण करेगा?

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर सूता क्या करै, जागि[6] न जपै मुरारि।
इक दिन[7] सोवन होइगा, लम्बे पाँव[8] पसारि॥ ११॥

शब्दार्थ—मुरारि = मुर + अरि, मुर नामक दैत्य को मारनेवाले कृष्ण अर्थात् भगवान। सूता = अज्ञान रूपी निद्रा। जागि = प्रबुद्ध होकर।

व्याख्या—कबीर जीव को चेतावनी देते हैं कि हे जीव! तू अज्ञान-निद्रा में सोते हुए क्या कर रहा है? जग कर अर्थात् इस निद्रा को त्याग कर भगवान का स्मरण कर। एक दिन तो तुझे पैर फैलाकर चिर निन्द्रा में मग्न होना ही है।

अलंकार—वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति।

---

१. हनु०–विचार०–कविर, युगला०–कविरा। २. हनु०–विचार०–नाम जपु, ना० प्र०–राम जपि ३. ना० प्र०–घट्या हनु०–घटै ४. ना० प्र०–बुझी ५. हनु०–विचार०–सोवोगे, युगला०–तब सोवेंगे। ६.—युगला०—जागे जपो, हनु०—विचार०—जागी जपो ७. अन्य प्रतियों में—दिना है सोवना, ना० प्र०—एक दिना भी सोवणाँ ८. तिवारी—लाम्बे गोड़

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका सँग[1] तैं बीछुरा[2], ताही के संग लागि ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—बीछुरा=बिछुड़ गया, वियुक्त हो गया। तैं=तू।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि हे जीव! मोह-निद्रा में अभिभूत होकर तू क्या कर रहा है? जागकर तू तथ्य को क्यों नहीं देखता? जिस प्रभु के साथ से वियुक्त होकर तू जीव बन गया है, पुनः उसी के साथ क्यों नहीं लगता? अर्थात् नः उसी से क्यों नहीं संयुक्त हो जाता? अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए अज्ञानवश जीव का प्रभु से वियोग हो जाता है। वह अपने को उनसे पृथक् समझने लगता है। ज्ञान रूपी जाग्रतावस्था के आने से जीव पुनः अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी—ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में गो० तुलसीदास के विचार तुलनीय हैं:—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
सो मायाबस भयो गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं ॥

अलंकार—पर्यायोक्ति।

कबीर सूता क्या करै, उठि[3] किन[4] रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मैं[5], सो क्यौं सोवै[6] सुक्ख ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—गोर (फा०)=क़ब्र। बासा=निवास।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि तू अज्ञान-निद्रा में सोता हुआ क्या कर रहा है? जागकर अपने स्वामी के समक्ष अपना दुःख क्यों नहीं रोता? एक दिन जिसको क़ब्र में रहना ही है, वह क्यों चैन से सो रहा है? उसे सचेत होकर प्रभु की शरण में जाना चाहिए।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

कबीर सूता क्या करै, गुन गोविंद के[7] गाइ।
तेरे सिर पर[8] जम[9] खड़ा, खरच[10] कदे का खाइ ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—कदे=(सं०) कदा, कभी का, बहुत दिनों से। जम=मृत्यु, यमराज। खरच खाइ=खाना खरचना एक मुहाविरा है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू अज्ञान-निद्रा में सोया हुआ क्या कर रहा है? तू प्रभु का गुणगान क्यों नहीं करता है? तेरे सिर पर यमराज खड़ा है। वह न जाने कब से धीरे-धीरे मृत्यु लोक के सभी प्राणियों की आयु को खर्चा करके खाता जा

---

१. युगला०—हनु०—विचार०—संगते। २. ना० प्र०—बीछड़िया। ३. युगला०—हनु०—विचार०—ऊठि न रोवो ४. ना० प्र०—न ५. युगला०—हनु०—बिचार०— में। ६. युगला०—क्या सोवै, ना०—प्र० क्यूँ सोवै। ७. युगला०—गुण गोविंद का, हनु०—विचार०—गुन सतगुरु का। ८. ना० प्र०—परि ९. हनु०—यम। १०. युगला०—खुरच।

रहा है। तू भी काल-ग्रस्त हो जाएगा, बचेगा नहीं। इसलिए जीवन रहते हुए सचेत होकर भगवान का स्मरण कर।

टिप्पणी—एक अन्य साखी में कबीर ने ठीक यही बात इस प्रकार कही है:—

झूठे सुख कौं सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद ॥

कबीर सूतां क्या करै, सूताँ होइ[1] अकाज।
ब्रह्मा का आसन डिगा,[2] सुनत[3] काल की गाज ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—सूतां = सोने से। गाज = गर्जन।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते हैं कि हे मनुष्यो! तुम मानव जीवन पाकर भी चेतते नहीं और परम पुरुषार्थ के प्रति जागृत नहीं होते। तुम सोते हुए क्या कर रहे हो? इसका भाव यही है कि अपने भीतर जो प्रत्यक् चैतन्य है, उसके प्रति उदासीन रहना ही सोना है। सोने से अर्थात् परम पुरुषार्थ के लिए प्रयत्नशील न होने से तुम्हारा जीवन व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि मानव योनि ही ऐसी है जिसमें जीव साधना के द्वारा परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। काल तुम्हारे सिर पर नाचता है। तुम व्यर्थ में साधना को टालते जाते हो। सोचते हो कि वृद्धावस्था में भजन करेंगे। तुम्हे यह पता नहीं है कि काल के चक्कर में कब आ जाओगे? काल के गर्जन से तो ब्रह्मा का भी आसन डिग जाता है।

टिप्पणी—प्रत्येक ब्रह्माण्ड का एक अधिष्ठाता ब्रह्मा होता है और उसके अधिष्ठातृत्व की भी एक निश्चित अवधि होती है। वह भी काल के ग्रास में आ जाता हैं। फिर मानव की क्या बिसात है?

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

केसौ कहि कहि कूकिए, नाँ सोइय[4] असरार।
राति[5] दिवस के कूकनैं,[6] कबहुँक[7] लगै पुकार ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—असरार = (अरबी-इसरार) हठपूर्वक। कूकनैं = पुकारना। कबहुँक = सम्भवतः कभी। केसौ = केशव, प्रभु।

व्याख्या—प्रभु को निरन्तर आर्त्त स्वर से पुकारते रहो। हठपूर्वक लगातार घोर निद्रा में न पड़े रहो। दिन-रात की पुकार से, सम्भव है, कभी सुनवाई हो जाय और तुम्हारी पुकार लग जाये।

'असरार' शब्द अरबी के 'इसरार' का तद्भव है। इसका अर्थ है—हठा यहाँ हठपूर्वक। सम्भव है यह शब्द 'असराढ़' का अपभ्रंश हो जिसका अर्थ होता है—घोर, भयानक।

---

१. युगला०—हनु०—विचार०—सूते होय २. ना० प्र०—आसण खिस्या, युगला०—हनु०—विचार०—को आसन डिगो। ३. ना० प्र०—सुणत, युगला०—हनु०—विचार०—सुनी। ४. ना० प्र०—सोइयै। ५. ना० प्र०—रीति। ६. ना० प्र०—कूकणैं, हनु०, विचार०—कूकते। ७. ना० प्र०—मत कबहूँ।

कहीं-कहीं 'मत कबहूं लगै पुकार' पाठ मिलता है। इसमें 'मत' 'मकु' का बिगड़ा रूप है, जिसका अर्थ है—शायद।

टिप्पणी—'कबहुँक लगै पुकार' में एक सुन्दर व्यञ्जना है। कचहरी में जो प्रार्थी होता है उसके मुकदमें की पेशी के समय चपरासी द्वारा पुकार लगायी जाती है कि अमुक व्यक्ति उपस्थित हो तो आ जाये। अतः यहाँ 'पुकार' में बुला लेने की व्यञ्जना है।

जिहि[1] घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि[2] रसना नहिं[3] राम।
ते नर इस[4] संसार में, उपजि षये[5] बेकाम॥ १७॥

शब्दार्थ—घटि = घट में, हृदय में, शरीर में। फुनि = पुनि, पुनः। षये = क्षये, नष्ट हो गये। रसना = रस लेनेवाली इन्द्रिय अर्थात् जिह्वा। बेकाम=व्यर्थ।

व्याख्या—जिनके हृदय में न प्रेम है, न प्रेम का आस्वाद और जिनकी जिह्वा पर राम नाम भी नहीं है, वे मनुष्य इस संसार में व्यर्थ पैदा होकर नष्ट होते हैं।

कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव।
सूने घर का पाहुनाँ[6] ज्यूँ आया त्यूँ जाव॥ १८॥

शब्दार्थ—साव = स्वाद। पाहुना = अतिथि।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिसने प्रेम नहीं चखा अर्थात् प्रभु के प्रेम का अनुभव नहीं किया और चखकर उसका स्वाद नहीं लिया उसका इस संसार में जन्म लेना और मर जाना सूने घर में अतिथि के आने-जाने के समान है। जैसे कोई मेहमान यदि ऐसे घर पर आता है जिसमें कोई रहता ही नहीं तो वह जैसे आता है वैसे ही उलटे पाँव वापस जाता है! उसे न कुछ खाने को मिलता है, न उसका स्वागत-सत्कार होता है, उसी प्रकार जो ईश्वर से प्रेम नहीं करता है, वह इस संसार में जैसे आया है वैसे ही चला जाता है। मानव जीवन से कुछ लाभ नहीं उठाता।

अलंकार—दृष्टान्त।

पहिलै[7] बुरा कमाइ करि[8], बाँधी विष[9] की पोट।
कोटि[10] करम फिल[11] पलक मैं, (जब) आया[12] हरि की ओट[13]॥ १९॥

शब्दार्थ—पोट = पोटली, गठरी। ओट = शरण। फिल = फेंक देना, ढकेल देना।

व्याख्या—पहले अर्थात् पूर्व जन्म में अनेक पाप-कर्म करके जीव ने जो विष की गठरी बाँध रखी है, प्रभु की शरण में जाने पर वह उसको क्षण भर में फेंक कर शुद्ध हो जाता है, चाहे वे कर्म करोड़ों की संख्या में क्यों न हों। कर्म तीन प्रकार के होते

---

१. हनु०, विचार०—जा घट। २. हनु०, विचार—पुनि। ३. ना० प्र०—नहीं। ४. तिवारी—आइ, हनु०, विचार०—पसु। ५. तिवारी०—खये, हनु०, विचार०—मरे। ६. ना० प्र०—पाहुणाँ। ७. ना० प्र०—पहली, युगला०—पहले ८. हनु०—के, युगला०—कै। ९. युगला०—विषय। १०. हनु०—करै। ११. हनु०—फल फिरे। १२. युगला०—आयो। १३. ना० प्र०—वोट।

हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म का जो परिणाम इस जीवन में प्रारम्भ हो गया है उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। प्रारब्ध कर्म भोगने से ही नष्ट होते हैं। संचित कर्म में अनेक ऐसे दुष्कर्म पड़े हुए हैं जिनका परिणाम अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। वे सब प्रभु की शरण में आने पर नष्ट हो जाते हैं। इसी भाव को कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—'कोटि करम फिल पलक में।' उन संचित कर्मों का भोग अब जीव को नहीं करना पड़ेगा। क्रियमाण कर्म वह हैं जो मनुष्य इस जीवन में कर रहा है। संचित कर्म पूर्व जन्म के होते हैं, क्रियमाण इस जीवन के। प्रभु की शरण में आने से अवशिष्ट संचित कर्म तो नष्ट हो जायेंगे ही, वह बुरे क्रियमाण कर्म भी न करेगा, क्योंकि उसके जीवन का लक्ष्य ही बदल गया है।

> कोटि क्रम पेलै पलक मैं,[1] जे रंचक आवै नाउँ।
> अनेक जुग जो पुन्नि करै,[2] नहीं राम[3] बिन ठाउँ॥ २०॥

शब्दार्थ—क्रम = कर्म। पेलै = फेंक देता है, ढकेल देता है। जे = यदि। रंचक = थोड़ा भी। पुन्नि = पुण्य। ठाउँ = स्थान।

व्याख्या—यदि प्रभु का तनिक भी नाम-स्मरण किया जाये तो वह पूर्व जन्म के करोड़ों दुष्कर्मों को क्षण भर में ढकेल कर नष्ट कर सकता है। किन्तु प्रभु-भक्ति के बिना मनुष्य चाहे अनेक युगों तक पुण्य करे, उसको कोई ठौर-ठिकाना नहीं मिल सकता है।

'नहीं राम बिन ठाउँ' का साधारण अर्थ ऊपर दिया गया है। किन्तु इसमें एक सुन्दर व्यञ्जना भी है कि पुण्य करने से जीव में शुद्धता आ सकती है। उसके फलस्वरूप उसे स्वर्ग आदि प्राप्त हो सकता है, किन्तु 'ठाउँ' अर्थात् स्वरूप में स्थिति राम की भक्ति के बिना नहीं प्राप्त हो सकती।

अलंकार—चपलातिशयोक्ति।

> जिहि[4] हरि जैसा जानियां[5], तिनकौं[6] तैसा लाभ।
> ओसों[7] प्यास न भाजई[8], जब लगि धसै न आभ॥ २१॥

शब्दार्थ—ओसों = ओस से। भाजई = भागता है, चला जाता है। आभ = (सं०—आप) जल, पानी।

व्याख्या—प्रभु को जिसने जिस प्रकार पहचाना है, उसी प्रकार उसको लाभ प्राप्त होता है। जब तक प्यासा पानी में डुबकी नहीं लगाता, तब तक केवल ओस चाटने से प्यास नहीं जाती।

---

१. तिवारी—कोटि करम फिल फलक मैं, युगला०—कोटि कर्म फिरे पलक मैं, हनु०—कोटि कर्म पल-पल कटे। २. तिवारी—जुग अनेक जो पुनि करैं, हनु०—अनेक जन्म जु पुण करै। ३. तिवारी, हनु०, युगला० —नाम। ४. तिवारी—जिन। ५. ना० प्र०—जाणियां। ६. ना० प्र०—तिनकूँ, हनु०—ताको। ७. तिबारी— ओसां, हनु०—ओसे, गुप्त—वोसां। ८ हनु०—मागई।

इस साखी में व्यञ्जना यह है कि नाना प्रकार के देवताओं के रूप में जो प्रभु को जानता है उसको जीवन में पवित्रता का लाभ हो सकता है, किन्तु उसके भीतर जो अविद्या की ग्रन्थि है जिसके कारण उसमें वासना या तृष्णा पैदा होती रहती है जो कि उसे कोटि-कोटि योनियों में भ्रमण कराती रहती है, वह अविद्या की ग्रन्थि और उसके परिणामस्वरूप तृष्णा नहीं जा सकती। जिसने प्रभु को सर्वव्यापी राम या ब्रह्म के स्वरूप में पहचाना है उसी की अविद्या-ग्रन्थि छिन्न होती है और उसके फलस्वरूप तृष्णा नष्ट होती है।

विभिन्न देवताओं की उपासना ओस चाटने के समान है। सारशब्द के रूप में प्रभु को पहचानना अगाध जलपान के समान है। इसी से तृष्णा नष्ट होगी।

अलंकार—निदर्शना।

राम पियारा[1] छांडि करि, करै आन का जाप।
वेस्या[2] केरा पूत ज्यौं[3], कहै कौन सौं[4] बाप॥ २२॥

शब्दार्थ—पूत = पुत्र। कौन सौं = कौन सा।

व्याख्या—जो परम प्रिय परमात्मा राम को छोड़कर अन्य देव-देवी का जप करता है, वह वेश्या के पुत्र के समान है, जो अपने वास्तविक पिता को नहीं जानता। वस्तुतः परमात्मा हीं सबका पिता है, अन्य कोई नहीं।

अलंकार—उपमा।

कबीर आपन[5] राम कहि, औरन[6] राम कहाइ।
जिहि[7] मुखि राम न ऊचरै,[8] तिहि मुख फेरि[9] कहाइ॥ २३॥

शब्दार्थ—ऊचरै = उच्चारण होना, कहना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं राम का जप करना ही चाहिये, उसे औरों से भी राम' कहलवाना चाहिये। जो व्यक्ति राम नाम का उच्चारण नहीं करता है, उससे बार-बार कहलाना चाहिये। वह कभी न कभी इसके महत्त्व को समझेगा और राम का जप करने लग जायेगा।

जैसे माया मन रमैं, यौं[10] जे राम रमाइ।
(तौ) तारा मंडल बेधि कै,[11] जहाँ[12] के सो तहँ जाइ॥ २४॥

व्याख्या—जिस प्रकार जीव का मन माया में रमण करता है, उसी प्रकार यदि उसका मन राम में रमण करे तो वह नक्षत्र खचित आकाश को भी भेदकर जहाँ से आया है वहीं पहुँच सकता है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो सकता है।

---

१. हनु०—नाम पियूं का। २. ना० प्र०—बेस्वाँ। ३. ना० प्र०—ज्यूँ। ४. ना० प्र०—सूँ। ५. ना० प्र०—आपणँ। ६. ना० प्र०—औरौं। ७. अन्य प्रतियों में—जा। ८. अन्य प्रतियों में—नीसरै। ९. अन्य प्रतियों में—राम। १०. ना० प्र०—यूँ। ११. ना० प्र०—छाँड़िकरि। १२. तिवारी—सो अमरापुर जाइ।

लूटि सकै तौ लूटि[1] लै, राम नाम को[2] लूटि ।
फिर पाछे[3] पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि[4] ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—तन = शरीर ।

व्याख्या—मानव शरीर ही एक ऐसी योनि है जिसमें साधना संभव है । मानव के भीतर सब तत्व विद्यमान हैं । यहाँ यह अवसर मिलता है जिससे वह तन, प्राण, मन सबसे प्रभुका स्मरण और साधना कर सकता है । इसीं योनि में राम नाम की लूट है । कबीर कहते हैं कि इस योनि को पाकर राम नाम को लूटो अर्थात् उनका निशिदिन स्मरण करो । जब यह शरीर छूट जाएगा तो यह आध्यात्मिक साधना संभव न हो सकेगी और तब पछताओगे कि एक ईश्वर प्रदत्त अवसर को गँवा दिया ।

लूटि सकै तौ लूटियौ,[5] राम नाम भंडार ।
काल कंठ तें[6] गहेगा, रूँधै दसों दुवार[7] ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—भंडार = निधि । रूँधै = अवरुद्ध ।

व्याख्या—राम नाम का अक्षय भाण्डार अवश्य यथाशक्य लूट लो । जब काल तुम्हारे कंठ को दबोचेगा, तब शरीर के दसों द्वार अवरुद्ध हो जायेंगे । उस समय तुम चेतना-शून्य हो जाओगे और राम नाम का स्मरण कैसे कर सकोगे ?

टिप्पणी—दस द्वार से तात्पर्य शरीर के दस छिद्रों से है । वे हैं—ब्रह्मरंध्र, दो कान, दो नेत्र, दो नासिका विवर, एक मुख, गुदामार्ग, मूत्रमार्ग ।

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार[8] ।
कहौ संतौ[9] क्यों[10] पाइए, दुर्लभ हरि[11] दीदार ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—विकट = दुस्तर । मार = बटमार, डाकू । दीदार (फा०) = दर्शन ।

व्याख्या—इस साखी में कबीर ने एक सुन्दर रूपक के द्वारा अपने भाव को व्यक्त किया है । पथिक का घर बहुत दूर है और मार्ग केवल लम्बा ही नहीं है, दुस्तर भी है । मार्ग में बहुत से बटमार भी मिलते हैं । ऐसी स्थिति में अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचना अत्यन्त दुर्लभ है । घर पहुँचने के समान प्रभु की प्राप्ति अपना लक्ष्य है । अनेक योनियों में भ्रमण करने पर कहीं जीव को यह अवसर मिलता है कि वह प्रभु की ओर अग्रसर हो । इसलिए मार्ग को लम्बा कहा गया है । माया के कारण यह मार्ग अत्यन्त दुस्तर भी है । राग-द्वेष, लोभ, मोह आदि बटमार हैं जो साधक-पथिक की आध्यात्मिक-यात्रा में अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं । कबीर कहते हैं कि हे संतो ! कहो, ऐसी स्थिति

---

१. ना० प्र०—लूटियौ । २. ना प्र०—है । ३. ना० प्र०—पीछे ही । ४. अन्य प्रतियों में—प्राण जाहिंगे छूटि । ५. हनु०, विचार०—कहैं कबिर तूँ लूटि ले, युगल०—कहैं कबीर लूटि ले । ६. हनु०, विचार०—को जब गरे, युगला०—जब गहेगा । ७. अन्य प्रतियों में—रौकै दसहूँ द्वार । ८. हनु०—भार । ९. विचार०, युगला०—संत । १०. ना० प्र०—क्यूँ । ११. विचार०—गुरु ।

में कोई अपने लक्ष्य तक कैसे पहुँचेगा ? ऐसी दशा में प्रभु का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए चेत जाओ और गुरु की सहायता से सरल मार्ग से विघ्नों से बचते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करो।

अलंकार—तृतीय विभावना की ध्वनि।

गुन[1] गाए, गुन[2] ना कटै, रटै न, राम बिवोग[3]।
अह[4] निसि हरि ध्यावै[5] नहीं, क्यों[6] पावै द्रुलभ[7] जोग॥ २८॥

शब्दार्थ—गुन = कीर्तन-भजन। गुन = त्रिगुणात्मक वन्धन। विवोग = वियोग। अहनिसि = दिन-रात। ध्यावै = सुरति लगाना। द्रुलभ = दुर्लभ, कठिन।

व्याख्या—प्रभु का केवल गुणगान करने से अर्थात् केवल यह कहने से कि वह सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् हैं और कीर्तन-भजन करने से प्रकृति का त्रिगुणात्मक बन्धन नहीं कट सकता। यदि व्यक्ति हृदय से उसका स्मरण न करता रहे तो राम अर्थात् प्रभु से वियोग बना रहेगा। जो उसमें दिन-रात सुरति नहीं लगाता, वह प्रभु से उस संयोग को कैसे प्राप्त कर सकता है, जो अत्यन्त दुर्लभ है।

अलंकार—यमक, वक्रोक्ति।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरताँ[8] हरि नाम[9]।
सूली ऊपरि नट[10] विद्या,[11] गिरै[12] त नाहीं ठाम[13]॥ २९॥

शब्दार्थ—खरी = बड़ी, अधिक। विद्या = कला। ठाम = स्थान, सहारा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु के नाम स्मरण करने अर्थात् वास्तविक भक्ति के मार्ग में बड़ी कठिनाई है। यह कठिनाई उसी प्रकार की है जैसे सूली के ऊपर नट द्वारा दिखलायी जाने वाली कला, जिसमें यह भयावह स्थिति बनी रहती है कि यदि वह वहाँ से गिरा तो फिर उसके बचने का कोई सहारा नहीं है।

इस साखी में कबीर ने भक्ति की साधना में जो सबसे बड़ी कठिनाई है, उसकी ओर संकेत किया है। यों तो तन्त्र; हठयोग आदि की साधनाओं के समान भक्ति में आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि की यन्त्रणा नहीं है। ज्ञानयोग के समान प्रखर बुद्धि की भी भक्ति में आवश्यकता नहीं है। परन्तु सच्ची भक्ति की सबसे बड़ी शर्त है—अहं का पूर्णरूपेण त्याग, खुदी का खात्मा। यह नहीं हो पाता और इसके न होने से यदि केवल नाम जप होता रहे तो भक्ति का वास्तविक ध्येय नहीं प्राप्त होता। इसीलिए कबीर कहते हैं कि भक्ति नट के शूली पर खेलने के समान है। 'शूली पर खेल' में अहं के विनाश

---

१. ना० प्र०—गुण। २. ना० प्र०—गुण। ३. विचार०, युगला०—नाम वियोग। ४. विचार०, युगला०—अहि। ५. विचार०, युगला०—ध्यायो। ६. ना० प्र०—क्यूँ। ७. विचार—दुरलभ। ८. युगला०, विचार०—सुमिरत हरि को नाम। ९. तिवारी—नाउँ। १. तिवारी—खेलना। ११. युगला०, विचार०—बिंधा, साथरा। १२. ना० प्र०—गिरूँ। १३. तिवारी—ठाउँ।

की ओर ही संकेत है। इसी खेल का जो पूर्णरूप से निर्वाह नहीं कर पाता, वह भक्ति के चरम लक्ष्य से पतित हो जाता है।

तुलसीदास ने भी कहा है :—

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।
(विनय पत्रिका-पद १६७)

अलंकार—दृष्टान्त।

कबीर राम ध्याइ[1] लै, जिभ्या[2] सौं करि मंत[3]।
हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत[4] ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—मंत = मन्त्र। छीलर = छिछला तालाव, पोखरा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिह्वा से तो राम का मन्त्र जपते रहो और चित्त से उनका ध्यान करते रहो। मन्त्र जपना प्राण की क्रिया है, ध्यान मन की क्रिया है। प्राण और मन दोनों प्रभु में लगा दो। प्रभु सागर के समान हैं, अन्य अनन्त देव-देवियाँ छिछले तालाब के समान हैं। छिछले तालाब रूपी देव-देवियों के चक्कर में पड़कर महासागर के समान प्रभु को मत भुला दो। राम अन्य देव-देवियों की तुलना में सागर के समान हैं।

अलंकार—रूपक, दृष्टान्त।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।[5]
फूटा नग ज्यों[6] जोड़ि मन, संधिहि[7] संधि मिलाइ ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—मुखि = मुख से। अमृत = (i) जो मृत नहीं है अर्थात् अमर। (ii) जो दूसरों को अमर कर देता है। नग = मणि। संधि = अवकाश, दरार, मिलने की जगह।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू उस अमर तत्त्व का गुणगान कर, जो अमृत के समान औरों को भी अमर कर देता है। इस प्रकार उस प्रभु का गुण गाकर तू उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लें। अपने मन को प्रभु में उसी प्रकार मिला दे, जैसे जौहरी फूटे हुए नग को संधि से संधि मिलाकर जोड़ देता है।

टिप्पणी—यहाँ नग या मणि की उपमा में सिद्धों की परम्परा के एक अवशेष की झलक है। सिद्धों की साधना में परमतत्त्व को 'वज्र' और चित्त को 'मणि' के समान माना गया है।

अलंकार—उपमा।

---

१. युगला०—रिझायले। २. हनु०—मन करि प्रेम प्रतीत, युगला०—जिह्वा। ३. युगला०—मित्त। ४. युगला०—अनित्त, हनु०—अनीत। ५, हनु०—मन ही में गुण गाइ। ६. ना० प्र०—ज्यूँ जोरि। ७. ना० प्र०—संधे।

कबीर चित्त चमंकिया,[१] चहुँ[२] दिस लागी लाइ।
हरि[३] सुमिरन[४] हाथौं घड़ा, बेगे[५] लेहु बुझाइ॥ ३२॥
—(६७)

शब्दार्थ—चमंकिया = चमक गया अर्थात् तप्त हो गया। लाइ = आग।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि इस संसार में चारों ओर विषय वासना रूपी आग लगी हुई है। हे जीव! उसके ताप से तेरा चित्त तप्त हो उठा है। परन्तु तू घबड़ाता क्यों है? प्रभु के स्मरण रूपी पावन जल से भरा हुआ घट तेरे हाथ में है अर्थात् तू प्रभु का स्मरण करने की स्थिति में है। उस घड़े से तू विषय-वासना रूपी आग को शीघ्र ही बुझा ले।

अलंकार—सांग रूपक।

---

१. युगला०—चंचल किया, बिचार०—चंचल भया। २. तिवारी०—दहुँ। ३. विचार०—गुरु। ४. ना० प्र०—सुमिरण हाथूँ। ५. हनु०, विचार०, युगला०—लीजै वेगि।

(३) बिरह को अंग

संदर्भ—साधारणतः जीव अपने को अपने में ही पूर्ण समझता है। परन्तु एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह अपने को अपूर्ण अनुभव करने लगता है। उस स्थिति में अपूर्ण पूर्ण के लिए व्याकुल हो उठता है, अंश अपने को अंशी से वियुक्त देखकर आतुर हो उठता है। यही बिरह की स्थिति है। बिरह का अर्थ है—विशेष रूप से रहित होने की अनुभूति। तब उसके हृदय में अंशी या पूर्ण से मिलन की आग भड़क उठती है। उसी स्थिति का वर्णन इस 'अंग' में किया गया है। यहाँ 'जीव' को बिरहिणी नायिका माना गया है।

> राती[1] रूनी बिरहिनी,[2] ज्यौं बच्चों को[3] कुंज।
> कबीर अन्तर प्रगट्यो, बिरह अग्नि को पुंज[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—राती = रात भर। रूनी = रोती रही। कुंज = क्रौंच पक्षी। पुंज = ढेर या समूह।

व्याख्या—इस साखी में जीव की उपमा बिरहिणी से दी गई है। बिरहिणी अपने प्रिय के वियोग में रात भर उसी प्रकार रोती रही, जैसे क्रौंच पक्षी अपने बच्चों के वियोग में रोता रहता है। कबीर कहते हैं कि बिरह रूपी अग्नि पुंज अपने भीतर भभक उठा अर्थात् विरह वेदना जग गई।

टिप्पणी— (i) कहीं-कहीं 'बच्चों को' के स्थान पर 'बंचौं को' पाठ मिलता है। इसका अर्थ होगा—जैसे क्रौंच पक्षी अपने प्रिय से वंचित होने पर रोता है।

(ii) दूसरी पंक्ति का अन्य पाठ इस प्रकार है :—

'कबीर अन्तर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज।' इससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता।

अलंकार—उपमा, रूपक।

> अम्बर कुंजाँ कुरलियाँ,[5] गरजि भरे[6] सब ताल।
> जिन तें[7] गोविंद बीछुटे[8], तिनकौ[9] कौन हवाल ॥ २ ॥

---

१. ना० प्र०–रात्यूँ। २. ना० प्र०–विरहनी। ३. ना० प्र०–ज्यूँ बंचौ कूँ, गुप्त०–ज्यूँ बच्चा कौं, युगला०–ज्यूँ रविचांकू। ४. ना० प्र०–कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्याविरहा पुंज। ५. हनु०—विचार०—कुंज कुरलाइया, युगला०—अमर कुंज उर लाइया ६. हनु०—विचार०—युगला०—भरा ७. ना० प्र० जिनिथैं ८. तिवारी—जिनतैं साहिब बीछुरा, युगला०-विचार०—बीछुरा ९. ना० प्र०—तिनके कौंण, हनु०—विचार०—तिनका कौन।

शब्दार्थ—अम्बर = आकाश। कुंजा = क्रौंच पक्षी। कुरलियाँ = चीखने लगे। गरजि = गुंजायमान करते हुए। जिन तें = जिनसे।

व्याख्या—आकाश में क्रौंच पक्षी अपनी प्रिया की बिरह-वेदना से रो रहा है। इस व्यथा से उसने सब तालों को गुंजायमान करते हुए अपने अश्रुजल से उनको भर दिया है। जब केवल एक रात्रि के वियोग से एक पक्षी की यह अवस्था हो जाती है तो उस जीव का क्या हाल होगा, जो अनेक जन्मों से प्रभु से बिछुड़ा हुआ है।

टिप्पणी—क्रौंच पक्षी को हिन्दी में 'कुंजा', 'कुंज', या 'कुररी' कहते हैं। बिरह वेदना के आधिक्य की व्यञ्जना अथवा विलाप के लिए इसका क्रन्दन साहित्य में कवि-रूढ़ि जैसा बन गया है। तुलसी ने सीता के विलाप की मर्म-वेदना को व्यक्त करने के लिए क्रौंच को ही उपमान रूप में प्रस्तुत किया है—'विलपत अति कुररी की नाईं।' कबीर की इस साखी से बिलकुल मिलता-जुलता एक दोहा 'ढोला मारू रा दूहा' में भी मिलता है—

राति जु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल ॥५३॥

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

चकई बिछुरी रैनि की,[1] आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सौं,[2] ते दिन मिले न राति[3] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—परभाति = प्रभात, प्रातःकाल।

व्याख्या—कवि समय है कि चकवा-चकवी रात को अलग रहते हैं और दिन होने पर मिल जात हैं। कबीर कहते हैं कि चकवी जो रात्रि में चकवे से वियुक्त रहती है, प्रातःकाल होते ही अपने प्रिय से मिल जाती है। परन्तु बेचारा जीव जो प्रभु से वियुक्त हो गया है, वह न तो रात को मिल पाता है और न दिन को।

इसमें व्यञ्जना यह है कि चकवी में तो वियोग की वेदना रहती है, परन्तु अज्ञानी जीव में वियोग की वेदना ही नहीं होती। फिर संयोग कहाँ से हो?

अलंकार—व्यतिरेक

बासुरि[4] सुख नाँ रैनि[5] सुख, ना सुख सुपिनै[6] माँह।
कबीर[7] बिछुड़े[8] राम सौं[9], नाँ[10] सुख धूप न छाँह ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बासुरि = वासर, दिन। रैनि = रात्रि। सुपिनै = स्वप्न में।

---

१. ना० प्र०—चकवी बिछुटी रैणि की २. तिवारी—विचार०—युगला०—जो नर बिछुरे राम सौं ३. विचार—दिवस मिले नहिं राति। ४. हनु०—विचार०—युगला०—वासर ५. ना प्र०—ना रैणि, अन्य प्रतियों में—नहिं रैनि ६. हनु०—विचार०—युगला०—सपना ७. हनु०—बिचार०—युगला०—जो नर बिछुरे राम सों ८. ना० प्र०—बिछुट्या ९. ना० प्र०—सूँ १०. हनु०—तिनको

व्याख्या—अंश जब अंशी से वियुक्त हो जाता है, जुज्र जब कुल से अलग हो जाता है तो स्वभावतः उसे तब तक चैन नहीं मिल सकता, जब तक अंश अंशी से, जुज्र कुल से मिल न जाय। कबीर कहते हैं कि जीव जो अंश हैं और राम जो अंशी हैं, उसकी यही गति है। राम से बिछुड़ने पर उसे न दिन में चैन है, न रात में। उसे स्वप्न में भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता। उसे न धूप में सुख है और न छाया में। जीव अपने अंशी से बिछुड़कर इधर-उधर सुख को टोहता रहता है। परन्तु उसे सुख मिलता नहीं। वह जिसे सुख समझता है वह भी दुःख में परिणत हो जाता है। उसे वास्तविक सुख अपने अंशी या राम से मिलने पर ही मिल सकता है।

बिरहिनि ऊभी पंथ सिरि,[1] पंथी बूझै[2] धाइ।
एक सबद[3] कहि पीव का, कबर[4] मिलैंगे आइ॥ ५॥

शब्दार्थ—ऊभी = खड़ी है। पंथ सिरि = पंथ के सिरे पर, रास्ते के छोर पर। पंथी = पथिक। कबर = क + बर (बार)—किस दिन।

व्याख्या—इस साखी में विरहिणी जीवात्मा का प्रतीक है और पंथी साधक या गुरु का प्रतीक है। जैसे विरहिणी रास्ते के छोर पर खड़ी हुई प्रत्येक पथिक से पूछती है कि मेरे प्रियतम का कोई संदेश बता दो। वह कब आकर मिलेंगे? वैसे ही जीव संसार-रूपी पथ पर खड़ा हुआ प्रत्येक साधक या संत से पूछता रहता है कि मेरे प्रियतम राम का कोई संदेश बता दो कि उनसे मेरा मिलन कब होगा?

टिप्पणी—जीव की सांसारिक स्थिति में, चाहे वह कितना ही सुख-ऐश्वर्य से सम्पन्न क्यों न हो, एक विचित्र अभाव तथा अपूर्ति की टीस बनी रहती है। जिनमें यह वेदना अधिक होती है, वे शास्त्र, शास्त्री, साधक, संत आदि से पूछते रहते हैं कि इस वियोग का अंत कब होगा? जिनमें वेदना तीव्र नहीं होती, वे भी एक अनंत, अक्षय आनन्द की खोज में लगे रहते हैं। सांसारिक भोग से उनकी भी पूर्ण तृप्ति नहीं होती। वे एक भोग के अनन्तर दूसरे भोग से चिपटते रहते हैं। परन्तु उन्हें यह पता नहीं चलता कि अक्षय सुख कैसे मिलेगा? चाहते वे भी अक्षय सुख ही हैं। यही अक्षय आनन्द प्रियतम का संदेश है।

बहुत दिनन की जोवती,[5] बाट तुम्हारी राम।
जिव[6] तरसै तुझ[7] मिलन को[8], मन नाहीं बिसराम[9]॥ ६॥

शब्दार्थ—जोवती = प्रतीक्षा करती। बाट = (सं०-वाट) = मार्ग।

---

१. विचार०, युगला०—सिर। २. विचार०, हनु०, युगला०—पूछै। ३. विचार०—युगला०—सबद कहा। ४. विचार०—कबहिं। ५. विचार०—जोहती, युगला०—जो हती। ६. अन्य प्रतियों में—जिय। ७. अन्य प्रतियों में—तुम। ८. तिवारी—कौं, ना० प्र०—कूँ। ९. ना० प्र०—मनि नाहीं विश्राम।

व्याख्या—हे प्रभु ! मैं बहुत दिनों से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। मेरा हृदय तुमसे मिलने के लिए व्याकुल है और मन में चैन नहीं है।

प्रत्येक जीव को एक विचित्र अभाव का अनुभव होता है। साधारण जीव इस अभाव को समझ नहीं पाते। प्रौढ़ जीवों की ही समझ में आता है कि यह अभाव अपने केन्द्र या मूल से वियुक्त होने का परिणाम है। वे ही विरह की वेदना का अनुभव करते हैं। विरह का अर्थ ही है—विशेष प्रकार से रहित हो जाना।

बिरहिन ऊठै भी पड़ै,[1] दरसन कारनि[2] राम।
मूवाँ पीछैं देहुगे[3], सो दरसन किहि काम[4] ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मूवाँ = मरने पर। कारनि = लिए।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे राम ! तुम्हारे दर्शन के लिए तुम्हारे वियोग में विरहिणी उठने का प्रयत्न करती है, किन्तु वियोगजन्य दुःख से वह इतनी कृश एवं दुर्वल हो गई है कि उठने का प्रयत्न करने पर भी बार-बार पृथ्वी पर गिर पड़ती है। इसलिए यदि तुम उसके मरने के बाद दर्शन दोगे तो वह दर्शन किस काम का होगा ?

टिप्पणी (१) 'ऊठै भी पड़ै' में 'भी' शब्द द्वारा एक विशेष बल (force) लाया गया है। भाव यह है कि विरहिणी की व्यथा इतनी तीव्र है कि वह विरह-वेदना में पृथ्वी पर पड़ी हुई पूरे तौर से उठ भी नहीं पाती। वह उठने का प्रयत्न करती है कि फिर गिर पड़ती है। इस प्रकार कबीर ने विरह की तीव्रता को सुन्दर रूप से व्यक्त किया है।

(२) इसमें एक व्यञ्जना यह भी है कि यदि जीते-जी प्रभु से मिलन हो जाय तो श्रेयस्कर है, यदि मरने के बाद मिलन हुआ तो किस काम का ? कबीर की दृष्टि में जीवन्मुक्ति बिदेहमुक्ति से अधिक श्रेयस्करी है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

मूवाँ पीछैं जिनि मिलै[5], कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब[6], (तब) पारस कौनै[7] काम ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—मूँवा पीछे = मरणोपरान्त। जिनि = मत। घाटा=घटित हो गया अथवा घट गया, समाप्त हो गया।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे राम ! मरणोपरान्त मत मिलो अर्थात् मरने के बाद तुम्हारे मिलने से क्या लाभ ? जब सब लोहा ही पत्थर हो जाय तो फिर पारस मिलने से क्या लाभ है ? ठीक इसी प्रकार जब साधक साधना-तपस्या करते-करते बिल्कुल निष्प्राण हो जाय, तब हे प्रभु ! यदि आप मिले भी तो क्या लाभ ? क्योंकि जो

---

१. तिवारी, हनु०, युगला०—विरहिन उठि उठि भुइं परै। २. तिवारी, हनु०—कारन। ३. तिवारी-मूएँ दरसन देहुगे, हनु०—मूये पीछे देहुगे। ४. तिवारी—सो आवै कौने काम। ५. तिवारी—हनु०, विचार०—मूएँ पीछै मति मिलौ। ६. अन्य प्रतियों में—लोहा माटी मिलि गया। ७. ना० प्र०—कौणें, अन्य प्रतियों में—किहिं।

साधक तुम्हारे मिलन का इच्छुक था, वह ही अब केवल अस्थि-मास का ढेर रह गया है। जैसे यदि लोहा अपना सार-तत्व खो दे और पाषाणवत् हो जाय तो पारस से मिलने पर भी वह सुवर्ण नहीं हो पायेगा। इसलिए हे प्रभु! इस जीवन में ही अपने दर्शन देने की कृपा करो।

टिप्पणी—(१) इस साखी की दूसरी पंक्ति के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ में अन्वय इस प्रकार होगा—सब लोहा पाथर घाटा अर्थात् सारा लोहा पत्थर रूप में घटित हो गया अर्थात् उसमें लोहापन न रह गया। इस पंक्ति का दूसरा अर्थ यह हो सकता है—यदि सब लोहा पत्थर पर घिसते-घिसते घट जाय अर्थात् निःशेष हो जाय तो फिर पारस मिला भी तो किस काम? यदि लोहा ही समाप्त हो गया तो पारस किसे स्वर्ण बनायेगा। इस अर्थ में 'पर' शब्द की योजना करनी पड़ती है—सब लोह पाथर (पर) घाटा। दोनों अर्थों से भाव में कोई अन्तर नहीं आता है।

(२) इसमें विरह वेदना की अतिशयोक्ति व्यञ्जित है। यदि बिरहिणी विरह में प्रतीक्षा करते-करते प्राण खो बैठे तो फिर प्रिय मिला भी तो क्या लाभ? ठीक इसी प्रकार यदि साधक का सारा जीवन साधना में समाप्त हो गया और प्रभु का साक्षात्कार न हो सका तो वाद में प्रभु के साक्षात्कार का मूल्य ही क्या रह जायेगा?

अलंकार—दृष्टांत।

अँदेसौ नहि[१] भाजिसी[२], संदेसौ कहियाँ[३]।
कै हरि[४] आयाँ भाजिसी[५], कै हरि ही पासि गयाँ[६]॥ ९॥

शब्दार्थ—अँदेसौ = आशंका, चिंता। कहियाँ = कहने से। कै = या तो। आयाँ = आने से। भाजिसी = भाग सकती है। गयाँ=जाने से।

व्याख्या—बिरहिणी की आशंका, चिंता और व्यथा केवल प्रिय का संदेश कहने से नहीं जा सकती। वह या तो प्रभु के आने से अथवा उस विरहिणी के प्रभु के पास जाने से ही जा सकती है अर्थात् जीव का बिरहजन्य दुःख केवल प्रभु-मिलन से ही जा सकता है, बातों से नहीं।

आइ न सक्कौं[६] तुझ्झ पै, सकूँ न तुज्झ[७] बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥ १०॥

व्याख्या—बिरहिणी कहती है कि हे प्रभु! मेरे में यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं तुम तक पहुँच सकूँ और न तो यही शक्ति है कि मैं तुम्हें अपने पास बुला लूँ। ऐसी स्थिति

---

१. ना० प्र०-अँदेसड़ा न। २. विचार०-भागसी। ३. तिवारी-कहियांह, हनु०-कँह आय, विचार०, युगला०—कहियाय। ४. हनु०-आए हरि। ५ विचार०, युगला०-भाग सों। ६. तिवारी०-गयांह, युगला०-गयाय, हनु०-पासे जाय। ६. ना० प्र०—सकौं तुझ पै, युगला०—सकिहौं तोहि पै, हनु०—सकौ ना तूझ पै। ७. ना० प्र० तुझ बुलाइ, हनु० युगला०-तुझे बुलाय।

में यदि तुम स्वयं मुझसे न मिलोगे तो यह विरह-व्यथा वैसी ही बनी रहेगी और इस बिरहाग्नि में तपा-तपाकर तुम मेरा प्राण ले लोगे।

यह[1] तन जारौं[2] मसि करौं[3], ज्यूँ[4] धूवाँ जाइ सरग्गि[5]।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि[6] ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—जारौं=जला दूँ। मसि=स्याही, भस्म। ज्यूँ = जिससे। सरग्गि=स्वर्ग। मति = मकु, शायद, संभव है।

व्याख्या—बिरहिणी कहती है कि बिरह-व्यथा सही नहीं जाती। जी में आता है कि इस शरीर को जलाकर भस्म कर डालूँ जिससे धुआँ स्वर्ग तक पहुँच जाय। संभव है उस धुएँ को देखकर प्रभु दया करें और अपनी दर्शन-वर्षा से इस बिरहाग्नि को बुझा दें।

तुलनीय—यह तन जारी मसि करूँ, धूवाँ जाइ सरग्गि।
मुझ प्रिय वद्दल होइ करि, बरसि बुझावै अग्गि ॥ १८१ ॥
—ढोला मारू रा दूहा

अलंकार—अतिशयोक्ति।

यह तन जारौं[7] मसि करौं[8], लिखौं[9] राम का नाउँ।
लेखनि करौं[10] करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—लेखनि=लेखनी, कलम। करंक = खोपड़ी, सिर की हड्डी।

व्याख्या—यह विरह-व्यथा सही नहीं जाती। जी करता है कि इस शरीर को जलाकर, उसकी भस्म से स्याही बनाऊँ और मस्तिष्क की हड्डी से लेखनी बना-बनाकर राम का नाम लिखकर उनके पास पहुँचाऊँ, जिससे वे समझ जायँ कि बिरहिणी की क्या दशा है ?

कबीर पीर पिरावनी, पंजर[11] पीर[12] न जाइ।
एक जु पीर पिरीत की[13], रही कलेजे[14] छाइ ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—पिरावनी=पीड़ा देने वाली। पंजर=शरीर। जु=जो। पिरीत = प्रीति।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सामान्यतया कोई भी पीड़ा कष्टकारक होती ही है और शरीर से वह पीड़ा जल्दी जाती नहीं, किन्तु प्रेम की पीड़ा अनूठी होती है। उसकी कसक कलेजे के अन्दर तक छा जाती है।

---

१. विचार०, युगला०—या। २. ना० प्र०—जालौं। ३. ना०, प्र०—करूँ। ४. हनु०—करौं धुआँ सो रंग। ५. विचार०, युगला०—सुरंग। ६. हनु०, विचार०, युगला०—अंग। ७. ना० प्र०—जालौं। ८. हनु०, विचार०—करूँ। ९. युगला०—लिखूँ। १०. ना० प्र०— लेखणि करूँ। ११. विचार०—पिंजर। १२. ना० प्र०—पीड़। १३. ना० प्र०—एक ज पीड़ परीत की। विचार—पीर जो प्रीति। १४. ना० प्र०—कलेजा।

टिप्पणी—इसमें अन्य पीड़ाओं से प्रेम की पीड़ा की एक विशेषता को व्यञ्जित किया गया है। प्रेम की पीड़ा में अनूठापन यह है कि वह प्रिय लगती है।

संत चरनदास ने भी कहा है :

वह बिरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद ॥

अलंकार—व्यतिरेक।

चोट सताँनीं[1] बिरह की, सब तन जरजर[2] होइ।
मारनहारा जानिहै,[3] कै जिहिं[4] लागी सोइ ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—सताँनी = सताने वाली, कष्टदायिनी।

व्याख्या – बिरह की चोट अत्यन्त कष्टदायिनी होती है। इससे समस्त शरीर जर्जर हो जाता है। इस चोट को चोट देने वाला अर्थात् प्रिय समझता है या जिसको वह चोट लगी है अर्थात् प्रेमी ही समझता है।

टिप्पणी—आध्यात्मिक प्रेम की एक बड़ी विचित्रता है। अपने भीतर जो साक्षि-चैतन्य है, कबीर ने जिसे 'राम' कहा है, वह जब यह देख लेता है कि जीव अब इस अवस्था में पहुँच गया है कि उसमें प्रेम उत्पन्न करने से वह दिन-प्रतिदिन प्रभु की ओर अग्रसर होता जायेगा, तब वह उसके भीतर बिरह उत्पन्न कर देता है। कबीर ने उसी ओर संकेत किया है कि जिसने चोट लगायी है वह जानता है अथवा जिसे चोट लगी है, वह जानता है।

तुलनीय—हिरदय भीतर दौ बलै, धुवाँ न परगट होइ।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोइ ॥
—कबीर

कर कमान[5] सर साँधि करि, खैंचि जु मारा[6] माँहि।
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नाँहि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—कमान = धनुष। साँधिकरि = संधानकर, निशाना लगाकर। माँहि = मध्ये > माँझ > माँहि, भीतर। सुमार = सु + मार = अच्छा निशाना, सफल चोट।

व्याख्या—प्रियतम प्रभु ने हाथ में धनुष लेकर तीर का निशाना साधकर भीतर अथवा हृदय में जो चोट की है, वह सफल निशाना मर्म में समा गया है। इस चोट से आहत जियेगा या नहीं, इसमें सन्देह है अर्थात् इस चोट से उसका बचना कठिन है।

---

१. ना० प्र०—संताणीं, विचार०, युगला०—सतानै। २. युगला०—जंजर। ३. ना० प्र०—मारणहारा जाँणिहै। ४. विचार, युगला०—जिस। ५. ना० प्र०—कमाण। ६. ना० प्र०—मार्‌या।

टिप्पणी—प्रभु की यह चोट 'अहंता या खुदी' पर है, जिसको वह समाप्त करना चाहता है। 'अहं' के विनाश से ही प्रभु का वास्तविक साक्षात्कार हो सकता है। कबीर ने एक अन्य साखी में भी कहा है :—

पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड़ग, देखा सुना न कान॥

अलंकार—अन्योक्ति, संदेह।

जबहीं मारा[1] खैंचि करि, तब मैं पाई जाँनि[2]।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजे छाँनि[3]॥ १६॥

शब्दार्थ—मरम्म = मर्म। छाँनि = छेदकर।

व्याख्या—जब प्रियतम प्रभु ने प्रेम रूपी बाण खींचकर मारा, तब यह भान हुआ कि अब मुझे प्रभुमुखी अथवा प्रत्यङ्मुखी होना है। वह चोट मर्मभेदी है और कलेजे को छेदकर आरपार हो गयी है।

सोरठा—जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच्चु पाऊँ नहीं॥ १७॥

शब्दार्थ—सरि = सर या बाण से। सच = सुख, शान्ति, सत्य।

व्याख्या—जो प्रेम-बाण आपने कल मारा था, वह मेरे मन में जगह कर गया। वही बाण आज फिर मारिये। मेरा हृदय उस प्रेम-बाण के बिना सुख-शान्ति नहीं पाता। मेरी यही आकांक्षा है कि मेरे भीतर बिरह-वेदना बनी रहे। उसके बिना मैं शान्ति-लाभ नहीं कर सकता।

'सच' सत्य का भी तद्भव हो सकता है। उस स्थिति में अर्थ होगा कि बिरह-वेदना के बिना सत्य का लाभ नहीं हो सकता।

अलंकार—उल्लास।

बिरह भुवंगम तन बसै[4], मन्त्र न लागै[5] कोइ।
राम[6] वियोगी ना जिअै[7], जिअै[8] त बौरा[9] होइ॥ १८॥

शब्दार्थ—भुवंगम = सर्प। त = तो।

व्याख्या—बिरह रूपी सर्प शरीर के भीतर निवास करता है। उस पर किसी मन्त्र का उपचार सफल नहीं हो सकता। राम से वियुक्त जीव बिरह-वेदना के कारण प्राण छोड़

---

१. ना० प्र०—जबहूँ मार्‍या। २. ना० प्र०—जाँणि। ३. ना० प्र०—छाँणि। ४. युगला०—डसा, हनु०—डँशा। ५. तिवारी—मानै। ६. युगला०—बिरह। ७. ना० प्र०—जिवै। ८. ना० प्र०—जिवै। ९. तिवारी—बउरा।

देता है या जीवित रहता है तो पागल-सा ही रहता है अर्थात् संसार की दृष्टि में वह पागल-सा हो जाता है। विषयों के प्रति उसकी कोई आसक्ति नहीं रह जाती।

अलंकार—रूपक।

> बिरह भुवंगम पैसि करि[1], किया कलेजै[2] घाव।
> साधू[3] अंग न मोड़ही[4], ज्यौं[5] भावै त्यौं[6] खाव॥ १९॥

शब्दार्थ—पैसि करि = पैठकर, घुसकर। मोड़ही = मोड़ना, हटाना। ज्यौं भावै = जैसा चाहे।

व्याख्या—बिरह रूपी सर्प ने भीतर घुसकर कलेजे में घाव कर दिया है। फिर भी प्रेमी-भक्त मुड़ता नहीं अर्थात् बिरह से अलग नहीं होना चाहता। उस सर्प की जैसी इच्छा हो, वैसे ही खाता रहे अर्थात् प्रेमी को बिरह प्रिय होता है। ज्यों-ज्यों बिरह बढ़ता है, त्यों-त्यों वह मिलन के लिए उत्सुक होता है। इसलिए बिरह इष्ट है, अनिष्ट नहीं।

अलंकार—रूपक, उल्लास।

> सब रग तंत[7] रबाब तन, बिरह बजावै नित्त[8]।
> और न कोई सुनि[9] सकै, कै साईं कै चित्त[10]॥ २०॥

शब्दार्थ—रग = रगें। तंत्र = तन्त्री। रबाब (फा०) = वाद्य विशेष।

व्याख्या—बिरही का शरीर रबाब वाद्य जैसा होता है और उसकी सारी रगें तन्त्रियों जैसी होती हैं। बिरह उसको नित्य बजाता रहता है। परन्तु उस धुन (Tune) को दूसरा कोई नहीं सुन सकता। उसे प्रभु सुनते हैं, जिसके बिरह में बिरही व्याकुल होता है या बिरही का चित्त हो सुन सकता है।

भाव यह है कि जीव को जब यह अनुभव होता है कि वह तत्त्व से पृथक् हो गया है, तब उसके हृदय में मिलन की एक विचित्र व्यग्रता उत्पन्न होती है। इस व्यग्रता से उसके सारे शरीर में एक वेदना का स्पन्दन होता रहता है जिसका अनुभव केवल वह बिरही कर सकता है अथवा जिसके लिए वेदना होती है, वह जानता है।

रबाब—रबाब आधुनिक सरोद और सारंगी के मध्य का बाजा है। इसमें लगभग चार तार होते हैं। यह दो प्रकार का होता है—एक तो सारंगी के समान गज से बजाया जाता है, दूसरा जवा या त्रिकोण से बजाया जाता है। यह बाजा भारत में मुसलमानी काल में ईरान से आया।

अलंकार—सांग रूपक, विशेषोक्ति।

---

१. तिवारी, हनु०—पैठिकै, युगला०—परसि करि। २. तिवारी—करेजै। ३. हनु०, युगला०—बिरही। ४. तिवारी, हनु०, युगला०—मोरही। ५. ना० प्र०—ज्यूँ। ६. ना० प्र०—त्यूँ। ७. तिवारी—तांति, हनु०, युगला०—ताँती। ८. हनु०, युगला०—नीत। ९. ना० प्र०—सुणि। १०. युगला०—की साईं की चीत।

बिरहा बुरहा जिनि[१] कहौ, बिरहा है सुलतान[२]।
जा[३] घट बिरह न संचरै[४], सो घट सदा[५] मसान ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—बुरहा = बुरा। सुलतान = राजा, श्रेष्ठ। मसान = श्मशान।

व्याख्या—बिरह को बुरा मत कहो। बिरह तुच्छ नहीं, श्रेष्ठ है। जीवन का राजाधिराज है। जिस हृदय में बिरह का संचार नहीं होता, वह सदा श्मसान के समान है अर्थात् जिस व्यक्ति में बिरह का भाव नहीं है, वह मृत समान है, निर्जीव है।

तुलनीय—बिरहा बिरहा आखिये, बिरहा है सुलतानु।
फरीदा जिनु तनि बिरह न उपजै, सो तणु जाणु मसाणु ॥
—शेख फरीद–गुरु ग्रन्थ साहब, पृ० १३७९।

अँखियन तौ झाँई परी,[६] पंथ निहारि निहारि[७]।
जिभ्या मैं छाला परा[८], राम पुकारि पुकारि[९] ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—झाँई = अंधकार।

व्याख्या—अपने प्रियतम की बाट देखते-देखते आँखों में अँधेरा छाने लगा है अर्थात् दृष्टि मंद पड़ने लगी है। राम को पुकारते-पुकारते जिह्वा में छाले पड़ गये हैं, पर अभी तक अपने स्वामी से मिलन नहीं हुआ है।

या तन का दिवला करूँ,[१०] बाती मेलौं[११] जीव।
लोहू सीचूँ तेल ज्यौं,[१२] कब[१३] मुख देखौं[१४] पीव ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—दिवला = दीपक। लोहू = रक्त।

व्याख्या—प्रिय के दर्शन के लिए एक दीपक चाहिए। दीपक में बत्ती और तेल की आवश्यकता होती है। मैं अपने प्रियतम के दर्शन के लिए इस शरीर का दीपक बनाऊँगा, जिसमें जीव बत्ती का काम करेगा और उस बत्ती को सींचने के लिए तेल के स्थान पर सारे शरीर का रक्त होगा। इस प्रकार इस दीपक को लिए हुए अपने प्रियतम की इस प्रतीक्षा में रहूँगा कि उसके दर्शन कब हो सकेंगे ?

अलंकार—सांग रूपक।

---

१. हनु०—बूरा जनि, विचार०—विरहा मति। २. ना० प्र०—सुलितान। ३. ना० प्र०—जिह। ४. हनु०—हरि बिरहा नहीं। ५. विंचार—जान। ६. ना० प्र०–अँषड़ियाँ झाँई पड़ी। ७. विचार०–निहार निहार। ८. ना० प्र०–जीभड़ियाँ छाला पड्या, विचार०—जिभ्या तौ छाला पड़ा। ९. विचार०—नाम पुकार पुकार। १०. ना० प्र०—इस तन का दीवा करौं, युगला०—या तन का दीवल करों। ११. हनु० विचार०-मेलूँ, ना० प्र०—मेल्यूँ। १२. ना० प्र०—लोही सींचौं तेल ज्यूँ। १३. हनु०, विचार०—तब। १४. हनु०, विचार०, युगला०—देखूँ।

नैना नीझर लाइया[1], रहट बहै निस घाम[2]।
पपिहा[3] ज्यौं पिउ पिउ करौं[4], कबरे[5] मिलहुगे राम ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—नीझर = झरना। रहट = कुएँ से पानी निकालने का यंत्र, जिसमें बाल्टियों की एक माला पड़ी रहती है, ज्यों-ज्यों चरखी घूमती है, क्रमशः एक-एक बाल्टी से जल भर कर आता रहता है। घाम = धूप, यहाँ दिन का प्रतीक।

व्याख्या—नेत्रों से झरने के समान आँसुओं की अविरल धारा बहती रहती है। रात दिन लगातार उमड़-उमड़कर आँसू का प्रवाह उसी प्रकार चलता रहता है जिस प्रकार से रहट से जल का अजस्र निष्क्रमण होता रहता है। पपीहे के समान मैं अपने प्रिय का 'पिउ पिउ' शब्द द्वारा स्मरण करता रहता हूँ। हे राम ! कब मिलोगे ?

कहीं कहीं पर 'निस जाम' पाठ है। तब अर्थ होगा—रातके पहर में। परन्तु 'निस घाम' पाठ अधिक समीचीन है, क्योंकि बिरही का बिरह दिन में बन्द नहीं रहता।

अलंकार—उपमा

अँखियाँ[6] प्रेम कसाइयाँ, लोग[7] जानैं दुखड़ियाँ[8]।
राम[9] सनेही कारने, रोइ[10] रोइ रतड़ियाँ[11] ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—कसाइयाँ = कषाय वर्ण, गेरुए रंग की अर्थात् रक्त वर्ण। दुखड़ियाँ = दुःख रही हैं। रतड़ियाँ = रक्त वर्ण, लाल हो जाना।

व्याख्या— मेरी आँखें प्रभु के प्रेमजन्य वियोग के कारण कषाय वर्ण अर्थात् लाल हो गई हैं। लोग समझते हैं कि आँखें आ गई हैं या दुःख रही हैं, इसीलिए लाल हैं। दूसरे लोगों को मेरी आन्तरिक वेदना का क्या पता ? वस्तुतः राम से स्नेह के कारण वियोग में रो-रोकर आँखें लाल हो गई हैं। यदि 'साईं अपणें कारणें' पाठ लें तो अर्थ होगा—हे स्वामी ! आपके ही कारण ये आँखें रो-रोकर लाल हो गई हैं।

तुलनीय—

बिरहिन कुरलै कुंज ज्यूँ, निस दिन तलपत जाइ।
राम सनेही कारनैं, रोवत रैंनि बिहाइ ॥ ३१९ ॥

—दादू

अलंकार—भ्रान्तिमान्।

---

१. बिचार०— नैनन तो झड़िलाइया। २. ना० प्र०—जाम विचार०-निसुवास। ३. ना० प्र०—पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं। ४. विचार०—रटै। ५. ना०प्र०—कबरु, विचार०—पिया मिलन की आस। ६. ना० प्र०—अंषड़ियाँ। ७. तिवारी—जग जानै दुखड़ियांह, हनु०, युगला०—जिन जानौ दुखड़ियाँ। ८. विचार०—दुखदाय। ९. ना० प्र०—साईं अपणैं कारणैं, विचार०—नाम सनेही कारने। १०. विचार०—रो रो रात बिताय। ११. तिवारी—रातड़ियाँह।

सोई आँसू साजनां[१], सोई लोक बिड़ाँहि[२]।
जो लोइन[३] लोंही चुवै, तौ जाँनौं[४] हेत हियाँहि[५] ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—साजनां = (सं० स्वजन) साजन, प्रिय, अपना खास, परम प्रिय प्रभु। बिड़ाँहि = बाहर निकलता है, व्यक्त होता है। लोइन = लोचन, नेत्र। लोहीं = रक्त। हेत = प्रेम। हियाँहि = हृदय में।

व्याख्या—आँसुओं से हृदय की आन्तरिक स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। आँसू तो अपने स्वजन या प्रिय (प्रभु) के लिए भी निकलता है और वहीं आंसू लोक में साधारणतः अन्य किसी कारणवश भी निकलता है। यदि विरह की वेदना से आँखों से रक्त के आँसू बहें, तब समझो कि हृदय में सच्चा और घनिष्ठ प्रेम है।

कबिरा हँसना[६] दूरि करि[७], रोवन सो करु चित्त[८]।
बिन रोए क्यों[९] पाइए, प्रेम पियारा[१०] मित्त[११] ॥ २७ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि तू हँसना दूर कर, रोने में मन लगा। बिना रोये प्रियतम मित्र कैसे मिल सकता है ?

'हँसने' में साधारण जीवन के हास-उल्लास की व्यञ्जना है और 'रोने' में बिरह की व्यथा की व्यञ्जना है। विरही किसी प्रिय की याद में ही रोता है। इसलिए यह रोना प्रिय की अभीप्सा और अध्येषणा का परिचायक है, जो कि साधना में नितान्त सहायक होता है।

अलंलार—काव्यलिंग

जौ[१२] रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।
मनही माँहि बिसूरनाँ, ज्यूँ घुन काठहिं खाइ ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—बिसूरना = (सं०—विसूरण वि (उपसर्ग) + सूर (धातु)—'सूर' और 'शूर' दोनों धातुएँ एक ही अर्थ में मिलती हैं। इनका अर्थ है—शोक करना, दुःखित होना या करना। 'वि' का अर्थ है—विशेष रूप से।) हिन्दी में 'बिसूरना' शब्द सिसक-सिसक कर भीतर ही भीतर दुःख का अनुभव करने के अर्थ में प्रयुंक्त होता है।

व्याख्या—यदि रोता हूँ तो शक्ति क्षीण होती है। यदि हँसता हूँ तो अपना प्रियतम खिन्न होता है। इसलिए अच्छा तो यही है कि भीतर ही भीतर दुःख का अनुभव करता

---

१. ना० प्र०—सजणां। २. युगला० विचार०-विडाय, गुप्त-विडां। ३. ना०. प्र०.—लोइण, युगला०. विचार०—लोचन। ४. ना० प्र०—जाणौं। ५. युगला० विचार०—हित आय। ६. ना० प्र०—कबीर हसणां। ७. अन्य प्रतियों में—करु,। ८. ना० प्र०—करि रोवण सौं चित्त, विचार०—रोने से करु चीत। ९ ना० प्र०—रोया क्यूँ। १०. युगला०—पियारे। ११. विचार०—मीत। १२. अन्य प्रतियों में यह दोहा इस प्रकार है :—

हसूँ तो दुःख न वीसरूँ, रोऊँ तो बल घटि जाय।
मन ही माँहि बिसूरना, ज्यों घुन काठहिं खाय ॥

रहूँ। दुःख ऊपर से किसी पर प्रकट न हो जैसे घुन (कीड़ा) भीतर ही भीतर काठ या लकड़ी को खा जाता है, ऊपर से किसी को पता नहीं चलता है।

टिप्पणी—(१) कबीर ने पहले कहा है कि रोने से मन लगाओ। यहाँ वह कहते हैं कि रोने से शक्ति क्षीण होती है। आपाततः इन दोनों में विरोध प्रतीत होता है, किन्तु कबीर का 'रोने' से तात्पर्य केवल बिरह की तीव्र अनुभूति से है, दहाड़ मारकर चिल्लाने से नहीं। बिरह की अनुभूति जितनी ही तीव्र होती है; वह उतनी ही आन्तरिक होती है, उसकी बाहरी अभिव्यक्ति कम होती है।

(२) 'हँसौं तौ राम रिसाइ' में व्यञ्जना यह है कि यदि साधारण लोगों के समान हास-उल्लास में पड़ा हुआ विषयों में अनुरक्त रहूँ तो अपना प्रियतम यह देखकर खिन्न होगा कि मैं अभी उसकी ओर उन्मुख नहीं हुआ।

अलंकार—उपमा।

हँसि हँसि कंत[1] न पाइए[2], जिनि पाया तिनि रोइ।
जो[3] हाँसेही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ[4]॥ २९॥

शब्दार्थ—दुहागनि = दुर्भाग्यवती (सुहागिनि का विलोम)।

व्याख्या—हँसते-हँसते अर्थात् मौज उड़ाते हुए किसी ने अपने प्रियतम को नहीं पाया है। उसे जिस किसी ने पाया है उसने रोकर अर्थात् वियोग की व्यथा का अनुभव करके ही पाया है। यदि हँसने से ही प्रिय मिल जाय तो फिर संसार में कोई अभागिनी ही नहीं रह जायेगी अर्थात् प्रिय के प्रेम से वञ्चित नहीं रहेगी, क्योंकि मौज उड़ाने में या विषय-वासना में तो सभी जीव लगे रहते हैं। दुर्भाग्यनी वह है जिसका अपने प्रिय से मिलन न हो सके।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

हाँसी खेलौं[5] हरि[6] मिलै, कौन[7] सहै खर[8] सान।
काम क्रोध त्रिष्णाँ[9] तजै, ताहि मिलैं भगवान॥ ३०॥

शब्दार्थ—खर = तीक्ष्ण। सान = (सं० = शाण) वह पत्थर जिस पर अस्त्रादि तेज किये जाते हैं।

व्याख्या—यदि हँसते-खेलते, विषय-वासनाओं में रमण करते हुए प्रभु मिल जायें तो बिरह-व्यथा की तीक्ष्ण सान पर कौन चढ़ेगा? परन्तु वास्तविकता तो यही है कि वियोग की तीव्र अनुभूति के बिना संयोग की ओर कोई जाता नहीं। बिरह-व्यथा इसलिए आवश्यक

---

१. युगला०—केतन। १. युगला०, हनु०, विचार०—पाइया। ३. गुप्त—ज, तिवारी—हाँसी खेला पिउ मिलै, युगला०—हाँसी खेलत हरि मिले। ४. युगला०—होय। ५. हनु०, विचार०, युगला०—खेलौं। ६. विचार०—पिव। ७. ना० प्र०—कौंण। ८. अन्य प्रतियों में—खुरसान, ना० प्र०—षरसान। ९. अन्य प्रतियाँ में—तृष्णा।

है कि उससे मिलन की उत्कण्ठा बढ़ती है। प्रभु उसे ही मिल सकते हैं जो काम, क्रोध, और तृष्णा को त्याग देता है, न कि उसे जो इनमें अनुरक्त रहता है। 'हाँसी खेलौं' का भाव इन्हीं में अनुरक्त रहना है।

पूत पियारो पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथ दे, आपन गया भुलाइ॥ ३१॥

शब्दार्थ—गौंहनि > गोहन = साथ, पास। आपन = अपनापन, सच्ची स्थिति।

व्याख्या—पिता का प्रिय पुत्र उसके साथ दौड़कर लग गया। पिता ने लोभ रूपी मिठाई उसके हाथ में देकर बहका दिया। परिणाम यह हुआ कि बालक उसी मिठाई में रम गया और अपने आपको भूल गया।

टिप्पणी—इस साखी में कबीर इस तथ्य का संकेत कर रहे हैं कि पिता परमात्मा है पुत्र जीव है, मिठाई सांसारिक सुख का प्रलोभन है। जिस प्रकार पुत्र पिता से मिठाई पाकर भुलावे में आ जाता है, उसी में रम जाता है और पिता के साथ जाना भूल जाता है, उसी प्रकार जीव सांसारिक विषयों के भोग में अनुरक्त होकर अपनापन अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। वह अपने स्वरूप में नहीं रहता है। अपने स्वरूप में रहना ही पिता के साथ रहना है और विषयों में अनुरक्त रहना पिता से, अपने स्वरूप से अलग हो जाना है।

अलंकार—अन्योक्ति।

डारी खाँड पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ॥ ३२॥

शब्दार्थ—खाँड = मिठाई। उपाइ = उत्पन्न करके।

व्याख्या—जब पुत्र को यह बोध हुआ कि इस मिठाई के लोभ में पिता का साथ छूट गया है तो उसके भीतर खीझ उत्पन्न हुई और उसने झटककर मिठाई फेंक दिया और रोते-रोते पिता की ओर चला और उससे मिल गया।

टिप्पणी—जब जीव के भीतर यह भाव जगता है कि विषय-सुख के कारण ही उसका अपने प्रिय पिता से वियोग हो गया है, वह अपना वास्तविक स्वरूप भूल गया है तो वह विषयों से सर्वथा पराङ्मुख हो जाता है, वियोग की व्यथा का अनुभव करता है और अपने प्रिय पिता की ओर मुड़ता है तथा उससे मिल जाता है, अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

नैनाँ अंतरि आव तूँ[1], निस दिन निरखौं[2] तोंहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहि॥ ३३॥

---

१. ना० प्र०—आँचरूँ। २. गुप्त—राखौं, अन्य प्रतियों में—निरखूँ।

शब्दार्थ—निरषौं = देखूँ ।

व्याख्या—हे प्रिय ! तू मेरी आँखों के भीतर समा जा, जिससे मैं तुझे दिन-रात देखता रहूँ । हे प्रभु ! वह दिन कब आयेगा, जब तुम मेरे लिए प्रत्यक्ष होगे ?

ना० प्र० की प्रति में 'नैनां अंतरि आँचरूँ' पाठ है । इसका अर्थ होगा—मैं अपनी आँखों के भीतर व्यवहार करता हूँ अर्थात् ध्यान करता हूँ । यह पाठ अधिक अच्छा नहीं है ।

कबीर देखत दिन गया, निसि[1] भी देखत[2] जाइ ।
बिरहिन पिउ[3] पावै नहीं, जियरा तलपै[4] माइ ।। ३४ ।।

शब्दार्थ—माइ = मध्ये>माँहि, भीतर ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रियतम की प्रतीक्षा में, उनकी बाट देखते-देखते दिन बीत गया और उसी प्रकार रात भी बीत गयी । किन्तु बेचारी बिरहिणी को प्रिय नहीं मिला । परिणाम यह हुआ कि उसका हृदय भीतर ही भीतर तड़पता रहता है ।

अलंकार—विशेषोक्ति ।

कै बिरहिन कौं[5] मीच दे, कै आपा दिखलाइ[6] ।
आठ पहर का दाझनां[7], मोपै सहा[8] न जाइ ।। ३५ ।।

शब्दार्थ—कै = या । आपा = अपना स्वरूप । दाझना = दग्ध होना, संतप्त होना ।

व्याख्या—हे प्रियतम ! इस बिरहिणी को मृत्यु दे दो या अपना रूप दिखलाओ । बिरह-व्यथा में दिन-रात आठो पहर का संतप्त होना, अब मुझसे सहा नहीं जाता ।

बिरहिन[9] थी तौ क्यों[10] रही, जली[11] न पिउ[12] के साथ[13] ।
रहु रहु[14] मुगध[15] गहेलड़ी[16], अब[17] क्यों मीजै[18] हाथ ।। ३६ ।।

शब्दार्थ—मुगध = मुग्धा । गहेलड़ी = हठीली, पागल, गँवारिन ।

व्याख्या—यहाँ कबीर साधना पथ पर अग्रसर व्यक्ति का रूपक मुग्धा नायिका से बाँधते हुए कहते हैं कि यदि तू सच्ची बिरहिणी थी तो प्रिय के निमित्त क्यों न जल गयी ? ऐ मुग्धा, गर्विणी, पागल ! अब पछताने से क्या लाभ ?

यहाँ 'पिउ के साथ' का वाच्यार्थ है—पति के साथ क्यों नहीं जल गयी ? किन्तु भावार्थ यह है कि प्रीति के निमित्त क्यों नहीं जल गयी ?

ना० प्र० का पाठ इस प्रकार है :—

---

१. ना० प्र०—निस । २. तिवारी—निरखत । ३. ना० प्र०—बिरहिण पिव । ४. तिवारी—तलपत । ५. ना० प्र०—कूँ । ६. हनु०, विचार०—आप आय । ७. ना० प्र० में—दाझणाँ । ८. ना० प्र०—सह्या । ९. ना० प्र०—बिरहणि । १०. ना० प्र०—क्यूँ । ११. अन्य प्रतियाँ मे—जरी । १२. ना० प्र०—पीव । १३. ना०प्र०—नालि । १४. अन्य प्रतियों में—रहि रहि । १५. हनु०, युगला०—मूढ़ गहेलरी । १६. तिवारी—गहेलरी । १७. ना० प्र०—प्रेम न लाजूँ मारि । १८. तिवारी—लाजौं ।

बिरहणि थी तौ क्यूँ रही, जली न पीव के नालि।
रहु रहु मुगध गहेलड़ी; प्रेम न लाजूँ मारि॥

इसका अर्थ इस प्रकार होगा :—

इसमें परकीया मुग्धा नायिका का रूपक है। 'नालि' पंजाबी, मारवाड़ी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है—साथ।

'यदि तुझमें वास्तविक विरह था तो अपने प्रियतम के साथ क्यों न जल मरी? ऐ मुग्धा, हठीली नायिका, ठहर। अपने प्रेम की अभिव्यक्ति को सांसारिक लज्जा से न दबा।

अलंकार—अन्योक्ति।

हौं बिरहा की लाकड़ी[1], समुझि समुझि धुँधुवाउँ[2]।
छूटि पड़ौं या[3], बिरह तैं, जे[4] सारी ही जलि जाउँ॥ ३७॥

शब्दार्थ—समुझि-समुझि = (ला० अ०) रहं रहकर। धुँधुवाउँ=धीरे-धीरे जलना, सुलग-सुलगकर जलना, धुआँ देकर जलना। जे=यदि, जो। सारी ही=सम्पूर्ण।

व्याख्या—मैं विरह की वह गाँठ-गठीली लकड़ी हूँ जो शनैः शनैः रह रहकर धुआँ देती हुई सुलगती है। अच्छा होता, यदि मैं सम्पूर्ण रूप से एक बार ही जल जाती। इस प्रकार विरह-व्यथा से मुक्ति मिल जाती।

टिप्पणी—इस साखी में बिरह-व्यथा की तीव्रता का प्रतिपादन हुआ ही है, साथ ही यह व्यञ्जना भी है कि यदि संसार के प्रति आसक्ति और अहंकार की ग्रन्थि मिट जाय और पूर्ण रूप से बिरह की आग धधक उठे तो प्रभु-मिलन की सम्भावना (Chance) प्राप्त हो जाय। इसमें यह भी संकेत है कि लौकिक बिरह में जलने के बाद मिलन सम्भव नहीं। किन्तु आध्यात्मिक बिरह में जलकर ही अर्थात् अहं के पूर्ण विनाश के बाद ही, आपा के सर्वथा समाप्त होने पर ही प्रभु-मिलन का सुन्दर सुयोग प्राप्त होता है।

अलंकार—विरोधाभास।

कबीर तन मन यों जला[5], बिरह अगिनि सों[6] लागि।
मिरतक पीर न जानई[7], जानैगो वह[8] आगि॥ ३८॥

शब्दार्थ—मिरतक=मृतक, मरा हुआ। पीर = पीड़ा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि बिरह की अग्नि से लगकर शरीर और इन्द्रियाँ यों जल गयीं कि वे मृतक के समान हो गयीं। बेचारा मृतक (मुर्दा) बिरह की पीड़ा को क्या जान सकता है? वह तो एक आन्तरिक अनुभूति है जो बाह्य इन्द्रियों और मन

---

१. बिचार०, हनु०, युगला०—हूँ जु विरह की लाकड़ी। २. ना० प्र०—धुँधाउँ। ३. अन्य प्रतियों में—परूँ जो। ४. अन्य प्रतियों में—सगरी ही जलि जाय। ५. ना० प्र०—जल्या। ६. ना० प्र०—अगनि सूँ, हनु०—अग्नि सब लग्ग। ७. ना० प्र०—मृतक पीड़ न जाँणई, हनु०—मृतकपिण्ड नहिं जानई। ८. ना० प्र०—जाणैंगी यहु, हनु०—जानैगा वह अग्ग।

के द्वारा नहीं जानी जा सकती। इस अनुभूति को वही आन्तरिक बिरहाग्नि ही जान सकती है।

अलंकार—विरोधाभास, असंगति।

> बिरह जलाई मैं जलौं[1], जलती जलहरि[2] जाउँ।
> मो देखा[3] जलहरि[4] जलै, संतौं[5] कहाँ बुझाउँ॥ ३९॥

शब्दार्थ—जलहरि=जलधरी, जलाशय।

व्याख्या—मैं बिरहाग्नि से जल गयी हूँ और जलाशय के निकट अपनी जलन बुझाने जाती हूँ, पर मुझे देखकर बेचारा वह जलाशय स्वयं जल उठता है। हे संतो! बताओ अब मैं कहाँ जाकर इसे बुझाऊँ?

टिप्पणी—यह साखी केवल बिरहाग्नि की तीव्रता बताने के लिए लिखी गयी है। इसमें कोई अन्योक्ति नहीं है। इसी भाव का एक अन्य दोहा मिलता है:—

> शीतकाल जलमध्य ते, निकसत भाप सुभाय।
> मानो कोई विरहिणी, अब ही गई नहाय॥

अलंकार—तद्गुण।

> परबत परबत[6] मैं फिरा[7], नैन गँवाये[8] रोइ।
> सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवन[9] होइ॥ ४०॥

शब्दार्थ—बूटी = औषध, दवा।

व्याख्या—मैं उस बूटी की खोज में पर्वत-पर्वत मारा फिरा जिससे मृतक तुल्य मैं जीवन प्राप्त कर सकूँ। बूटी प्रायः पर्वतों पर ही मिलती है। यहाँ 'पर्वत' में बड़े-बड़े साधकों और शास्त्रियों की व्यञ्जना है। भाव यह है कि मैं बड़े-बड़े साधकों और शास्त्रियों के पास दर-दर मारा फिरा और प्रिय-वियोग में रो-रोकर नेत्र भी खो दिये। परन्तु मुझे कोई भी वह संजीवनी बूटी न दे सका जिससे जीवन की प्राप्ति हो अर्थात् कोई भी वह मार्ग न बतला सका जिससे प्रभु-मिलन हो सके, जो ही वास्तविक जीवन है। प्रभु-मिलन के बिना यह जीवन मृत्यु के समान है। प्रभु-मिलन से ही बिरही को वास्तविक जीवन प्राप्त होता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. हनु०, युगला०—जलूँ। २. हनु०, युगला०—जलहर। ३. ना० प्र०—देख्याँ। ४. हनु०, युगला०, गुप्त—जलहर। ५. हनु०—सो तो। ६. ना० प्र०—परबति परबति। ७. ना० प्र०—फिर्‍या, युगला०—फिरूँ। ८. तिवारी—गंवाया, युगला०—गवाऊँ। ९. युगला०—जासौं जीवन, ना० प्र०—जातैं जीवनि।

फारि[1] पटोरा[2] धज करूँ, कामलिया[3] पहिराउँ।
जिहि जिहि भेषां[4] हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउँ[5] ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—पटोरा=रेशमी वस्त्र (प्र० अ०) भोग विलास की सामग्री। धज=टुकड़े, चिथड़े। कामलिया=कम्बल, योगियों का वस्त्र।

व्याख्या—मेरा हार्दिक संकल्प है कि मैं अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ अर्थात् अपने भोग-विलास की सारी सामग्री को त्याग दूँ और कम्बल पहन लूँ अर्थात् योगी का बाना धारण करूँ। जिस किसी भी वेश में प्रभु मिलें, मैं उसे धारण करने को उद्यत हूँ।

नैन हमारे बावरे[6], छिन छिन लोरैं तुज्झ[7]।
नाँ तूँ मिलै न मैं सुखी[8], ऐसी वेदन मुज्झ[9] ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—लोरैं = लपकते हैं, उत्सुक होते हैं।

व्याख्या—मेरे ये बावरे नेत्र क्षण-क्षण में तेरे प्रति लपकते हैं। किन्तु न तो तू मिलता है और न मैं सुखी हो पाता हूँ। इस कारण मुझे बड़ी तीव्र वेदना हो रही है।

इस साखी की प्रथम पंक्ति का ना० प्र० की प्रति में यह पाठ है—नैन हमारे जलि गये, छिन-छिन लोड़ैं तुझ।' यहाँ 'लोड़ैं' का अर्थ है—आवश्यकता का अनुभव करना। तब अर्थ होगा—मेरे नेत्र प्रभु के वियोग में तप्त हो गये हैं। वे क्षण-क्षण उसकी आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। दूसरी पंक्ति में 'सुखी' के स्थान पर 'खुसी' पाठ है। इससे भाव में कोई अन्तर नहीं आता।

भेरा[10] पाया सरप[11] का, भौसागर के माँहि।
जे छाँड़ौं तौं बूड़िहौं[12], गहौं त डसिहै[13] बाँहि ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—भेरा = बेड़ा। सरप = सर्प, साँप (प्र० अ०) प्रभु का प्रेम।

व्याख्या—संसार ऐसा भयंकर, विस्तृत और अथाह सागर है कि इसको पार करने का एकमात्र साधन प्रभु की प्रेम रूपी नौका हैं। परन्तु वह ऐसे सर्प के समान है जो विषय-वासना-युक्त सांसारिक जीवन को डस लेता हैं। यदि जीव उस प्रेमाश्रय को छोड़ता है तो भवसागर में उसका डूबना अवश्यंभावी है। यदि नहीं छोड़ता है तो उसके विषयानुरक्त जीवन का विनाश अवश्यंभावी है। विषयानुरक्त जीवन को त्यागने से ही प्रभु-प्रेम रूपी बेड़े द्वारा भवसागर पार किया जा सकता है।

---

१. ना० प्र०—फाड़ि पुटोला धज करौं। २. गुप्त—पटोला। ३. गुप्त—कम्बलडी, ना० प्र०—कामलड़ी। ४. हनु०, विचार०, युगला०—जिन-जिन भेषे। ५. अन्य प्रतियों में—सो सो भेष बनाउँ।

६. ना० प्र०—जलि गये। ७. ना० प्र०—लोड़ैं तुझ, हनु०—लागैं तुज्झ। ८. ना० प्र०—खुसी। ९. ना० प्र०—मुझ। १०. ना० प्र०—भेला पाया श्रमसौं, युगला०—भेरै चढ़िया सरप कै। ११. गुप्त—स्रप। १२. ना० प्र०—डूबिहौं, हनु०—डूबसी। १३. ना० प्र०—डसिए।

टिप्पणी—इस साखी में 'गहौं त डसिहैं बाँहि' में एक सुन्दर व्यञ्जना यह है कि ईश्वरानुराग बहुत टेढ़ी खीर है। उसके बिना भवसागर पार नहीं किया जा सकता और उसके ग्रहण करने पर विषयानुराग का सर्वथा त्याग करना होगा। कबीर की चेतावनी यही है कि प्रभु-रति और विषय-विरति एक साथ ही होने से जीव भवसागर तर सकता है।

तुलसीदास ने भी कहा है:—

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।
वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशम् हरिं॥ ६॥
(मानस-बाल०)

अलंकार—सांग रूपक।

रैंना[1] दूर बिछोहिया, रहु रे संख[2] म झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी[3], देसी[4] ऊगे सूरि॥ ४४॥

शब्दार्थ—रैनां = रात्रि में। बिछोहिया = वियुक्त हो गया। संष = शंख। म = मत, नहीं। झूरि = संतप्त, चिंतित। देवलि = देवालय, मन्दिर। ऊगे सूरि = सूर्य के उदय होने पर। धाहड़ी = नाद, ध्वनि। देसी = देगा।

वाच्यार्थ—हे शंख। तू रात्रि में अपने प्रिय समुद्र से वियुक्त हो गया है। तू शान्त रह, संतप्त मत हो, घबड़ा मत। सूर्य के उदय होने पर तू प्रत्येक देवालय में ध्वनि करेगा।

भावार्थ—यहाँ शंख को जीव, रात्रि को अज्ञान और सूर्य को ज्ञान के प्रतीक रूप में रखा गया है।

हे जीव! तू अज्ञान के अंधकार में अपने प्रियतम प्रभु से वियुक्त हो गया है, जैसे शंख रात्रि के अंधकार में अपने प्रिय रत्नाकर से लहरों द्वारा दूर फेंक दिया जाता है। जैसे सूर्योदय होने पर वही शंख फिर देवालयों में उल्लासपूर्वक ध्वनित होता है वैसे ही हे जीव! ज्ञान का प्रकाश होने पर तू भी दिव्य-भाव को प्राप्त होगा, परमात्मभाव को ध्वनित करने के योग्य बन जाएगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

सुखिया सब संसार है, खायै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥ ४५॥
(११२)

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिन जीवों ने वियोग का अनुभव नहीं किया है, वे आनन्द से खाते और सोते है अर्थात् सांसारिक सुखों में लिप्त रहते हैं। परन्तु मुझ जैसे

१. तिवारी—रैनाइंर, गुप्त०–रैणांइरा, हनु०, विचार०–युगला०–रनयां राम छिपाइयाँ २. ना०प्र०–संषम. अन्य प्रतियों में–रहु रहु संख मझूर। ३. हनु०, विचार०, युगला०—धाहरी। ४. हनु०—विचार०—युगला०—दिवस न ऊगें सूर।

जिस जीव ने प्रभु-वियोग का अनुभव किया है, वह वेचारा दुःखी ही रहता है। उसे भला नींद कहाँ ? वह विरह व्यथा में रोता ही रहता है।

मीरा ने भी कहा है:—

मैं विरहिन बैठी जागूँ,

जगत सब सोवै री आली।

(४) ग्यान बिरह को अंग

'बिरह को अंग' में रागात्मक बिरह का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। 'ज्ञान बिरह को अंग' में ज्ञानयुक्त बिरह का वर्णन है। यह विरह रागात्मक बिरह से कहीं अधिक श्रेयस्कर और प्रबल होता है।

दीपक पावक आँनिया[१], तेल भि[२] आना[३] संग।
तीन्यूँ मिलि करि[४] जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ँ[५] पतंग॥ १॥

शब्दार्थ—दीपक = (प्र० अ०) शरीर, जीव। पावक = अग्नि (प्र० अ०) ज्ञान-ज्योति। आनिया = ले आया। तेल = स्नेह (प्र० अ०) प्रेम। जोइया = योजित किया, युक्त किया। पतंग = पतिंगे (प्र० अ०) विषय वासना।

व्याख्या—ज्योति के लिए तीन तत्वों की आवश्यकता होती है—दीपक, आग और तेल। इसी प्रकार जीव में ज्ञान रूपी ज्योति तभी आ सकती है, जब गुरु जीव रूपी दीपक में ज्ञान रूपी अग्नि और प्रेम अथवा भक्ति रूपी तेल एकत्र कर तीनों को योजित कर दे। ऐसा होने पर फिर तो विषय-वासना रूपी पतिंगे स्वतः आ-आकर जल मरते हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मारा है जे मरैगा[६], बिन सर थोथी भालि।
पड़ा[७] पुकारै ब्रिछ तरि[८], आजि मरै कै काल्हि[९]॥ २॥

शब्दार्थ—सर = अनी। थोथी = छूँछी, कोरी, खाली। भालि = भाला। मारा है = अपनापन खोना।

व्याख्या—यदि गुरु ने केवल ज्ञान-विहीन बिरह का बाण मारा है, तब भी शिष्य मरेगा अवश्य अर्थात् अपना आपापन या अहंभाव खोयेगा अवश्य, किन्तु उसकी वही दशा होगी जो उस मनुष्य की होती है जिसको अनी रहित छूँछे भाले की चोट लगती है। वह मरता अवश्य हैं, किन्तु किसी वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ कराह-कराह कर कई दिन बाद मरता है। ठीक इसी प्रकार जिसमें केवल रागात्मक बिरह है, वह भी आपापन खोएगा, किन्तु बहुत समय के बाद। जिसको ज्ञान संयुक्त बिरह का बाण लगा है, वह शीघ्र ही आपापन खो देगा।

यहाँ पर 'बिनु सर थोथी भाल' ज्ञान विहीन बिरह का व्यञ्जक है।

अलंकार—विभावना।

---

१. ना० प्र०—आंणिया। २. ना०प्र०—भी। ३. ना०प्र०—आंणां। ४. अन्य प्रतियों में—तीनौं मिलि कै। ५. अन्य प्रतियों में—परैं। ६. युगला०—मारा है मरि जायगा। ७ युगला०—मरा पुकारै बृक्षतर। ८. गुप्त—तलि। ९. युगला०-कै काल।

हिरदै[1] भीतरि दौं बलै[2], धुवाँ न परगट होइ[3]।
जाके लागी सो लखै, कै जिहि[4] लाई सोइ[5] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दौ = दावाग्नि, विरह की आग। बलै = जलै, जलती है। लाई = लगाई। सोइ = वही।

व्याख्या—हृदय के भीतर बिरह की आग जलती है, किन्तु उसे कोई दूसरा नहीं जान पाता। आग को उसके चिह्न धुआँ से जाना जाता है। बिरह की आग में धुआँ नहीं है। अतः इस आग का दूसरा कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस आग का तो वही प्रत्यक्ष कर सकता है जिसको वह लगी हो अथवा वह जानता है जिसने उसे लगायी हो।

अलंकार—विशेषोक्ति, विभावना, व्यतिरेक।

झल[6] ऊठी झोली जली[7], खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया[8], आसनि[9] रही विभूति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—झल = ज्वाला, आग (प्र० अ०) ज्ञान-विरह की अग्नि। झोली = थैली, जिसमें योगी या साधक वस्त्रादि वस्तुएँ रखता है, (प्र० अ०) संचित कर्म। खपरा = खप्पड़, भिक्षापात्र (प्र० अ०) क्रियमाण कर्म। फूटिम फूट = टूट-फूट गया। रमि गया = ब्रह्म में मिल गया। आसनि = आसन पर। विभूति = खाक़, राख, भस्म।

संदर्भ—अध्यात्मशास्त्र का प्राचीन विश्वास रहा है कि ज्ञान रूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है। गीता में कहा गया है—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। (४।३७) भगवान् अर्जुन से कहते हैं—'ज्ञान रूपी आग सभी कर्मों को भस्म कर देती है। कबीर की इस साखी में यही भाव प्रतिध्वनित हुआ है :—

व्याख्या—ज्ञान रूपी आग प्रज्वलित हुई, उसमें योगी के सारे संचित कर्मों की झोली जल गयी और क्रियमाण कर्म रूपी भिक्षापात्र भी टूट-फूट गया अर्थात् अब उसका भी योगी पर कोई प्रभाव न रहा। उसके भीतर जो तत्त्व साधना कर रहा था, वह अपने परमस्वरूप अर्थात् ब्रह्म में मिल गया। अब उसके आसन पर केवल भस्म रह गया अर्थात् वह साधक अपने पुराने रूप में न रह गया। उसका अवशेष मात्र प्रतीक रूप में कहने-सुनने को रह गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. ना० प्र०—हिरदा। २. युगला०—दौं जली, हनु—दव बरै। ३. ना० प्र०—हनु०—धूवाँ प्रगट न होइ। ४. गुप्त०—जिनि, युगला०—जिस। ५. हनु०—होय। ६. युगला०—झाल उठी। ७. हनु०—झाल उठी सारा जला। ८. हनु०—हंसा योगी रम गया। ९. ना० प्र०—आसणि।

आगि[1] जु लागी नीर महिं,[2] कांदौ[3] जरिया झारि।
उतर[4] दखिन[5] के पंडिता, मुए[6] बिचारि बिचारि॥ ५॥

शब्दार्थ—आगि = (प्र० अ०) विरहाग्नि। नीर = जल (प्र० अ०) मानस। कांदौ = कर्दम, कीचड़ (प्र० अ०) मनोविकार। झारि = सम्पूर्णतया।

व्याख्या—पानी में आग लग गयी और उसका कीचड़ सम्पूर्णतया जल गया। उत्तर-दक्षिण के पंडित अर्थात् चारों ओर के शास्त्री विचार कर हार गये पर इसका रहस्य किसी की समझ में न आया।

टिप्पणी—यह कबीर की उलटवाँसी है। इसमें स्पष्ट विरोधाभास है। पहला वैचित्र्य यह है कि जल में आग लगी है। दूसरा वैचित्र्य यह है कि आग जल में लगी है परन्तु जलता कीचड़ है। इसका भाव यह है कि जब ज्ञान-बिरह की आग मानस रूपी नीर में लगती है, तब उसमें निहित विकार या वासनाएँ (कीचड़) पूर्णतया भस्म हो जाती हैं। कीचड़ के जलने में एक व्यञ्जना यह भी है कि जैसे कीचड़ जल में सबसे नीचे रहता है वैसे ही मानस के सबसे नीचे वाले तल अर्थात् अवचेतन में जो दूषित संस्कार और वासनाएँ रहती हैं, वे भस्म हो जाती हैं। उत्तर-दक्षिण अर्थात् चारों ओर के शास्त्री लोग जिनका ज्ञान केवल पोथी तक सीमित है, सोच-सोचकर रह गये, किन्तु इसका मर्म उनकी समझ में न आया।

अलंकार—असंगति।

दौं[7] लागी सायर[8] जला, पंखी बैठे आइ[9]।
दाधी[10] देह न पालवै[11], सद्गुरु गया लगाइ॥ ६॥

शब्दार्थ—दौ = दावाग्नि, ज्ञान-विरह की अग्नि। सायर = सागर (प्र० अ०) मानस। पंखी = पक्षी, (प्र० अ०) हंस, जीवात्मा। दाधी = दग्ध हुई, जली हुई। देह = शरीर (प्र० अ०) विलग वैयक्तिक सत्ता। पालवै = पल्लवित होना, पनपना।

व्याख्या—सद्गुरु ने ज्ञान-विरह की आग लगा दी। मानस-सरोवर जल गया। भवसागर मिट गया। अब हंस रूपी शुद्ध जीव ऊपर स्थित हो गया अर्थात् वासनाओं और पृथक् वैयक्तिक सत्ता से विमुक्त हो गया। पृथक् वैयक्तिक सत्ता रूपी देह दग्ध हो गयी। अब वह पुनः नहीं पनप सकती अर्थात् अपना पृथक् आपापन का भाव सदा के लिए जाता रहा। अब वह पुनः पल्लवित न हो सकेगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—अगनि। २. ना० प्र०—मैं। ३. ना० प्र०—कन्दू जलिया। ४. युगला०—उत्तर दिशि का पण्डिता। ५. ना० प्र०—दषिण। ६. ना० प्र०—रहे ७. हनु०—धौं लागी सायर जली। ८. ना० प्र०—साइर जल्या। ९. हनु०—पक्षी जलिया आय, ना० प्र०—पंषी। १०. हनु०—दाझे जीव न पालु है। ११. गुस—पल है।

गुरु[1] दाधा[2] चेला जला[3], बिरहा लागी आगि।
तिनका बपुरा ऊबरा[4], गलि पूरे कै लागि॥ ७॥

शब्दार्थ—दाधा = दग्ध किया, जलाया। तिनका = तृण (प्र० अ०) क्षुद्र चेला। बपुरा = बेचारा। ऊबरा = उद्धार हो गया। गलि पूरे कै लागि = पूर्ण के गले लगकर।

व्याख्या—गुरु ने बिरह की आग लगायी। उस आग में चेला जल गया अर्थात् उसके भीतर पूर्ण रूप से विरह की वह आग व्याप्त हो गई। साधारणतः आग लगने से तिनका भस्म हो जाता है। परन्तु विरह की आग ऐसी होती है जिससे बेचारे क्षुद्र चेले रूपी तिनके का उद्धार ही हो जाता है, क्योंकि उस बिरह से उसका पूर्ण से आलिंगन हो जाता है।

अलंकार—विरोधाभास, विशेषोक्ति।

अहेड़ी[5] दौ[6] लाइया, मिरग[7] पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी[8], दाझत है बन सोइ॥ ८॥

शब्दार्थ—अहेरी = शिकारी (प्र० अ०) गुरु। दौ = आग, ज्ञान-विरह की आग। लाइया = लगाया। मिरग = हिरन (प्र० अ०) वासनासक्त जीव। क्रीला = क्रीड़ा, खेल-कूद (प्र० अ०) भोग विलास। दाझत = जल रहा है। बन = जंगल (प्र० अ०) मनो-देहात्मक क्षेत्र (Psycho-Physical existence)

व्याख्या—शिकारी आखेट के लिए वन में आग लगाता है, जिससे मृग अपने स्थान से बाहर निकलते हैं। तब शिकारी उनका शिकार करता है। उस वन को छोड़ने से मृगों में यह वेदना उठती है कि जिस बन में वे आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे, उनके देखते वही बन जल रहा है।

इसी प्रकार गुरु रूपी शिकारी शिष्य के मनो-देहात्मक बन में ज्ञान-विरह की आग लगाता है और वह वासनासक्त जीव रूपी मृग चिल्ला-चिल्लाकर रोता है कि जिस विषय-वासना रूपी बन में भोग कर रहे थे, वह अब जल रहा है अर्थात् नष्ट हुआ जा रहा है।

टिप्पणी—इस साखी में व्यञ्जना यह है कि जब जीव की विषयासक्ति समाप्त होने लगती है, तब उसे एक विचित्र रागात्मक धक्का लगता है कि जिसमें वह अभी तक बिहार कर रहा था, वह अब किस प्रकार नष्ट हो रहा है। मृग और आसक्ति-मुक्त जीव में केवल अन्तर यह है कि मृग को बन का मोह बना रहता है, परन्तु आसक्ति-मुक्त जीव को एक क्षण के लिए धक्का-सा लगता है, किन्तु बाद में उसे विचित्र प्रकार की शांति का अनुभव होता है।

---

१. युगला०—जल दाझा चीखल जला, भिरहा लागी आगि। २. तिवारी—दाझा, हनु०—डाढ़ा। ३. ना० प्र०—जल्या। ४. ना० प्र०—तिणका बपुड़ा ऊबर्या। ५. युगला०—अहेरी धौं। ६. हनु०—सर। ७. ना० प्र०—मृग। ८. युगला०—जा बन में की लाकड़ी, हनु०—जिस बन हम क्रीड़ा किया।

पांनीं मांहीं परजली[1], भई[2] अपरबल[3] आगि।
बहती सरिता[4] रहि गई, मच्छ[5] रहे जल त्यागि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—पांनीं = जल (प्र० अ०) विषयासक्त मानस। परजली = प्रज्वलित हुई। अपरबल = प्रबल। सरिता = नदी (प्र० अ०) प्रवहमान इन्द्रियाँ। मच्छ = मछली (प्र० अ०) जीवात्मा।

व्याख्या—जब गुरु ने ज्ञान-बिरह की आग लगाई तो प्रबल ज्वाला उठी और विषयासक्त मानस प्रज्वलित हो गया। इन्द्रियों का कार्य समाप्त हो गया और जीवात्मा रूपी मत्स्य ने विषय-वासना रूपी जल को छोड़ दिया।

अलंकार—अन्योक्ति।

समुन्दर[6] लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं।
देखि[7] कबीरा जागि, मंछी रूखा[8] चढ़ि गईं ॥ १० ॥
—(१२२) ॥

शब्दार्थ—समुन्दर=सागर (प्र० अ०) विषयासक्त मानस। नदियाँ = (प्र० अ०) इन्द्रियाँ। मंछी = (प्र० अ०) जीवात्मा। रूखा = वृक्ष (प्र० अ०) सहस्रार।

व्याख्या—विषयासक्त मानस में ज्ञान-विरह की आग लग गई, फलतः नदी रूपी इन्द्रियाँ भी, जो कि विषयों को लाकर मानस-सागर में प्रविष्ट करती हैं, उस मानस-सागर के जलने पर, स्वयं जलकर भस्म हो गईं। कबीर कहते हैं कि सचेत होकर देख, जीवात्मा अब सहस्रदल कमल पर पहुँच गया अर्थात् उसका ब्रह्म से मिलन हो गया। उसकी भौतिकता नष्ट हो गई।

---

१. ना० प्र०—पाणीं माँहै प्रजली। २. युगला०—हुई अपरवल। ३. ना० प्र०—अप्रबल। ४. ना० प्र०—सलिला, तिवारी-सलिता। ५. ना० प्र०—मंछ। ६. ना० प्र०—समन्दर। ७. युगला०—उठा। ८. ना० प्र०—रूषां, युगला०—विरछा।

(५) परचा को अङ्ग

कबीर तेज अनंत का, मानो[1] सूरज सेनि[2]।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतुक[3] दीठा[4] तेनि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—परचा = परिचय, पहिचान। अनंत = परम ज्योति, प्रभु, परमात्मा। सेनि = श्रेणी। कौतुक = रहस्य, वैचित्र्य। तेनि = उसके द्वारा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अनंत अर्थात् परमात्मा की ज्योति इतनी प्रबल है मानों सूर्य की श्रेणी उदय हुई हो। परन्तु इस ज्योति का अनुभव सबको नहीं होता। जो जीव मोह-निद्रा में सोता नहीं रहता, परमात्मा के साथ जागता रहता है, उसी के द्वारा यह रहस्य देखा जाता है।

टिप्पणी—प्रत्येक जीव तीन अवस्थाओं में रहता है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था में उसको स्थूल जगत् का बोध होता रहता है। उसमें मन, बुद्धि, अहंकार, पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच-कर्मेन्द्रियाँ और पंच-प्राण कार्य करते रहते हैं। स्वप्नावस्था में स्थूल जगत् का बोध नहीं रहता है, केवल संस्कार-जन्य कल्पना का अवगम होता रहता है। स्वप्नावस्था में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का कार्य बन्द हो जाता है, केवल मन, बुद्धि, अहंकार कार्यशील रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में मन का भी कार्य बन्द हो जाता है। सत्व और रज भी दब जाते हैं, केवल तमस् का प्राबल्य रहता है। अतः इस अवस्था में जीव प्रगाढ़ निद्रा में पड़ जाता है। इन तीन अवस्थाओं की पृष्ठभूमि में एक ऐसी अवस्था है जो अनन्त-ज्योति आत्मा की अवस्था है। इसमें कभी निद्रा नहीं होती। यह पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। इसी की ज्योति को कबीर ने 'अनन्त की ज्योति' कहा है। सुषुप्ति में प्रत्येक जीव अज्ञान की निद्रा में पड़ा रहता है। यह अज्ञान या मोह भावात्मक है। उसकी अपनी एक स्थिति है, जैसा कि निम्न अनुभव से स्पष्ट है, जो कि प्रत्येक व्यक्ति सोकर जागने पर करता है—'सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम्' अर्थात् मैं सुखपूर्वक सोया और मुझे कुछ का भी बोध नहीं रहा। यही 'कुछ का' बोध न होना अज्ञान है अर्थात् सुषुप्ति में अज्ञान रहता ही है। परन्तु जिस जीव को तुरीय या आत्मा का बोध नहीं रहता, वह जाग्रत् अवस्था में भी मोह-निद्रा में पड़ा हुआ है। जगत् के सभी प्राणी इसी मोह-निद्रा में हैं। जिनको तुरीय या आत्मा का बोध बना रहता है, वे सदा जाग्रत् हैं। इसी बात को गीता में कहा गया है—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' अर्थात् जो प्रत्येक प्राणी के लिए रात्रि है, उसमें योगी या संयमी जागता रहता है।

---

१. ना० प्र०—मानौं ऊगी सूरज सेणि। २. युगला, विचार०, हनु०—सैन। ३. ना० प्र०—कौतिग। ४. युगला०, विचार०, हनु०—देखा नैन।

कबीर ने इसी तथ्य का संकेत इस साखी में किया है। जिनको तुरीय अवस्था का परिचय हो जाता है, वे सभी अवस्थाओं में उस साक्षि-चैतन्य का अनुभव करते रहते हैं। और जैसे वह सदा जाग्रत् हैं, वैसे ही वे जीव भी सभी अवस्थाओं में जाग्रत् रहते हैं अर्थात् परमात्मा से अपना वियोग किसी भी अवस्था में नहीं समझते। इसी बात को कबीर ने कहा है—'पति संग जागी सुन्दरी, कौतुक दीठा तेनि' अर्थात् साक्षि-चैतन्य या आत्मा के साथ जो जीव जागता रहता है, वही इस आनन्दमय रहस्य का अनुभव करता है।

यहाँ 'पति' तुरीय साक्षि-चैतन्य के लिए प्रयुक्त हुआ है और 'सुन्दरी' जीव के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'दीठा तेनि' प्राचीन हिन्दी का कर्मवाच्य प्रयोग है। इसका अर्थ है—उसके द्वारा देखा गया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

> कौतुक दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
> साहिब सेवा मांहि है, बेपरवाँही दास॥ २॥

शब्दार्थ—उजास = प्रकाश, उजाला। बेपरवाँही = निश्चिन्त।

व्याख्या—इस विचित्र परिचय के दो विचित्र लक्षण हैं—एक तो मैं प्रत्यक्ष रूप से देख रहा हूँ, परन्तु उसका कोई देह या आकार नहीं है। निराकार का साक्षात्कार ही परिचय का स्वरूप है। दूसरा वैचित्र्य यह है कि वह एक अद्भुत ज्योति है, परन्तु वहाँ न सूर्य है न चन्द्र। सच बात तो यह है कि सूर्य और चन्द्र भी उसी ज्योति से प्रकाशित हैं।

'साहिब सेवा माँहि है'—के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) साहिब सेवा में ही है अर्थात् स्वामी सेवा से ही मिलता है। (२) दास साहिब सेवा माँहि है अर्थात् दास स्वामी की सेवा में लगा हुआ है। अतः वह बेपरवाही अर्थात् निश्चिन्त है।

अलंकार—विभावना।

> पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
> कहिबे[1] कौ सोभा नहीं, देखे[2] ही परमान[3]॥ ३॥

शब्दार्थ—उनमान = अनुमान। परमान = प्रमाण।

व्याख्या—परब्रह्म के प्रकाश का क्या अनुमान लगाया जा सकता है? अनुमान, प्रत्यक्ष, उपमान आदि साधन तो लौकिक या मायिक जगत् के हैं। उसका साक्षात्कार इन किसी भी साधनों के क्षेत्र में नहीं है। उसका सौंदर्य अनिर्वचनीय है। उसका प्रमाण केवल अपरोक्षानुभूति ही है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

---

१. ना० प्र०—कहिए कूँ, हनु०. विचार०—कहिबे की। २. ना० प्र०—देख्या। ३. ना० प्र०—परवान।

अगम अगोचर गमि नहीं, जहाँ[1] जगमगै[2] जोति।
तहाँ[3] कबीरा बन्दगी, पाप पुन्नि[4] नहिं छोति॥ ४॥

शब्दार्थ—अगम=पहुँच के बाहर। अगोचर = इन्द्रियातीत। गमि=पहुँच। जगमगै= प्रकाशित हो रही है। बन्दगी = प्रणत। छोति = छूत, स्पर्श।

व्याख्या—जो ज्योति जगमगा रही है, जिस परिचय (साक्षात्कार) का कबीर ने अनुभव किया है, वह मन, वचन से परे है। वह इन्द्रिय का विषय नहीं है। वहाँ किसी भी मायिक या लौकिक साधन का प्रवेश नहीं है। जिस परम 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' के सामने कबीर प्रणत हैं, वह स्थिति पाप-पुण्य से भी परे हैं। पाप-पुण्य तो अहं को लेकर होता है। वह अहं से परे हैं। अतः वहाँ पाप-पुण्य का क्या प्रश्न हो सकता है? वह तो पाप-पुण्य से परे है ही, उसका जो साक्षात्कार करता है, वह भी उससे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। अतः वह भी पाप-पुण्य से परे हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है :—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं,
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय,
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥
(३।१।३)

'जिस समय द्रष्टा सुवर्णवर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्तिस्थान उस जगत्कर्ता ईश्वर को देखता है, उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनों को त्यागकर निर्मल हो, अत्यन्त समता को प्राप्त हो जाता है।

हदे[5] छाँड़ि बेहदि गया, हुवा निरन्तर वास।
कवँल जु फूला फूल बिनु, को निरखै[6] निज दास॥ ५॥

शब्दार्थ—हदे = सीमा, ससीम। बेहद = असीम। निरन्तर = शाश्वत, देश-काल के व्यवधान से रहित।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं ससीम को पारकर असीम में पहुँच गया और वहाँ मेरी शाश्वत स्थिति हो गई। वहाँ मैंने अनुभव किया कि बिना किसी फूल के एक कमल खिला हुआ है। उसको प्रभु-भक्त के सिवाय कौन देख सकता है?

अलंकार—विभावना।

---

१. ना० प्र०—तहाँ। २. हनु०—विचार०—झिलमिली, युगला०—झिलमिल। ३. ना० प्र०—जहाँ। ४. ना० प्र०—पुन्य। ५. गुप्त—हद। ६. ना० प्र०—निरषै।

कबीर मन मधुकर भया, करै[1] निरन्तर बास।
कमल[2] जुफूला नीर बिनु, को[3] देखै निज दास ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मधुकर = भ्रमर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि उस कमल को देखकर मेरा मन भ्रमर के समान हो गया और वहीं निरन्तर मडँराता रहा। बिना जल के फूले हुए उस अद्भुत कमल को प्रभु-भक्त के सिवाय कौन देख सकता है?

उपर्युक्त दोनों साखियों में प्रयुक्त 'को' के दो अर्थ हो सकते हैं—(i) कौन देख सकता है? (ii) कोई प्रभु का दास ही देख सकता है। दोनों का भाव एक ही है।

अलंकार—विभावना।

अन्तरि कँवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ[4] लुबधिया, जानैगा[5] जन कोइ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—लुबधिया = लुब्ध हो गया। जन = भक्त।

व्याख्या—हृदय के भीतर कमल प्रकाशित हो रहा है। वहाँ ब्रह्म का निवास है। मन रूपी भ्रमर उस कमल पर लुब्ध होकर उसमें रमण करता रहता है। इस रहस्य को कोई प्रभु का भक्त ही जान सकता है।

अलंकार—रूपक

टिप्पणी—दहर (सूक्ष्म) पुण्डरीक में आत्मा की अनुभूति (परिचय)।

इन तीनों सखियों (५, ६, ७) में कबीर ने आत्मा के रूप में ब्रह्म के साक्षात्कार (परिचय) का बहुत सुन्दर चित्र अंकित किया है। दुर्भाग्यवश व्याख्याकारों ने इसे ठीक से नहीं समझा है। वे 'कवँल' शब्द से भ्रान्त हो गये हैं और उसे 'सहस्रार कमल' समझ लिया है। कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा है—'अन्तर कवँल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहँ होइ' अर्थात् दह कमल भीतर प्रकाशित हो रहा है। सहस्रार कमल सिर के ऊपरी भाग ब्रह्मरंध्र के पास होता है। उसे कबीर 'अँतर कँवल' कैसे कहते? कबीर ने यहाँ उस परम तथ्य का परिचय दिया है जिसको छान्दोग्य उपनिषद् ने 'दहर विद्या' कहा है। उसी परिप्रेक्ष्य में इन तीनों साखियों का अर्थ लेना समीचीन होगा।

इन साखियों से यह स्पष्ट है कि कबीर को परम गुह्य तथ्य का परिचय हुआ था। इस प्रकार के परिचय का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् (८।१ से ८।५ तक) में इन शब्दों में मिलता है :—

(१) 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।' (८।१)

---

१. ना० प्र०—रह्या, हनु०—युगला०—किया। २. ना० प्र०—कँवल ज फूल्या जलह बिन, विचार०—कमल खिला है नीर बिनु। ३. तिवारी०—विचार०—हनु०— निरखै कोइ, युगला०—निरखैंगे निज। ४. तिवारी०—जहँ। ५. ना० प्र०—जाणैंगा।

(२) तं चेद्ब्रूर्युर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वावविजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात । (८।२)

(३) यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति । (८।३)

(४) तं चेदब्रूयुरस्मिँश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति । (८।४)

(५) स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एषा आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः……… ! (८।५)

(१) उपनिषद् ने शरीर को 'ब्रह्मपुर' कहा है, क्योंकि इसमें ब्रह्म का निवास रहता है। छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय के प्रथम खण्ड में पहले यह बतलाया गया है कि इस ब्रह्मपुर अर्थात् शरीर में एक ऐसा वेश्म (निलय) है जो कि सूक्ष्म पुण्डरीक अर्थात् कमल के समान है। वह वेश्म अत्यन्त सूक्ष्म तत्व का बना है, जो इन्द्रियातीत है। उसके भीतर सूक्ष्म आकाश है। उस आकाश के जो भीतर है, उसी को खोजो। उसी को जानने की चेष्टा करो।

इसमें दो शब्द मननीय हैं—दहर और पुण्डरीक। 'दहर' शब्द का अर्थ है—सूक्ष्म। यह शब्द दह (दीप्तौ) + र के योग से बना है। 'दह' शब्द का अर्थ—दहन करना अर्थात् जलाना और दीप्ति या प्रकाश दोनों हैं। अतएव 'दहर' का अर्थ हुआ = सूक्ष्म प्रकाश वाला। 'पुण्डरीक' का अर्थ हैं—कमल। जिस प्रकार स्थूल, पार्थिव हृदय कमल के आकार का होता है उसी प्रकार उदर को वक्षस्थल से पृथक् करने वाली पेशी (Diaphragm) के नीचे जो छोटा सा गर्त है, उसके अन्तर में कमल के आकार का सूक्ष्म वेश्म (Space) है। उसके भी भीतर एक सूक्ष्म आकाश है। वहाँ एक अद्भुत ज्योति दहकती रहती है। उसी को उपनिषद् ने 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म' कहा है। इसी को कबीर ने कहा है—अन्तर कँवल प्रकासिया।'

वस्तुतः वह कमल नहीं है, किन्तु कमल के आकार का सूक्ष्म वेश्म है। इसी को कबीर अपनी विरोधाभासमयी वाणी में कहते हैं—'कमल जु फूला फूल बिनु' और 'कमल जु फुला नीर बिनु।'

(२) यदि शिष्य गुरु से पूछे कि ब्रह्मपुर में सूक्ष्म कमल रूपी वेश्म के भीतर जो सूक्ष्म आकाश है, वहाँ क्या विद्यमान है जिसका हम अन्वेषण करें और जिसको जानने की चेष्टा करें ? तो गुरु को कहना चाहिए :—

(३) जैसे ऊपर आकाश है, वैसे ही सूक्ष्म हृदय के भीतर आकाश है। उसके भीतर स्वर्ग (द्यौ) और पृथ्वी, अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र तथा विद्युत् और नक्षत्र स्थित

हैं। जो कुछ इस लोक में है और जो नहीं भी है, वह सब सम्यक् प्रकार से इसमें स्थित है। भाव यह है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, आत्मा उस सबका योनि है।

(४) यदि शिष्य आचार्य से कहे कि इस ब्रह्मपुर में सब समाहित है, तब सम्पूर्ण भूत (प्राणी और तत्व) और समस्त कामनाएँ भी सम्यक् प्रकार से स्थित होनी चाहिए, तो जिस समय यह वृद्धावस्था को प्राप्त होता है अथवा नष्ट हो जाता है, उस समय क्या शेष रह जाता है ?

(५) इसके उत्तर में आचार्य को कहना चाहिए कि इस देह की जरावस्था से ब्रह्म अथवा आत्मा जीर्ण नहीं होता। इसके (शरीर के) वध से उसका नाश नहीं होता। यह दहराकाश स्थित आत्मा सत्य है। इसमें सम्पूर्ण कामनाएँ सम्यक् प्रकार से स्थित हैं। यही वास्तविक आत्मा है। वह सब पापों से मुक्त है। वह जराहीन, मृत्युहीन, शोकहीन, भोजनइच्छा-रहित, पिपासा-शून्य, सत्यकाम और सत्य-संकल्प है।

मानव के अन्तस् में जो अप्राकृत कमलवत् स्थान है वही आत्मा का वेश्म है। इसी का संकेत कबीर ने इन साखियों में अपनी उलटवाँसी शैली में किया है और स्पष्ट रूप से कहा है कि 'ब्रह्मवास तहँ होइ।'

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है:—

> उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः।
> परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्॥
> (१०।८७।१८)

अर्थात् हे अनन्त ! ऋषियों के सम्प्रदायों में जो स्थूल दृष्टि वाले हैं, वे आपके उदर अर्थात् मणिपूरचक्र में रहने वाले ब्रह्म रूप की उपासना करते हैं। किन्तु अरुणवंशी मुनिजन हृदय में रहने वाले उस दहर संज्ञक आकाश रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं जिससे सब ओर जाने वाली नाड़ियाँ निकलती हैं।

श्रीधर स्वामी ने इसकी टीका करते हुए लिखा है—'आरुणयस्तु साक्षात् हृदयस्थं दहरं सूक्ष्ममेवोपासते' अर्थात् अरुणवंश वाले हृदय में स्थित साक्षात् सूक्ष्म ब्रह्म या आत्मा की उपासना करते हैं।

कठोपनिषद् में इसी हृदयस्थ अन्तरात्मा को प्रत्यगात्मा कहा गया है और अरविन्द घोष ने इसे (Psychic Being) कहा है।

सायर[1] नाहीं सीप नहिं,[2] स्वाति बूँद भी नाँहि।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर[3] गढ़[4] माँहि॥८॥

---

१. हनु०, विचार०, युगला०—सीप नहीं सायर नहीं। २. ना० प्र०—बिन। ३. ना० प्र०—सिषर, विचार०—सखर। ४. विचार०, युगला०—घट।

शब्दार्थ—सायर = सागर। मोती = (प्र० अ०) प्रकाश पुञ्ज। नीपजै = उत्पन्न होता है। सुन्नि सिखर = सहस्रार। गढ़ माँहि = शरीर के भीतर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि वहाँ न तो सागर है न सीप है और न स्वाति-बूँद अर्थात् मोती के उत्पन्न होने के जितने अपेक्षित कारण हैं, उनमें से एक भी विद्यमान नहीं है, फिर भी इस शरीर के भीतर शून्य शिखर अर्थात् सहस्रार में मोती उत्पन्न हो रहा है अर्थात् एक अद्भुत ज्योति का दर्शन हो रहा है। भाव यह है कि जब कुण्डलिनी उत्थित होकर सहस्रार में मिलती है, तब ज्योति का साक्षात्कार होता है।

अलंकार—विभावना।

घट माँहैं[1] औघट लह्या[2], औघट माँहैं[3] घाट।
कहि कबीर परचा[4] भया, गुरू दिखाई बाट॥ ९॥

शब्दार्थ—घट = शरीर। औघट = (सं०—अवघट्ट) विकट मार्ग। घाट = लक्ष्य, गन्तव्य स्थान। बाट = मार्ग।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि गुरु ने मार्ग दर्शन किया। फलस्वरूप इस शरीर में ही मैंने एक विकट मार्ग का अनुभव किया और उस विकट मार्ग से ही घाट अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। वहाँ मुझे सत्य का साक्षात्कार हुआ।

टिप्पणी—'अवघट घाट' में कुण्डलिनी के जागरण का संकेत है, जो कि मूलाधार चक्र से उठकर अन्य चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में जा मिलती है। वहाँ सत्य का साक्षात्कार होता है। यह विकट मार्ग है, जो कि गुरु के निर्देशन से ही पार किया जा सकता है। मूलाधार चक्र भौतिक जगत् है। सहस्रार कमल आध्यात्मिक जगत् है। उसमें से आत्म-ज्ञान की ज्योति निकला करती है।

अलंकार—विरोधाभास।

सूर समाना[5] चाँद मैं, दुहूँ[6] किया घर एक।
मन का चेता[7] तब भया, कछू पूरबला लेख[8]॥ १०॥

शब्दार्थ—सूर = सूर्य (प्र० अ०) सूर्यनाड़ी, पिंगला, दाहिनी नाड़ी। चाँद = (प्र० अ०) चन्द्र नाड़ी, इडा, बायीं नाड़ी। दुहूँ = दोनों। घर एक = सुषुम्ना में। चेता = चाहा हुआ, वाञ्छित। पूरबला = पूर्व जन्म का। लेख=लिखा हुआ।

व्याख्या—जब सूर्य नाड़ी (पिंगला) चन्द्र नाड़ी (इडा) में समा जाती हैं अर्थात् सुषुम्ना में चलने लगती है, तब मन का वाञ्छित फल मिल जाता है। यह पूर्व जन्म के पुण्य का ही परिणाम है।

---

१. अन्य प्रतियों में—मैं। २. अन्य प्रतियों में—पाइया। ३. विचार०, हनु०, युगला०—माँही। ४. विचार०—परिचय। ५. ना० प्र०—समाँणों चंद मैं, हनु०—चंद मँह। ६. ना० प्र०—दहूँ, अन्य प्रतियों में—दोऊ। ७. ना० प्र०—च्यंता, हनु०—चिंता तब गया। ८. हनु०, विचार०, युगला०—पुरब जनम का लेख।

टिप्पणी सुषुम्ना नाड़ी के ऊपर से दाहिनी ओर पिंगला (सूर्य नाड़ी) और बायीं ओर इड़ा (चन्द्र नाड़ी) स्थित है। एक में प्राण वायु का प्रवाह होता है और दूसरे में अपान का। प्राकृत जन में प्राण और अपान वायु तुल्य-बल नहीं होते। जब साधना के द्वारा ये दोनों वायु तुल्य बल हो जाते हैं, तब उदान वायु की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उदान वायु का प्रवाह सुषुम्ना में होने लगता है। इसी उदान वायु के प्रवाह के साथ कुण्डलिनी सुषुम्ना के भीतर से होती हुई छः चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में जा मिलती है। उस समय ज्योति का साक्षात्कार होता है।

हद्द[1] छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान[2]।
मुनि जन महल न पावहीं[3], तहाँ किया बिसराम[4] ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—हद्द = सीमा। बेहद=असीम। सुन्नि = शून्य।

व्याख्या—कबीर ने परिच्छिन्न अर्थात् सीमित से आगे बढ़कर अपरिच्छिन्न अर्थात् असीम को प्राप्त कर लिया है। अब वह शून्य के आनन्द-सागर में अवगाहन कर रहे हैं। जो स्थान बड़े-बड़े मुनियों को दुर्लभ है, वहाँ पहुँचकर कबीर पूर्ण विश्राम कर रहे हैं।

ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर शून्य शिखर है। इस साखी में उसी का संकेत किया गया है।

टिप्पणी—शून्य तथा शून्य शिखर :—

कबीर ने आठवीं साखी में 'सुन्नि सिखर' का निर्देश किया है और ९ वीं, १० वीं तथा ११ वीं साखियों में 'शून्य मार्ग' का उल्लेख किया है। शीर्ष के ऊपरी भाग में एक रंध्र है, जो कि स्थूल इन्द्रियों से परे है। वह रंध्र सुषुम्ना के भीतर से होता हुआ मूलाधार तक चला गया है। इसी रंध्र के ऊपर सहस्रदल कमल स्थित है। इसे ब्रह्म-रंध्र कहते हैं।

'शून्य' शब्द के कई अर्थ होतेहैं। किन्तु इन साखियों में 'शून्य' का अर्थ है—आकाश, पोपला या खोखला मार्ग। उसके भीतर कोई आकार नहीं है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि श्वास और प्रश्वास के तुल्य बल होने पर सुषुम्ना द्वार खुल जाता है। इसको ब्रह्म नाड़ी अथवा शून्य पथ भी कहते हैं। चन्द्र-सूर्य नाड़ी के तुल्य-बल हुए बिना यह शून्य-पथ उन्मुक्त नहीं होता।

सुषुम्ना नाड़ी के भी कई नाम हैं, जैसे—सुषुम्ना, शून्यपथ, ब्रह्मरंध्र, ब्रह्म नाड़ी आदि—

सुषुम्ना शून्यपदवी, ब्रह्मरंध्रं, महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥
—(हठयोग प्रदीपिका—३।४)

---

१. ना० प्र०—हद। २. तिवारी—सुन्नि किया अस्थान। ३. ना० प्र०—पावई। ४. ना० प्र०—विश्राम।

अर्थात् सुषुम्ना, शून्य पदवी, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शांभवी, मध्यमार्ग—ये पर्यायवाची हैं।

इसका विस्तृत वर्णन अन्य खण्ड में किया जाएगा। यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त है कि जब कुण्डलिनी ऊपर की ओर शून्य पथ से भेदन करती हुई शीर्ष के ऊपर वाले ब्रह्मरंध्र पर स्थित सहस्रार में जा मिलती है, तब उस शून्यावस्था को कबीर 'सुन्नि सिखर' नाम से अभिहित करते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि सुषुम्ना मेरुदण्ड में स्थित है, तथापि वह मेरुदण्ड नहीं है। मेरुदण्ड स्थूल शरीर का भाग है। सुषुम्ना नाड़ी प्राणमय कोष में है। वह सूक्ष्म है। इस संदर्भ में 'नाड़ी' शब्द भी स्थूल नाड़ी का पर्याय नहीं है। वह भी प्राणमय कोष में एक सूक्ष्म पथ है, जिसमें से प्राण, अपान आदि का प्रवाह होता रहता है।

अलंकार—सम्बंधातिशयोक्ति।

> देखौ करम[1] कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख[2]।
> जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख॥ १२॥

शब्दार्थ—दोसत = मित्र, प्रिय। अलेख = अलक्ष्य, निराकार।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह किसी पूर्व जन्म के पुण्य का परिणाम है कि जिस स्थान को बड़े-बड़े मुनि नहीं प्राप्त कर सकते हैं, वह अलक्ष्य, निराकार सत्ता कबीर के लिए प्रिय के समान प्राप्त है।

अलंकार—सम्बंधातिशयोक्ति।

> पिंजर[3] प्रेम प्रकासिया, जागी[4] जोति अनंत।
> संसा खूटा सुख भया[5], मिला[6] पियारा कंत॥ १३॥

शब्दार्थ—पिंजर = शरीर। संसा = संशय। खूटा = नष्ट हुआ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अन्तर में प्रेम का प्रकाश हुआ और अनन्त-ज्योति जगमगा उठी। परमतत्त्व के सम्बन्ध में जो कुछ भी सन्देह था, वह नष्ट हो गया और अपने प्रियतम से मिलन हो गया।

यदि 'जाग्या जोग अनन्त' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—अनंत के साथ सांत जीव का योग अर्थात् मिलन प्रकट हो गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. ना० प्र०—कर्म। २. तिवारी०—पूरबला लेख। ३. तिवारी०—पंजरि। ४. ना० प्र०—जाग्या जोग। ५. विचार०—छूटा भय मिटा। ६. ना० प्र०—मिल्या।

पिंजर[1] प्रेम[2] प्रकासिया, अंतरि[3] भया उजास।
मुखि[4] कस्तूरी महमहीं, बानी[5] फूटी बास ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—अन्तरि = हृदय में, भीतर में (प्राचीन हिन्दी का अधिकरण कारक का प्रयोग)। उजास = प्रकाश। मुखि = मुख में (प्राचीन हिन्दी का अधिकरण कारक का प्रयोग) महमही=सुगन्ध करने लगी।

व्याख्या—हृदय में प्रेम का प्रकाश हो गया और भीतर ही भीतर वह सारा प्रकाश छा गया। मुख में कस्तूरी जैसी सुगंध आने लगी और वाणी से उसकी सुगंध फूट निकली।

यहाँ पर 'सुगंध' लाक्षणिक प्रयोग है। भगवान का साक्षात्कार होने पर जीव का प्रत्येक शब्द प्रेम-रस-सिक्त और सुवासित हो उठता है। इसी को कबीर ने 'कस्तूरी हमही' द्वारा व्यक्त किया है।

मन लागा उनमन्न सौं[6], गगन पहूँचा जाइ[7]।
चाँद बिहूँना चांदिना[8], अलख[9] निरंजन राइ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—गगन = सहस्रार। बिहूँना = विहीन, रहित। चाँदिना = चाँदनी, प्रकाश। अलख = अलक्ष्य, जो दिखाई न दे। निरंजन = (१) अंजन = कालिमा, काजल। निरंजन = कालिमा रहित, प्र० अ० = त्रिगुणातीत, निर्गुण। (२) अंजन = व्यक्तीकरण, निरंजन=अव्यक्त।

व्याख्या—मेरा मन एक संकल्प-विकल्पात्मक अवस्था के ऊपर राम के मन में मिल गया। वह सहस्रदल कम ? पर पहुँच गया। वहाँ मैंने एक विचित्र प्रकाश का अनुभव किया, जो कि बिना चन्द्र .। के ही चाँदनी जैसा शीतल और स्निग्ध था। मैंने वहीं उस त्रिगुणातीत, निर्गुण, निराकार सत्ता का साक्षात्कार किया है जो कि स्थूल इन्द्रियों की पहुँच से परे है।

टिप्पणी—(१) उन्मन वह अवस्था है, जहाँ चंचल संकल्प-विकल्पात्मक मन शान्त हो जाता है और इससे एक उच्चतर चेतना का आविर्भाव होता है। यह उन्मन का साधारण अर्थ है। परन्तु कबीर अपने ढंग से उन्मन' को प्रायः 'उनके मन' अर्थात् 'राम के मन' के अर्थ में लेते हैं।

(२, सहस्रदल स्थूल शरीर के शीर्ष के ऊपर आकाश में स्थित है, जो कि स्थूल इन्द्रियों से परे है। वह एक ज्योति-पुञ्ज है जिसमें कमल के सहस्र दल की प्रतीति होती है। यतः यह सहस्रार कमल शीर्ष के ऊपर आकाश में स्थित है। अतः इसे 'गगन'

१. तिवारी०—पंजरि। २. हनु०—पीर। ३. हनु०, युगला०—अंतर ४. युगला०—सुख करि सती महल में। ५. ना० प्र०—वाणीं। ६. हनु०, विचार०, युगला०—उनमनि सो मन लागिया। ७. युगला०—गगनहि पहुँचा जाइ। ८. ना० प्र०—देख्या चन्द्र विहूँणाँ चाँदिणाँ ९. ना० प्र०—तहाँ अलख।

कहा गया है।

(३) अंजन का अर्थ है—कालिमा। निरंजन वह है, जिसमें कोई कालिमा न हो। यहाँ कालिमा या अंजन से तात्पर्य 'त्रिगुण' से है। अतः निरंजन त्रिगुणातीत, निर्गुण सत्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अलंकार—विभावना।

मन लागा उनमन्न सो[1], उनमन मनहि[2] विलग।
लौंन विलंगा पानियाँ[3], पानीं[4] लौंन विलग॥ १६॥

शब्दार्थ—उन्मन्न = उनका मन अर्थात् प्रभु का मन (कबीर का विशेष अर्थ में प्रयोग), भागवती चेतना। विलग = वि (उपसर्ग, विशेष रूप से) लग गया अर्थात् भली प्रकार लग गया। लौंन = नमक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन ने अपना स्वभाव छोड़ दिया और भागवत मन में उसी प्रकार से लीन हो गया जैसे नमक और जल मिलकर एक हो जाते हैं।

अलंकार—निदर्शना।

पानी[5] ही तैं हिम[6] भया, हिम[7] ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई[8] भया, अब कछु[9] कहा न जाइ॥ १७॥

शब्दार्थ—हिम = बर्फ। बिलाइ = विलीन हो जाना।

व्याख्या—एक ही तत्व की दो अवस्थाएँ हैं—सूक्ष्म अवस्था-जल और स्थूल अवस्था—बर्फ। मानव के भीतर जो साक्षि-चैतन्य है, जो चिन्मात्र है, वह पानी के समान है। वही चिन्मात्र अन्तःकरण से परिसीमित होकर चिदाभास अर्थात् जीव का रूप ग्रहण करता है। यह चिदाभास हिम अर्थात् बर्फ के समान है, क्योंकि जल की अपेक्षा में यह स्थूल है। जैसे बर्फ गलकर फिर पानी की अवस्था में आ जाती है, वैसे ही अन्तःकरण में जो चिदाभास है, वह फिर लीन होने पर चिन्मात्र हो जाता है अर्थात् जीव ब्रह्म के रूप में आ जाता है। जीव का जो मूल स्वरूप था, उसी में अब वह रूपान्तरित हो गया। (मन के इस रूपान्तरण को गौड़ पादाचार्य ने 'अमनीभाव' कहा है)। इसलिए अब उसके विषय में क्या कहा जाय? क्योंकि कोई नई वस्तु नहीं पैदा हुई है!

---

१. हनु०–विचार०–युगला०–उनमनि सो मन लागिया। २. हनु०–विचार–युगला०–नहीं विलंगि। ३. ना० प्र०–लूँण विलगा पाणियाँ। ४. ना० प्र०—पाँणी लूणाँ विलग। ५. ना० प्र०–पाणीं। ६. युगला०–हेम। ७. तिवारी०–विचार०–हिम ही, हनु०–हिंमहि, युगला०–हेमहि। ८. युगला०–सोही। ९. ना० प्र०–कछू कह्या।

भली भई जु भैं[1] पड़्या, गई दसा[2] सब भूलि।
पाला गलि पानी[3] भया, ढुलि[4] मिलिया उस कूलि॥ १८॥

शब्दार्थ—जु = जो। भैं पड़ी = हो गई ('भू' धातु से निष्पन्न)। दसा = सांसारिक दशा। पाला = बर्फ, हिम। कूलि = किनारा, (प्र० अ०) प्रभु।

व्याख्या—यह बहुत अच्छा हुआ कि मैं अपनी सांसारिक दशा को भूल गया और वास्तविक स्वरूप में परिणत हो गया। यह वैसे ही है जैसे हिम गलकर पानी हो जाता है और लुढ़क कर किनारे के जल से मिल जाता है।

यहाँ जीव का दृष्टान्त हिम से दिया गया है और कूल का दृष्टान्त प्रभु से।

अलंकार—दृष्टान्त।

चौहटै चिंतामणि[5] चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।
मीराँ मुझसूँ[6] मिहर करि, इब[7] मिलौं न काहू साथि॥ १९॥

शब्दार्थ—चौहटै = चौरस्ता (प्र० अ०) इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का संगमस्थल, यह दोनों भौंहों के मध्य का स्थान है जिसे त्रिकुटी कहते हैं। 'चौहट्ट' इसी का प्रतीक है। चिंतामणि = सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला कल्पित मणि (प्र० अ०) ब्रह्म साक्षात्कार, राम से मिलन। मीराँ = (अ०–मीर = अमीर का लघु रूप = अग्रगण्य) मेरे मालिक। मिहर (फा०) = दया, करुणा! इब = अब। हाड़ी = डाकू।

सामान्य अर्थ—मैं बाजार जा रहा था, वहाँ चौरस्ते पर चिन्तामणि मिल गया, परन्तु पास में खड़े हुए डाकू हाथ मारने लगे। हे दयालु! मेरे ऊपर दया करो। मैं इन सबों के चक्कर में न पड़ सकूँ।

प्रतीकार्थ—जीवन-यात्रा में मैं उस चौरस्ते पर पहुँच गया हूँ जहाँ प्रभु से मिलन हो गया है। परन्तु भीतर स्थित काम, क्रोध, मोह आदि डाकू मेरी उस अमूल्य निधि को झपट्टा मारकर छीन लेना चाहते हैं। हे दयालु प्रभु! मेरे ऊपर दया करो जिससे अब मैं इन सबों के चक्कर में न पड़ूँ।

अलंकार—अन्योक्ति।

पंखि[8] उड़ानी गगन कौं[9], पिण्ड[10] रहा परदेस।
पानी पीया चंचु विनु[11], भूलि गया यहु[12] देस॥ २०॥

---

१. युगला०–विचार०–भय परी, हनु०–भू पड़ी। २. युगला०–विचार०–दिसा। ३. ना० प्र०–पाणीं। ४. हनु०–विचार०–ढूलि मिला। ५. हनु०–विचार०–युगला०–चिंतामनि पाई चौंहटै। ६. हनु०–विचार०–युगला०–मुझ पर। ७. हनु०—विचार०—मिला न। ८. ना०—पंषि, हनु०—युगला०—पक्षि। ९. ना० प्र०—कूँ, हनु०—युगला०—को। १०. ना०प्र०—प्यंड रह्या। ११. ना० प्र०—पाँणी पीया चंच विन, हनु०—युगला०—पानी पीया चोंच बिनु। १२. हनु०—युगला०—वह।

शब्दार्थ—पंखि = पक्षी (प्र० अ०) जीवात्मा । गगन = आकाश (प्र० अ०) सहस्रार । पिण्ड = शरीर । पानी = जल (प्र० अ०) आध्यात्मिक आनन्द । चंचु=चोंच (प्र० अ०) इन्द्रियाँ ।

व्याख्या—जीव रूपी पक्षी (हंस) कुण्डलिनी के सहारे सहस्रार तक उड़ गया अर्थात् उसने सहस्रार पद में परमतत्व का साक्षात्कार कर लिया और यह भौतिक शरीर अपने स्थान पर यों ही पड़ा रहा, जो कि अब उस जीव के लिए परदेश-सा हो गया है। पहले जब जीव को परमतत्व का अनुभव नहीं था, तब उसके लिए शरीर ही स्वदेश था और परमतत्व परदेश। अब परमतत्व स्वदेश हो गया और शरीर परदेश हो गया। उसने इन्द्रियों के बिना ही आनन्द रस का पान किया और सांसारिक दशा को भूल गया अर्थात् इससे अब उसकी आसक्ति जाती रही।

अलंकार—विभावना, विरोधाभास।

पंखि[1] उड़ाँनी गगन कौं[2], उड़ी[3] चढ़ी असमान।
जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा[4] कान ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—असमान = आकाश (प्र० अ०) शून्य। सर = बाण (प्र० अ०) अनाहत नाद। मंडल = आकाश (प्र० अ०) सहस्रार। जिहि = जिस।

व्याख्या—जीवात्मा रूपी पक्षी (हंस) सहस्रदल तक उड़ गया और शून्य में स्थित हो गया। जो अनाहत नाद रूपी बाण गगन-मण्डल में व्याप्त है, वह स्पष्ट रूप से कानों को लग गया अर्थात् सुनाई पड़ने लगा। नाद-ब्रह्म का ज्ञान हो गया।

अलंकार—अन्योक्ति।

सुरति समानी[5] निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा[6] भया, तब खूले स्यंभ दुवार[7] ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—सुरति = प्रेमानुरक्त ध्यान और स्मरण। निरति = निरतिशय रूप से नाद ब्रह्म में लय। निरधार = निरावलम्ब। स्यंभ दुवार = शम्भु द्वार, ब्रह्मरंध्र।

व्याख्या—सुरति अर्थात् नाद का प्रेमानुरक्त स्मरण और ध्यान निरति में लीन हो गया। निरति चरमावस्था है। वह किसी आश्रय पर स्थित नहीं है। वह निराधार रहती है। जब सुरति को निरति का परिचय हुआ अर्थात् जब निरति की अवस्था पर प्रेमानुरक्त चित्त पहुँच गया, तब शम्भु का द्वार खुल गया अर्थात् प्रभु का साक्षात्कार हो गया।

---

१. ना० प्र०—पंषि। २ ना० प्र०—कूँ। ३. हनु०—युगला०—उड़िके चढ़ि। ४. हनु०—युगला०—लाया। ५. ना० प्र०—समाँणी। ६. हनु०—वि०—परिचय। ७. तिवारी०—तब खुलि गयासिंधु दुवार, युगला०—तव खुली सिंधु द्वार, वि०—खुल गया सिंधु दुवार, हनु०—खुल गौ शम्भु द्वार।

सुरति समानी[1] निरति मैं, अजपा माँहै[2] जाप।
लेख समानां[3] अलेख[4] मैं, यौं[5] आपा माँहै[6] आप॥ २३॥

शब्दार्थ—अजपा = सहज भाव से जप, मुख से बिना उच्चारण किया हुआ जप। लेख = जो लखा या देखा जा सके, प्रत्यक्ष, साकार। अलेख = अप्रत्यक्ष, निराकार। आपा = आत्मा। आप = अहं, खुदी।

व्याख्या—साधना की प्रगति में साधक स्थूल से सूक्ष्म, शब्द से अशब्द, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, साकार से निराकार, ससीम से असीम, अहंकार से निरहंकार की ओर बढ़ता चला जाता है और जब वह अशब्द, निराकार, अप्रत्यक्ष और निरहंकार अवस्था पर पहुँचता है, तब उसे ब्रह्म-तत्व का वास्तविक परिचय अर्थात् साक्षात्कार होता है। इसी तथ्य को कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि साधना की अंतिम अवस्था में सुरति निरति में लीन हो जाती है, सोच्चार जप निरुचार अवस्था में परिणत हो जाता है, साकार निराकार में परिणत हो जाता है और इसी प्रकार खुदी या आपा अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मा) में परिणत हो जाता है। यही परिचय की अन्तिम अवस्था है।

आया था संसार में[7], देखन[8] कौं बहु रूप।
कहै कबीरा संत हो,[9] परि[10] गया नजरि अनूप॥ २४॥

शब्दार्थ—नजरि=दृष्टि में। अनूप=अनुपम, परम तत्व।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे संतो! मैंने संसार में अनेक रूप देखने के लिए जन्म लिया था, परन्तु इन्हीं रूपों के भीतर अनुपम तत्व, जो अरूप हैं, मेरी दृष्टि में पड़ गया अर्थात् मुझे अनुपम तत्व का साक्षात्कार हो गया।

अलंकार—विरोधाभास की ध्वनि।

अंक भरे भरि भेटिया[11], मन नहिं बाँधै धीर।
कहै कबीर वह[12] क्यौं मिलैं, जब लगि दोइ सरीर॥ २५॥

शब्दार्थ—दोइ सरीर = (प्र० अ०) द्वैत भाव।

व्याख्या—प्रियतम के दर्शन होने पर मैंने उसका प्रगाढ़ आलिंगन किया, किन्तु फिर भी मन को तृप्ति नहीं हुई। कबीर कहते हैं कि जब तक द्वैत भाव बना हुआ है, तब तक वह पूर्ण रूप से कैसे मिल सकता है?

यहाँ पर 'दोइ सरीर' का प्रतीकार्थ है—द्वैत भाव। प्रियतम सशरीर नहीं है। प्रभु का परिचय होने पर भी जब तक देहात्म-भाव बना रहता है अर्थात् इस देह के कारण

---

१. ना० प्र०—समाँणी। २. हनु०—विचार०—युगला०—माहीं। ३. ना० प्र०—समाणाँ। ४ हनु०—विचार०—अलख। ५. ना० प्र०—यूँ। ६. हनु०—विचार०—युगला०—माहीं। ७. ना० प्र०—मैं। ८. ना० प्र०—देषण। ९. ना० प्र०—हौं। १०. ना० प्र०—पड़ि। ११. ना० प्र०—मन मैं नाँहीं धीर। १२. ना० प्र०—ते क्यूँ।

पृथक् भाव बना रहता है, तब तक प्रभु से पूर्ण मिलन नहीं हो सकता। जब देहात्म-भाव विलीन हो जाता है, तभी पूर्ण मिलन होता है।

तुलनीय— तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तूँ॥

सचु[1] पाया सुख ऊपजा[2], दिलदरिया भरपूरि[3]।
सकल पाप सहजैं[4] गये, साँईं[5] मिला[6] हजूरि॥ २६॥

शब्दार्थ—सचु=सच, सत्य। ऊपजा = उत्पन्न हुआ। दरिया (फा०)=सागर (इसका प्रधान अर्थ सागर और गौण अर्थ 'नदी' होता है)। सहजैं = अनायास, स्वतः। हजूरि=सामने।

व्याख्या—जब प्रभु से आमने-सामने मिलन हुआ तब सत्य का परिचय हुआ। फलतः आनन्द उमड़ पड़ा, हृदय रूपी सागर प्रेम और आनन्द के जल से लबालब भर गया और सारे पाप स्वतः विलीन हो गये।

अलंकार—रूपक।

धरती गगन पवन[7] नहिं होता, नहिं[8] तोया नहिं[9] तारा।
तब हरि हरि के जन हते[10], कहै कबीर विचारा[11]॥ २७॥

शब्दार्थ—तोया = तोय, जल। तारा = नक्षत्र (प्र० अ०) ज्योति, अग्नि। हते = थे। विचारा = विचारपूर्वक।

व्याख्या—कबीरदास विचारपूर्वक कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व पृथ्वी, आकाश, पवन, जल, अग्नि ये पाँचों तत्त्व नहीं थे। उस समय केवल हरि और उनके भक्त (जीव), अंशी और अंश ही थे।

जा दिन किरतम[12] नां हता, नहीं हाट नहिं बाट[13]।
हुता[14] कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट[15]॥ २८॥

शब्दार्थ—किरतम = कृत्रिम, बनावटी। हता = था। हाट-बाट (मुहाविरा) = बाजार (प्र० अ०) संसार। औघट = (सं० अवघट्ट) विकट मार्ग। घाट = लक्ष्य, गन्तव्य स्थान।

---

१ युगला०—सुचि। २. ना० प्र०—ऊपनाँ। ३. ना० प्र०—अरु दिल दरिया पूरि। ४. हनु०, युगला०—सहजे गया। ५. ना० प्र०—जब साईं, हनु०—साईं मिले हजूर, त्रि०—साहिब मिलै हजूर। ६. ना० प्र०—मिल्या। ७. युगला०, विचार०—पवनै नहीं, हनु०—धरती पवन नहीं हता, नहीं नवो अवतार। ८. ना० प्र०—नहीं। ९. न० प्र०—नहीं, विचार०, युगला०—नहीं होत तिथि बार। १०. युगला०, विचार०—तब हरि के हरिजन हुते, हनु०—तब हरिजन के हरि हते। ११. युगला०, विचार०, हनु०—विचार। १२. ना० प्र०—कृतमनां हुता। १३. ना० प्र०—होता हट न पट, तिवारी—होता हाट न बाट १४. युगला०, विचार०, हनु०—हता कबीरा संत जन। १५. ना० प्र०—जिनि देखै औघट घट, हनु०—जिन दिखलाई बाट।

व्याख्या--जिस समय यह कृत्रिम स्थान नहीं था अर्थात् सृष्टि नहीं हुई थी, संसार रूपी बाजार नहीं था, उस समय केवल राम का भक्त आदि गुरु कबीर था, जिसको लक्ष्य तक पहुँचने के कठिन और दुर्गम मार्ग का परिचय था।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—थिति = प्रतिष्ठित हो जाना । अनिन = अनन्य, अद्वितीय । तनि = तन में, शरीर में, भीतर । आचरी = संचारित हो रही है, क्रियाशील हो रही है । राइ = राजा ।

व्याख्या—सद्गुरु ने मेरी सहायता की । उनकी कृपा से मैं तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गया और मेरा मन अब स्थिर हो गया है, उसकी चंचलता जाती रही । मेरे भीतर अनन्य चरितार्थ हो गया और हृदय में भगवान त्रिभुवनपति विराजमान हो गए ।

टिप्पणी--इस साखी में 'अनिन' और 'आचरी' दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और व्यञ्जक शब्द हैं । अन् + अन्य = अनन्य वह है जिसके सिवाय कोई दूसरा है ही नहीं । यहाँ 'अनिन कथा' में तत्पुरुष समास है—अनन्य की कथा अर्थात् अद्वितीय प्रभु की कथा । यहाँ 'आचरी' का अर्थ है—चरितार्थ हो गया, वास्तविकता का रूप धारण कर लिया । 'अनिन कथा तनि आचरी' का अर्थ यह है कि अद्वितीय अब मेरे लिए केवल कथामात्र नहीं रह गया, वह अब वास्तविकता के रूप में मेरे भीतर चरितार्थ हो गया, मेरे रोम-रोम में बस गया है ।

हरि संगति सीतल भया[१], मिटी मोह की ताप[२] ।
निस बासुरि सुखनिधि[३] लहा, (जब[४]) अंतरिप्रगटा[५] आप ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—संगति = तादात्म्य, मिलन । निसि बासुरि = दिन-रात । आप = आत्मा ।

व्याख्या—अन्तर में आत्म-साक्षात्कार होने पर प्रभु से तादात्म्य हो गया, मोह की ज्वाला मिट गई और मैं निरंतर आनन्द-निधि का अनुभव कर रहा हूँ ।

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा[६] न जाइ ।
ज्वाला तैं[७] फिरि जल भया, बुझी[८] बलंती लाइ[९] ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—मानियाँ=स्वीकार कर लिया । बलंती = जलती हुई । लाइ=आग ।

---

१. हनु०—हिरा पाय शीतल भया, युगला०—हरि पाया शीतल भया । २. तिवारी, युगला०—मिटा मोह तन ताप, हनु०–मिटि जु तन का ताप । ३. ना० प्र०–सुख निध्यलह्या हनु०–सुख निन्द लह । ४. युगला० हनु० 'जब' नहीं है । ५. ना० प्र०—प्रकट्या, हनु०— प्रगटे । ६ तिवारी०–कतहुँ, हनु०–कहूँ न लाग, युगला०–कबहुँ न लाग । ७. हनु०–तो । ८. हनु० बूझी जलती आग । ९. युगला०—आग ।

व्याख्या—साक्षात्कार होने पर मेरे मन में पूर्ण निश्चय हो गया, संशय सर्वदा के लिए विलीन हो गया। उस स्थिति का मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। मोह की ज्वाला जल में परिणत हो गयी अर्थात् उसका पूर्ण शमन हो गया। वह जलती हुई मोह की आग पूर्ण रूप से बुझ गयी अर्थात् परिचय द्वारा पूर्ण शान्ति आ गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

तत पाया तन बीसरा[1], जब मनि धरिया ध्यान[2]।
तपनि[3] गई सीतल भया, जब सुन्नि[4] किया असनान॥ ३२॥

शब्दार्थ—तत=तत्व। बीसरा=भूल गया। मनि=मन में। सुन्नि=ब्रह्मरंध्र पर स्थित सहस्रदल कमल, शून्य-चक्र।

व्याख्या—जब मैंने मन में अपने प्रियतम का निरन्तर ध्यान किया अर्थात् जब प्रभु में बराबर सुरति लगाए रहा, तब तत्व का साक्षात्कार हो गया और शरीर की सुध-बुध जाती रही अर्थात् देहाध्यास (देहात्म-भाव) मिट गया। जब मैंने शून्य में स्नान किया तब मोह का ताप मिट गया और शीतलता अर्थात् शांति का अनुभव हुआ।

टिप्पणी—(१) सुन्नि—इस संदर्भ मे 'सुन्नि' का अर्थ है—ब्रह्मरंध्र पर स्थित सहस्रदल कमल। इसका दूसरा नाम है—शून्य चक्र। मन के शान्त होने पर साधक उस अवस्था को प्राप्त होता है जिसमें आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ का बोध नहीं रह जाता है। इसका दूसरा नाम है—सहज में स्थित होना अथवा केवलावस्था, निर्गुण का परिचय।

(२) अस्नान—स्नान करने में एक सुन्दर व्यंजना है। स्नान करने से शरीर में शीतलता आ जाती है। शून्य में 'अस्नान' करने के बाद ताप-त्रय मिट जाता है और सर्वथा शीतलता आ जाती है।

जिनि[5] पाया तिनि सुगहगह्या[6], रसनाँ लागी स्वादि।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या[7] बादि॥ ३३॥

शब्दार्थ—सुगह=(सं० सुग्रह) अच्छी तरह पकड़कर। गह्या=पकड़ रखा। रसना=जिह्वा। बादि=व्यर्थ।

व्याख्या—जिन्होंने परम तत्व को प्राप्त किया, उन्होंने उसे जकड़कर पकड़ रखा है अर्थात् पूर्ण रूप से हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया है। उसके माधुर्य का उन्होंने पूर्ण रूप से

---

१. ना० प्र०—बीसरया। २. हनु०, विचार०, युगला०—मन धाया धरि ध्यान। ३. हनु०, विचार०, युगला०—तपत मिटी, तिवारी०—तपनि मिटी। ४. ना० प्र०—सुनिं, विचार०, युगला०—सुन्न किया अस्थान, हनु०—श्नान किया असनान। ५. बि०, युगला०—पाया था सो गहि रहा, हनु०—पाया तिन सो गहि रहा। ६. ना० प्र०—सू गहगह्या। ७. हनु०, विचार०—ठठोला, युगला०—टटोरा।

आस्वादन किया। उनको एक अनुपम रत्न मिल गया है। वह अब जगत् में और कुछ ढूंढ़ना व्यर्थ समझते हैं। परमार्थ के प्राप्त होने पर अन्य अर्थ की क्या आवश्यकता है ?

अलंकार—व्यतिरेक।

कबीर दिल साबित[1] भया, पाया फल समरत्थ[2]।
सायर माँहि ढँढोलता[3], हीरैं[4] पड़ि गया हत्थ ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—साबित = पूर्ण। समरत्थ = समर्थ (सम + अर्थ = सम्यक् लक्ष्य)। सायर = सागर। ढँढोलता = टटोलता। हीरैं = हीरा ही।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं भव-सागर में अपने इष्ट को टटोल रहा था। गुरु-कृपा से मेरे हाथ हीरा ही आ गया अर्थात् सर्वोत्कृष्ट इष्ट मुझे प्राप्त हो गया। फिर तो मेरा हृदय परिपूर्ण हो गया और मैंने जीवन का सर्व-अर्थकारी परमोत्कृष्ट सम्यक्-लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

टिप्पणी—प्रभु की प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) बिना जीवन अपूर्ण है। वह तभी पूर्ण होता है, जब उसका परिचय मिल जाय।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जब मैं था तब हरि[5] नहीं, अब हरि[6] हैं मैं नाँहि।
प्रेम[7] गली अति साँकरी, या में दो न समाँहि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—मैं = आपा, अहंभाव। साँकरी = संकीर्ण, तंग, पतली। माँहि = मध्य में, भीतर।

व्याख्या—जब तक आपा रहता है, तब तक प्रभु से परिचय नहीं हो पाता। आपा मिटते ही प्रभु से मिलन हो जाता है। प्रेम की यह विलक्षणता है कि यद्यपि यह प्रारम्भ दो में होता है, तथापि जब तक द्वैत बना रहता है, तब तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती। द्वैत की समाप्ति पर ही परिपूर्णता आती है। प्रेम के मार्ग में दो के लिए स्थान नहीं है।

ना० प्र० की प्रति में दूसरी पंक्ति इस प्रकार है—'सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि' इसका अर्थ होगा—जब परम ज्योति का भीतर साक्षात्कार हुआ तो अज्ञानाधंकार द्वारा प्रसूत अहंभाव स्वतः समाप्त हो गया।

अलंकार—विरोधाभास।

---

१. ना० प्र०–स्याबति, हनु०, विचार०, युगला०–दरिया मिला। २. ना० प्र०—संम्रथ्थ। ३. अन्य प्रतियों में—ढँढोरता। ४. विचार०, युगला०—हीरा चढ़ि गया, हनु—हीरा चढ़िया। ५. बिचार–गुरु। ६. विचार०—गुरु। ७. ना० प्र०—सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि, हनु०, विचार०, युगला०—कबीर नगरी एक में, दो राजा न समाँहि।

जा[१] कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख[२] मिलिया आइ।
धन[३] मैली पिव[४] ऊजला, लागि न सक्कौं पाइ ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—कारणि = कारण, के लिए, प्रयोजन के लिए, निमित्त, लक्ष्य। सनमुख = सामने। धन = (धनि>(सं०) धनिका) स्त्री।

व्याख्या—जिसके लिए मैं मारा-मारा फिरता था, वह आज सामने मिल गया। किन्तु इस संकोचवश कि मैं कितना पाप-पंकिल, क्षुद्र-जीव हूँ और मेरा प्रिय कितना शुभ्र और महान् हैं, मैं पैर पकड़ने का भी साहस न कर सका।

टिप्पणी—यहाँ जीव को 'धनि' अर्थात् स्त्री और प्रभु को 'पिव' अर्थात् पति कहा गया है।

जा कारणि[५] मैं जाइ था, सोई[६] पाया ठौर।
सोई फिरि आपन[७] भया, जाको[८] कहता और ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—जा कारणि = जिसके लिए। जाइथा =ढूँढ़ रहा था। ठौर = स्थल।

व्याख्या—जिसको पाने के लिए मैं इधर-उधर भटकता फिरता था, उसको अपने भीतर ही पा लिया। जिसको मैं अन्य कहता था, अब देखता हूँ कि वही वास्तविक अपना है।

टिप्पणी—भक्ति में प्राय: ईश्वर को अज्ञानी जीव पहले अन्यपुरुष में सम्बोधित करता है। वह कहता है–"तस्यैवाहं" अर्थात् मैं उसका हूँ। भक्ति मार्ग में प्रगति होने पर जीव उसे मध्यमपुरुष के रूप में सम्बोधित करता है–"तवैवाहं" अर्थात् मैं तेरा हूँ। तीसरी या अंतिम अवस्था वह होती है, जब अहं पूर्णतया विलीन हो जाता है। तब जीव कह उठता है-"त्वमेव नाहं" अर्थात् तुम ही हो, मैं नहीं। तब जो अन्यथा, वही भीतर 'अहं' बन जाता है। जिसको पहले 'अहं' समझ रहे थे, वह समाप्त हो जाता है। इस साखी में इसी तथ्य की व्यञ्जना है।

कबीर देखा इक अगम[९], महिमा कही न जाय।
तेज पुंज पारस धनी[१०], नैननि[११] रहा समाय ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—अगम=जहाँ तक किसी की पहुँच नहीं है। पारस धनी=पारस जैसा सौभाग्यदायक।

व्याख्या—आज मेरा ऐसा भाग्योदय हुआ कि मैंने उसे देख लिया अर्थात् उसका परिचय प्राप्त कर लिया, जो अगम था, जिस तक किसी की पहुँच न थी। उसके गौरव

---

१. वि०—जा कारन मैं जाय था। २. विचार०—सो तो। ३. विचार०—साईं ते सनमुख भया, लगा कबीरा पाया। ४. गुप्त०—पीव उजला। ५. तिवारी—कारनि। ६. ना० प्र०—सोई पाई, हनु०, युगला०—सो तो पाय। ७. ना० प्र०—आपण। ८. ना० प्र०—जासूँ, तिवारी, गुप्त—जासौं। ९. ना० प्र०—देख्या एक अंग। १०. ना०प्र०—पारसधणीं, हनु०, युगला०—परसाधनीं। ११. ना०प्र०—नैनूं रह्या. हनु०, गुप्त०—नैनौं, युगला०—नैना।

और माहात्मय का वर्णन सम्भव नहीं। वह ज्योति-पुञ्ज है और अपने स्पर्श से पापी को भी पुण्यात्मा बनाने वाला पारस जैसा सौभाग्य-दायक है। अब वह मेरे नेत्रों में समा गया है अर्थात् मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता।

टिप्पणी—ना० प्र० में 'एक अंग' पाठ। किन्तु 'इक अगम' पाठ अधिक शुद्ध है। प्रतीत होता है कि 'अगम' का मकार भ्रमवश 'अ' के ऊपर बिन्दु रूप में लिपिक द्वारा कर दिया गया है। यदि 'एक अंग' पाठलिया जाय तो अर्थ होगा—एक निष्ठ होकर, अनन्य भाव से।

अलंकार—उल्लेख।

मानसरोवर[1] सुभर[2] जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता[3] चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं॥ ३९॥

शब्दार्थ—मानसरोवर=(प्र० अ०) सहस्रार अर्थात् शून्य-शिखर में स्थित अमृत कुंड। सुभर='शुभ्र' का अपभ्रंश है, किन्तु जायसी और कबीर में 'अच्छी तरह से भरा हुआ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जल=(प्र० अ०) अमृत। हंसा=(प्र० अ०) जीव। मुकताहल = मुक्ताफल, मोती (प्र० अ०) उत्कृष्ट, स्वच्छ, सत्वपूर्ण आनन्द। मुकता= मुक्त होकर, स्वच्छन्द होकर, छूटकर (यहाँ पर 'मुकता' शब्द क्रिया विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है)। अनत = अन्यत्र।

व्याख्या—जीव सुषुम्नामार्ग से पहुँचकर शून्य शिखर पर स्थित अमृत से लबालब भरे हुए कुण्ड में केलि कर रहा है और आनन्द रूपी मोती स्वच्छन्द रूप से छूटकर, जी भर कर चुग रहा है। इस आनन्द को छोड़कर वह अन्यत्र सांसारिक विषयों की ओर नहीं जा सकता।

टिप्पणी—(१)मुकता-मुकता में यमक अलंकार है। अन्योक्ति।

(२) शून्य चक्र को 'कैलाश' भी कहते हैं और मानसरोवर भी कैलाश में है।

गगन[4] गरजि अंम्रित[5] चुवै, कदली कँवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदगी[6], कै[7] कोई निज दास॥ ४०॥

शब्दार्थ—गगन = आकाश (प्र० अ०) सहस्रार। कदली = केला (प्र० अ०) मेरुदण्ड। कँवल = कमल के समान प्राणशक्ति का चक्र। बंदगी = नमन करना!

व्याख्या—इस साखी में सद्गुरु ने अनहदनाद की अनुभूति का सुन्दर वर्णन किया है। 'गगन गरजि' अर्थात् आकाश के गर्जन से तात्पर्य है—वह अनहद नाद जो सहस्रार में नित्य हुआ करता है और वहाँ से अमृत के समान शक्ति का क्षरण होता रहता है।

---

१. हनु०—नाम सरोवर। २. तिवारी—हनु०—सुभग, विचार०—गुप्त—सुगम। ३. हनु, विचार०—मोती। ४. हनु०—विचार०—युगला०—गरजै गगन। ५. ना०प्र०—अमृंत। ६. ना० प्र०—बंदिगी, हनु०, विचार०—संत जन। ७. तिवारी—कर, हनु०, विचार०—सत्य पुरुष के पास।

मेरुदण्ड की सुषुम्ना नाड़ी में चक्रों का प्रकाश होता रहता है। यह सब अनुभूति कुण्डलिनी के जागरण के समय होती है। कबीर कहते हैं कि इस अपूर्व अनुभूति के प्रत्यक्ष होने पर मेरा सिर झुक जाता है अथवा कोई और प्रभु का भक्त हो, जिसे यह अनुभूति हो जाय तो उसका सिर झुक जाएगा।

टिप्पणी—सहस्रार पद्म के मूल में जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है। इस साखी में जिस अमृत का उल्लेख है, वह वहीं से झरता रहता है। इसी को सोमरस कहते हैं—

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कंदे हि या योनिः तस्याः चन्द्रो व्यवस्थितः
त्रिकोणाकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्॥
—शिव संहिता-५।१०३

नींव[१] बिहूनां[२] देहुरा[३], देह बिहूनां[४] देव।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलख[५] की सेव॥ ४१॥

शब्दार्थ—बिहूनां = रहित। देहुरा=देवालय, मंदिर। बिलंबिया=रमा हुआ है। अलख=अलक्ष्य।

व्याख्या—सहस्रार तक पहुँचने पर जीव को एक ऐसे दिव्य भाव का साक्षात्कार होता है, जिसका सादृश्य स्थूल जगत् में नहीं मिलता। स्थूल जगत् में सुदृढ़ नीव पर बने हुए ईंट-पत्थर के देवालय में देव का दर्शन होता है, किन्तु वहाँ पर बिना किसी नींव के देवालय में देव के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है और वह देव भी अशरीरी अर्थात् निराकार होता है। कबीर उसका अनुभव कर उसमें रम गया और अलक्ष्य सत् की सेवा में लग गया।

अलंकार—विभावना।

देवल माँहे[६] देहुरी, तिल जेता[७] बिस्तार।
माँहै पाती[८] माँहि जल, माँहै पूजन हार[९]॥ ४२॥

शब्दार्थ—देवल=देवालय (प्र० अ०) शरीर। देहुरी=देहरी, देहली। माँहै= भीतर। जेता = समान, जितना।

व्याख्या—इसी शरीर रूपी देवालय में प्रवेश करने के लिए देहली विद्यमान है, जिसकी परिधि तिल के समान सूक्ष्म है। इस देवालय में बाहर से जल, पत्र आदि नहीं लाया जाता, भीतर ही पत्र है, भीतर ही जल है और भीतर ही पूजनेवाला भी है:

---

१. युगला०—देव, हनु०, विचार०—नेव। २. ना० प्र०-विहूणाँ। ३. हनु०, विचार०-युगला०-देहरा। ४. ना० प्र०-बिहूणाँ। ५. ना० प्र०—अलप। ६. अन्य प्रतियों में—माँहीं। ७. ना० प्र०—जेहै, हनु०, विचार०—जैसा। ८. हनु०, विचार०-फूल। ९. ना० प्र०—पूजणहार।

टिप्पणी—बिना पत्ती और जल के पूजन का तात्पर्य है मानसी पूजा, जिसके लिए बाह्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती।

कबीर[1] कँवल प्रकासिया, ऊगा[2] निर्मल सूर।
निसि[3] अँधियारी मिटि गई, बाजे[4] अनहद तूर॥ ४३॥

शब्दार्थ—कँवल = (प्र० अ०) सहस्रार। ऊगा=उदित हुआ। सूर=सूर्य (प्र० अ०) ज्ञान की ज्योति। निसि अँधियारी=रात्रि का अंधकार (प्र० अ०) अज्ञान की अँधेरी रात।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सहस्रार के प्रकाश का भान हो गया, ज्ञान का सूर्य उदय हो गया, अज्ञान की अँधेरी रात समाप्त हो गई और अनाहत नाद की तुरही बजने लगी।

टिप्पणी—इस साखी में एक सुन्दर रूपक की योजना है। भारत में सामन्तीय प्रथा इस प्रकार की थी कि रात्रि के अवसान होने पर सूर्योदय के समय महल के मुख्य द्वार पर तुरही बजाई जाती थी। उसके नाद को सुनकर सामन्त जग जाते थे। कबीर ने इस साखी में उसी प्रथा का उपयोग किया है।

अलंकार—अन्योक्ति।

अनहद बाजै नीझर[5] झरै, उपजै ब्रह्म गियान[6]।
अविगत[7] अंतरि प्रगटै[8], लागै[9] प्रेम धियान॥ ४४॥

शब्दार्थ—नीझर = निर्झर (प्र० अ०) सहस्रदल। गियान = ज्ञान। अविगत = अज्ञात, ब्रह्म।

व्याख्या—परिचय की अवस्था में अनाहत नाद निरन्तर निनादित होता रहता है। सहस्रार रूपी झरने से अमृत झरता रहता है और ब्रह्म का ज्ञान उदय हो जाता है। जो सर्वथा अज्ञात था, वह अब भीतर ही प्रकाशित हो गया और उसमें लौ लग गई।

टिप्पणी—इस साखी में भक्ति, ज्ञान और ध्यान का सुन्दर समन्वय है।

आकासे मुखि औंधा कुआँ,[10] पाताले पनिहारि।
ताका[11] जल[12] कोई हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि॥ ४५॥

शब्दार्थ—आकासे = आकाश में, (प्र० अ०) शून्य मण्डल। कुआँ = (प्र० अ०) सहस्रदल। पाताले=पाताल में (प्र० अ०) मूलाधार। पनिहारि = (प्र० अ०) कुण्डलिनी। जल = अमृत। हंसा = शुद्ध जीवात्मा। आदि = मूल, तथ्य।

---

१. युगला०—कबिरा। २. ना० प्र०—ऊग्या। ३. तिवारी—हनु०, विचार०—रैंनि अँधेरी। ४. तिवारी—बागे। ५. युगला०—हनु०—निझर। ६. युगला०—तब उपजै ब्रह्म ज्ञान। ७. ना० प्र०—आवगति। ८. हनु०—प्रगटहि। ९. हनु०, युगला०—लगा प्रेम निज ध्यान। १०. हनु०, विचार०—आकासे अँवदाँ कुआँ। ११. युगला०, हनु०—जल हंसा कोइ पीवई १२. ना० प्र०—पाणीं को।

व्याख्या—(१) कुण्डलिनी जागरण परक

कबीर ने इस साखी में उलटवासी के माध्यम से साधना के द्वारा कुण्डलिनी के जाग्रत् होने और सहस्रार कमल (चक्र) पर पहुँचने की अनुभूति को व्यक्त किया हैं। आकाश में एक अधोमुख कुआँ है, पानी भरनेवाली पाताल में है अर्थात् गगन-मण्डल में सहस्रार रूपी कुआँ है जिसका मुख नीचे की ओर हैं, पाताल अर्थात् मूलाधार चक्र में पनिहारिन रूपी कुण्डलिनी स्थित है। जब साधना द्वारा वह सुषुम्ना मार्ग से होकर सहस्रार में पहुँचती है, तब शुद्ध जीव उसके अमृत-जल को पीने में समर्थ होता है। इस मूलतत्व पर किसी बिरले ने ही विचार किया है अर्थात् इसे कोई बिरला ही समझता है।

(२) मुद्रा परक

यदि इस उलटवाँसी का मुद्रापरक अर्थ लिया जाय तो पनिहारिन जिह्वा होगी, कुआँ कपाल स्थित उस विवर को कहेंगे जहाँ से अमृत-रस टपकता रहता है। खेचरी मुद्रा द्वारा कोई शुद्ध जीव ही उस अमृत को पी सकता है। इस मूलतत्व को कोई विरला ही समझता है।

टिप्पणी—खेचरी मुद्रा

जब जिह्वा को उलटकर कपाल कुहर में विपरीत रूप से प्रविष्ट करते हैं और दृष्टि को भौहों के मध्य में स्थिर करते हैं, तब खेचरी मुद्रा होती है। 'खे' अर्थात् आकाश में 'चरी' अर्थात् गत होने वाली मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहते हैं। उक्त आकाश में चित्त और जिह्वा दोनों पहुँच जाते हैं। इसलिए यह 'खेचरी मुद्रा' कहलाती है।

सिव[1] सक्ती दिसि को[2] जुवै, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल में सिंह[3] जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि॥ ४६॥

शब्दार्थ—सिव = (प्र० अ०) पिंगला। सक्ती = (प्र० अ०) इड़ा। जुवै = खोज करना, देखना, जोहना। पछिम दिसा = (प्र० अ०) सुषुम्ना। सिंह = (प्र० अ०) जीव। मछली = (प्र० अ०) कुण्डलिनी। खजूरि = (प्र० अ०) शून्यचक्र।

व्याख्या—ज़ब कुण्डलिनी का जागरण होता है, तब सुषुम्ना में वेग से उदान वायु उठने लगती है। सुषुम्ना शरीर के 'पश्चिम' या पृष्ठ भाग में है। सुषुम्ना में वायु के वेग से चलने को 'पछिम दिसा उठै धूरि' द्वारा व्यक्त किया गया है। 'मछली' कुण्डलिनी का प्रतीक है। कुण्डलिनी का ऊपर शून्यचक्र तक जाना 'मछली चढ़ै खजूरि' द्वारा व्यक्त किया गया है। यहाँ 'सिंह' जीव का प्रतीक है। जब कुण्डलिनी ऊपर सहस्रार तक पहुँच जाती है, तब जीव मानसरोवर में अवगाहन करने लगता है (दे० साखी नं० ३९)। सिद्धों, नाथ योगियों और कबीर में 'सक्ति' इड़ा का प्रतीक है और 'सिव' पिंगला का। कुण्डलिनी का जागरण तभी संभव होता है, जब इड़ा-पिंगला में स्थित प्राण-अपान वायु

---

१. युगला०—हनु०—शिव शक्ती। २. ना० प्र०—कौण जु जोवै, गुप्त०—कूँण जु जोवै।
३. ना० प्र०—स्यंघ।

तुल्यबल हो जायें। किन्तु कोई ऐसा बिरला ही जीव है जो इस मार्ग का अनुसंधान कर सकता है।

अलंकार—विरोधाभास।

> अंमृत बरिसै हीरा निपजै[1], घंटा पड़ै टकसाल[2]।
> कबीर[3] जुलाहा भया पारखी[4], अनुभौ[5] उतर्‌या पार ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—हीरा = सर्वोत्तम रत्न, वज्र। निपजै=उत्पन्न होता है। घंटा = (प्र० अ०) अनाहत नाद। टकसाल = निर्दोष, शुद्ध। पारखी = परिचय प्राप्त करने वाला। अनुभौ = स्वानुभूति।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब शुद्ध अनाहत नाद का परिचय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पात्मक मन उसी में लय को प्राप्त हो जाता है। उस समय तत्व का साक्षात्कार होता है और आनन्द की अमृतवर्षा होने लगती है। तत्व का साक्षात्कार होना 'हीरा निपजै' द्वारा व्यक्त किया गया है। जिस प्रकार हीरा या वज्र शुद्ध, प्रकाशमान और अभेद्य होता है, उसी प्रकार जीव भी शुद्ध, दीप्तिमान और अभेद्य बन गया। (हीरा में 'वज्र' की व्यंजना वज्रयानियों से चली आई है)। कबीर ने उसका परिचय प्राप्त कर लिया है और अपने अनुभव से भव-सागर के पार उतर गये हैं।

> ममता[6] मेरा क्या करै, प्रेम उघारी[7] पौलि।
> दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौलि[8] ॥ ४८ ॥
> —१७०

शब्दार्थ—पौलि = (पौल>प्रतोली) दरवाजा। सूल = पीड़ा, कष्ट। सौलि = सौरि, चादर।

व्याख्या—प्रभु प्रेम ने रहस्य का द्वार खोल दिया। इससे मुझको दयामय प्रभु का साक्षात्कार हो गया। अब ममता मेरा क्या बिगाड़ सकती है ? अहं और मम का भाव ही समाप्त हो गया है और भव का कष्ट सुख की चादर बन गया अर्थात् सभी दुःख आनन्द में परिणत हो गए।

---

१ विचार०—बरसि अमृत निपज हिरा। २. युगला०, विचार०—घटा पड़े (परै) टकसार, गुप्त-घंटे। ३. युगला०, विचार०—तहाँ कबीरा पारखी। ४. ना० प्र०—पारषू, गुप्त०—पारिखू। ५. ना० प्र०—अनभै। ६. ना० प्र०—ममिता। ७. ना० प्र०—उघाड़ी। ८. ना० प्र०—सौड़ि।

(६) रस को अङ्ग

कबीर[1] हरि रस यौं[2] पिया, बाकी रही न छाकि[3]।
पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़िहै[4] चाकि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—रस = ब्रह्मानन्द का स्वाद। छाकि = तृप्ति, छक कर पीने का भाव। कलस = घड़ा।

व्याख्या—कबीर ने प्रभु-प्रेम का रस इतना पी लिया है कि अब और पीने की वाञ्छा शेष नहीं रह गई है अर्थात् वह पूर्ण रूप से तृप्त हो गए हैं। जब कुम्हार का घड़ा आवाँ में पक जाता है तब उसे पुन: चाक पर चढ़ाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, उसी प्रकार जब साधक पक जाता है अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, तब वह इस संसार-चक्र में पुन: नहीं आता। वह इसी जीवन में मुक्त हो जाता है।

यदि 'थाकि' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—अब सांसारिक-यात्रा की थकावट शेष नहीं रह गई।

अलंकार—निदर्शना।

राम रसाइन प्रेम रस,[5] पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवन[6] दुलभ है, माँगै सीस कलाल ॥ २ ॥

शब्दार्थ—रसाइन = रसायन। पीवत = पीने में। रसाल = रसयुक्त, मधुर। पीवन = पीना। दुलभ = दुर्लभ, कठिन। सीस = (प्र० अ०) आपा, अहं, खुदी। कलाल = कलवार (प्र० अ०) गुरु।

व्याख्या—रसायन उस औषध को कहते हैं जो शरीर की अवस्था में परिवर्तन कर देता है, जरा-जीर्ण अवस्था को युवावस्था में परिणत कर देता है।

प्रभु का प्रेम वह रसायन है जो देहात्म-भाव को स्वरूप-भाव में परिणत कर देता है। वह पीने में अत्यन्त स्वादिष्ट और मधुर होता है। कबीर कहते हैं किन्तु उसका पीना कठिन है, क्योंकि उसको पिलानेवाला कलवार अर्थात् गुरु मूल्य रूप में आपा का विनाश चाहता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. युगला०—कबिरा। २. गुप्त—यूँ, हनु०—यों। ३. ना० प्र०—थाकि, हनु०—छाक। ४. हनु०—चढ़े नहिं, ना० प्र०—न चढ़ई। ५. हनु०—नाम रसायन अधिक रस। ६. ना० प्र०—पीवण।

कबीर भाठी कलाल[1] की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपै सोई पिबै[2], नहीं[3] तौ पिया न जाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—भाठी = शराब की भट्टी। कलाल = (सं० कल्यपाल) कलवार, (प्र० अ०) गुरु।

व्याख्या—कलाल रूपी गुरु के पास बहुत से मदिरा-प्रेमी रूपी शिष्य आकर बैठे हैं। किन्तु जो गुरु को अहंकार रूपी सिर समर्पित कर सकता है, वही इस प्रेम रूपी मदिरा को पीने का अधिकारी है, अन्यथा कोई भी यह मदिरा न पी सकेगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, व्यतिरेक।

हरि रस पीया जानिये[4], जे कबहुँ न जाइ खुमार[5]।
मैमंता[6] घूमत फिरै,[7] नाहीं तन की सार ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—जे = यदि। खुमार = नशा। मैमंता = मदमत्त, मतवाला। सार = सुधि, संभाल।

व्याख्या—प्रभु की प्रेम-मदिरा पी हुई तब समझना चाहिए, जब एक बार पीने से उसका नशा कभी न उतरे। जीव मदमत्त हाथी के समान उस प्रेम के उन्माद में घूमता फिरे और उसे अपने शरीर की भी सुधि न रह जाय।

मैमंता[8] तिन[9] ना चरै, सालै चित्त[10] सनेह।
वारि[11] जु बाँधा[12] प्रेम कै, डारि रहा सिरि खेह[13] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मैमंता = मतवाला हाथी (प्र० अ०) प्रेमी-जीव। तिन = तृण (प्र० अ०) सांसारिक भोग-विलास। सालै = वेदना पहुँचाना, चुभना। वारि = वार पर, द्वार पर। खेह = धूल।

व्याख्या—जिस प्रकार मतवाला हाथी द्वार पर बँधा हुआ अपने तन की सुधि नहीं रखता। वह तृण को खाना भी भूल जाता है और बार-बार अपने सिर पर धूल डालता रहता है, उसी प्रकार प्रेमोन्मत्त साधक के हृदय में प्रेम का शल्य निरन्तर चुभता रहता है। वह सांसारिक भोग-विलास से विरत हो जाता है। वह प्रेम के द्वार पर सदा बँधा रहता है और तन की सुध-बुध पूर्णतया खो बैठता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. हनु०, युगला०—प्रेम। २. हनु०, युगला०—सो पीवई। ३. हनु०—औरहि, युगला०—औरपै। ४. ना० प्र०—जाँणिये। ५. अन्य प्रतियों में—(जे) उतरै नाहिं खुमार। ६. अन्य प्रतियों में—मतवाला घूमत फिरै, नहीं जो तन की सार। ७. ना० प्र०—रहै। ८. युगला०—मोहमता नहिं संचरै, हनु० विचार०—महमंता नहिं त्रिन चरै। ९. ना० प्र०—तिण, तिवारी—त्रिण। १०. ना० प्र०—चिता। ११. अन्य प्रतियों में—वारिज बंधा कलाल के। १२. ना० प्र०— बाँध्या। १३. ना० प्र०—षेह।

मैमंता[१] अविगत रता, अकलप आसा जीति।[२]
राम अमलि[३] माता रहै, जीवन मुकुति अतीति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अविगत = अगम्य, जहाँ तक किसी की पहुँच नहीं, जो जाना नहीं जाता, परम प्रभु। रता = अनुरक्त। अकलप = निर्विकल्प। अमलि = नशे में। आसा = तृष्णा। अतीति = (अति + ईति = आगे चला गया हुआ), द्वन्द्वातीत, द्वन्द्व से परे।

व्याख्या—प्रेम-रस से मदमत्त साधक परम-प्रभु के प्रेम में सदा अनुरक्त रहता है। उसके संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। वह तृष्णा पर विजय प्राप्त कर लेता है। प्रभु के प्रेम के नशे में सदा माता रहता है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और सब द्वन्द्वों से परे हो जाता है।

जिहि सरि घड़ा न बूड़ता[४], मैगल[५] मलि मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सों,[६] पंखि[७] तिसाई जाइ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सरि = सर में, तालाव में। मैंगल = मदमस्त हाथी। देवल = देवालय (प्र० अ०) शरीर। कलस = चोटी, सिर। सों = तक। पंखि = पक्षी (प्र० अ०) जीव। तिसाई = प्यासा ही, तृषित ही।

व्याख्या—(प्रस्तुत अर्थ) जिस सरोवर में पहले जलाभाव के कारण एक घड़ा भी नहीं डूबता था उसमें अब एक देवालय भी शिखर तक डूब जाता है और जहाँ से एक पक्षी भी प्यासा लौट जाता था, अब वह जल से इतना परिपूर्ण हो गया है कि उसमें एक मदगल हाथी भी खूब मल-मलकर स्नान करता है।

(अप्रस्तुत अर्थ)—जो हृदय पहले प्रेम-शून्य था, उसमें जीव साधारण डुबकी भी नहीं लगा सकता था, वह अब प्रेम से इतना लबालब भर गया है कि साधक का शरीर सिर तक उसमें अवगाहन कर सकता है। इसी तथ्य को उपर्युक्त वैषम्य द्वारा परिपोषित किया गया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सबै रसाइन[८] हम[९] किया, हरि सा और न कोइ[१०]।
तिल इक[११] घट मैं संचरै, सब[१२] तन कंचन होइ ॥ ८ ॥
—१७८ ॥

---

१. युगला०—मोहमता, विचार०—महमंता। २. युगला०, बिचार०—आसा अकल अजीत। ३. विचार०, युगला०—नाम अमल। ४. ना० प्र०—डूबता। ५. ना०प्र०—अव मैगल। ६. ना० प्र०—सूँ। ७. ना० प्र०—पंषि, हनु०—पंछि पियासे जाय, युगला०—पंक्षी पियासा जाय। ८. ना० प्र०—रसाँइण। ९. ना० प्र०—मैं। १०. तिवारी—हरि रस सम और न कोइ। ११. तिवारी—रंचक, हनु०—रंचक तन में। १२. ना० प्र०—तौ सब।

व्याख्या   मैंने सभी रसायनों का प्रयोग किया अर्थात् सभी साधनाओं का अवलम्बन किया, परन्तु प्रभु-प्रेम के समान दूसरी रसायन न मिली अर्थात् भक्ति और समर्पण के समान, मेरे अनुभव में, दूसरी कोई साधना नहीं है। यदि यह रसायन इस शरीर में रत्ती-भर भी संचरित हो जाय तो सारा शरीर स्वर्णमय हो जाय अर्थात् यदि किञ्चित् प्रेम भी हृदय में जाग्रत हो जाय तो सारा अन्तःकरण शुद्ध और कान्तिमय हो जाय।

(७) लाँबि को अंग

कया[1] कमंडल भरि[2] लिया, उज्ज्वल[3] निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—लाँबि = लम्बाई, प्रभु जीव से साधारणतः इतना दूर रहता है कि मन को उसकी गहराई की थाह नहीं मिलती। उज्ज्वल निर्मल नीर = भगवद्भक्ति का रस। जोवन = यौवन। प्यास न मिटी = तृप्ति नहीं होती।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि भगवद्भक्ति के उज्ज्वल और निर्मल जल से मैंने शरीर रूपी कमण्डल को भर लिया है। शरीर और मन की पूरी शक्ति के साथ मैंने इस भक्ति-रस का पान यौवन-भर किया, किन्तु मेरे अन्तःकरण की प्यास नहीं बुझी।

अलंकार—रूपक, विशेषोक्ति।

मन उलटा[5] दरिया मिला,[6] लागा मलि मलि[7] न्हाँन।
थाहत थाह न पावही,[8] तू पूरा रहमाँन[9] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—दरिया = समुद्र। पूरा = पूर्ण। रहमाँन = कृपालु।

व्याख्या—मेरा मन विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी हो गया और ब्रह्मज्ञान रूपी समुद्र में प्रवाहित हो गया। उसमें मल-मलकर स्नान करने लगा अर्थात् निर्मल हो गया और सारा पाप दूर हो गया। किन्तु उसकी गहराई की थाह नहीं लगती। हे दयालु! तू पूर्ण है अर्थात् ससीम की थाह तो लग सकती है, किन्तु जो सर्वथा असीम और परिपूर्ण है, उसकी थाह लगना असम्भव है।

टिप्पणी—(i) यहाँ पर सन्तों की 'उलट धार' का संकेत किया गया है जिसकी पूरी व्याख्या पाँचवे खण्ड में की जायेगी।

(ii) मन उलटा दरिया मिला—मन छठी इन्द्रिय है। इसका स्वभाव संकल्प-विकल्पात्मक है। परमार्थ निर्विकल्प है। अतः संकल्प-विकल्पात्मक मन के द्वारा परमार्थ का परिचय नहीं मिल सकता। संकल्प-विकल्पात्मक मन पदार्थ को खण्ड-वृत्ति से देखता है और विषयों की ओर आसक्त रहता है। इस मन को उलटने पर ही 'उन्मनी दशा' में परमार्थ का परिचय मिल सकता है। सन्त-सम्प्रदाय में इस क्रिया को 'मन मारना' भी कहते हैं।

---

१. हनु०—काया। २ यु०—कर। ३. यु०—तुम जल। ४. यु०, हनु०—पीवत तृषा न भाजही, तिरषावंत कबीर। ५. ना० प्र०—उलट्या, यु०, हनु०—उलटी। ६. ना० प्र०—मिल्या। ७. हनु०, यु०—मलमल। ८. ना० प्र०—आवई। ९. ना० प्र०—रहिमाँन।

धीरे-धीरे यह एक संस्कार-सा हो गया और सन्त-सम्प्रदाय में, कबीर-पंथ में दीक्षा के समय प्रतीक रूप से दस कदम पीछे हटते हैं।

हेरत हेरत हे सखी, रहा[1] कबीर हिराइ।
बूँद समानी[2] समुंद मैं, सो कत हेरी जाइ॥ ३॥

शब्दार्थ—हेरत-हेरत = खोजते-खोजते। हिराइ = खो गया। कत = (सं०—कुतः) कैसे, कहाँ से।

सन्दर्भ—इस साखी में कबीर ने साधक की उस अवस्था का वर्णन किया है जिसमें उसका पृथक् अहं परम में विलीन हो जाता है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था अहं को लेकर ही चलती है, किन्तु अन्तिम अवस्था में वह अहं परम से किसी प्रकार भी पृथक् नहीं रह सकता। वह उसी प्रकार परम में विलीन हो जाता है, जैसे बूँद समुद्र में मिलने पर अपना पृथक् अस्तित्व खो देता है। उस मिलन के अनन्तर 'मैं' शब्द केवल वक्ता का संकेत मात्र रह जाता है।

व्याख्या—हे भाई सन्तो! परम को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मेरा अहं उसी में खो गया। उसका पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो गया। जैसे बूँद समुद्र को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब उसमें मिल जाती है, तब उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अब वह किस प्रकार खोजकर अलग दिखलायी जा सकती है अर्थात् उस बूँद को पुनः समुद्र से अलग नहीं कर सकते। ठीक इसी प्रकार यह जीव जो पहले नाम-रूप को लेकर 'अहं' बना हुआ था, जब प्रभु की खोज में चलते-चलते नाम-रूप से पृथक् होकर प्रभु से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, तब उस जीव रूपी अहं का पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता है।

अलंकार—दृष्टान्त।

हेरत हेरत हे सखी, रहा[3] कबीर हिराइ।
समुंद समाना[4] बूँद मैं, सो कत हेर्या जाइ॥ ४॥
—१८२॥

सन्दर्भ—इस साखी में पूर्व की स्थिति को दूसरे ढंग से कहा गया है। मिलन की स्थिति एक ही है। पूर्व की साखी में वह साधक की ओर से कही गयी है और इस साखी में वह परमात्मा की ओर से कही गयी है। जब मिलन की अवस्था आती है, तब भीतर से एक ऐसी शक्ति उठती है जो कि जीव के 'अहं' को आत्मसात् कर लेती है। इसी तथ्य को दो प्रकार से कह सकते हैं—पहले प्रकार से कहा गया है कि अंश अंशी में समा गया। इस साखी में कहा गया है कि अंशी अंश को आत्मसात् कर लेता है। इसमें प्रभु के अनुग्रह की व्यञ्जना है।

---

१. ना० प्र०—रह्या। २. गुप्त—समांणी। ३. ना० प्र०—रह्या। ४. गुप्त—समांणां।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे भाई सन्तो ! प्रभु को खोजते-खोजते मैं स्वयं खो गया। समुद्र (अंशी) ने बूँद (अंश) को आत्मसात् कर लिया। अब उस बूँद का पृथक् अस्तित्व कैसे खोजा जा सकता है ?

टिप्पणी—उपर्युक्त दोनों साखियों में जीव को प्रिया के रूप में लिया गया है और प्रभु को प्रियतम के रूप में। इसीलिए प्रिया अपने साथी को 'सखी' शब्द द्वारा सम्बोधित करती है। भावार्थ यह है कि साधक अपने साथी से कह रहा है।

अलंकार—दृष्टान्त।

●

(८) जरणां को अंग

'जरणां' शब्द का तात्पर्य है—अत्यन्त प्राचीन, अनादि काल से जैसा है वैसा। इसका लक्ष्यार्थ है—अनिर्वचनीय।

भारी कहूँ[१] त बहु डरौं[२], हलका[३] कहूँ तो झूठ[४]।
मैं का जानौं[५] राम को, नैनाँ[६] कबहुँ न दीठ॥ १॥

शब्दार्थ—नैनां = नेत्रों से।

व्याख्या—उपनिषद् के शब्दों में ब्रह्म 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' है अर्थात् वह छोटे से छोटा और बड़े से भी बड़ा है। भाव यह है कि उसका कोई परिमाण नहीं जिसके द्वारा उसका निरूपण हो सके। इसीलिए कबीर कहते है कि यदि मैं उसे भारी कहता हूँ तो भय लगता है कि मैं उसके साथ अन्याय कर रहा हूँ, क्योंकि उसका कोई तौल नहीं हो सकता। यदि उसे हल्का कहता हूँ तो सरासर असत्य होगा, क्योंकि वह इतना गम्भीर और महान् है कि उसे हल्का कैसे कहा जा सकता है? किसी अन्य वस्तु की तुलना में ही कोई वस्तु हल्की या भारी बताई जा सकती है। ससार की सब वस्तुओं के अधिष्ठान्—ब्रह्म की किस वस्तु से तुलना की जा सकती है? वह स्थूल और साकार तो है नहीं, अतः इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। मैंने इन नेत्रों से उसे कभी देखा नहीं है, तब मैं उसका क्या निरूपण करूँ?

दीठा है तो कस[७] कहूँ, कह्या[८] न को पतियाइ।
हरि जैसा है[९] तैसा रहो[१०], तूँ हरषि हरषि गुण[११] गाइ॥ २॥

शब्दार्थ—दीठ =देखा है। कह्या = कहने से। पतिथाइ = प्रतोति करना, विश्वास करना।

व्याख्या—यदि मुझे उसका प्रत्यक्ष हुआ भी है तो उसका वर्णन कैसे करूँ, क्योंकि वह वर्णनातीत है। यदि वर्णन करूँ भी तो उस पर किसका विश्वास जमेगा? (यहाँ 'दीठा' का वाच्यार्थ नहीं लेना चाहिए। भाव यह है कि यदि मुझे उसका अनुभव हुआ है)। प्रभु अपने स्वरूप का स्वयं प्रमाण है। उसके स्वरूप का किसी अन्य के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। वह जैसा है, वैसा है। इसलिए, हे संतो! उसके रूप को जानने की चेष्टा मत करो, प्रसन्न होकर उसका गुणगान करते रहो।

---

१. ति०—यु०—हनु०-कहौं तौ। २. ति०-यु०-डरूँ। ३. ति०-हरुवा। ४. यु०-हनु०-झीठ। ५. ति०-यु०-हनु०-क्या जानूँ। ६. ना० प्र०-नैनूँ। ७. हनु-क्या। ८. ति०—कहे न कोइ, यु०—हनु०-कहूँ तौ को। ९. ति०—हनु०—'है' नहीं है। १०. ति०—हनु०—रहै। ११. ति०—गुन।

ऐसा अद्भुत[१] जिनि[२] कथै, अद्भुत[३] राखि लुकाय।
वेद कुरानौं गमि नहीं, कह्या[४] न को पतियाइ॥ ३॥

शब्दार्थ—लुकाय=छिपाकर। गमि=पहुँच, पता।

व्याख्या—प्रभु सभी ज्ञात वस्तुओं से सर्वथा भिन्न हैं। इसीलिए वह अद्भुत है, रहस्यमय है। अद्भुत को गोपनीय रखना ही अच्छा है। उसका वर्णन करने से केवल मिथ्या-बोध ही होगा। इसलिए उसका वर्णन करने से कोई लाभ नहीं। वेद और कुरान की भी वहाँ तक पहुँच नहीं है। उसकी अवर्णनीयता के कथन का कोई विश्वास नहीं करेगा।

करता की गति अगम है, तू चलि अपने[५] उनमान।
धीरैं धीरैं पाव दे[६], पहुँचैगे परवान[७]॥ ४॥

शब्दार्थ—उनमान = अनुमान, अन्दाज। परवान=प्रमाण, निश्चय।

व्याख्या—प्रभु की गति मनुष्य की पहुँच के बाहर है। हे जीव! इसलिए तू उसे एकदम से जानने की चेष्टा मत कर। तू अपने आन्तरिक अन्दाज-भर धीरे-धीरे साधना के मार्ग में चलता चल। एक दिन तू वहाँ पहुँचेगा जो कि तुझे स्वयं प्रमाण या निश्चय प्रतीत होगा।

अलंकार—विरोधाभास।

पहुँचैंगे[८] तब कहैंगे अमड़ैंगे उस ठाँइ[९]।
अजहूँ बेरा[१०] समुंद मैं, बोलि बिगूचैं[११] काँइ॥ ५॥
—१८७॥

शब्दार्थ—अमडैंगे=प्रतिष्ठित हो जाएँगे। ठाइँ=स्थान। विगूचैं=उलझन, संशय, बहकावा। काँइ=क्यों।

व्याख्या—साधना करते चलो। जब अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाओगे और उसमें प्रतिष्ठित हो जाओगे, तब कुछ कहने का अधिकार होगा। तब तुम्हें पता चलेगा कि वह देश, काल, इन्द्रिय और वाणी से अतीत है—'पहुँचैंगे उस ठाँइ अमड़ैंगे, तब कहैंगे।'

अभी तो तेरा बेड़ा समुद्र में है अर्थात् अभी तो तू यात्रा के क्रम में है, साधक है। अभी से उसके विषय में कथन करके उलझन और संशय में क्यों पड़ता है?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. हनु०—ऐसी कथनी। २. ति०—यु०—हनु०—मति कथौ। ३. यु०—हनु०—कथो तो धरो छिपाय। ४. ति०—कहे न कोइ, यु०—हनु०—कहूँ तो को। ५. हनु०—निज। ६. हनु०—धर। ७. हनु०—पहुँचेगा निर्वान। ८. हनु०—पहुँचहुगे। ९. हनु०—अब कछु कही न जाइ। १०. हनु०—मेरा समुद्र। ११. हनु०— विगारैं।

(९) हैरान को अङ्ग

पंडित सेती कहि रहा[1], कहा[2] न मानै कोइ।
ओ[3] अगाध ए[4] का कहैं, भारी अचरज[5] होइ[6] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सेती=से। ओ=वह। ए=यह। का=क्या।

व्याख्या—इस साखी के अर्थ में प्रायः बहुत विभ्रम दिखाई देता है। कुछ विद्वानों ने इसके दूसरे चरण का अर्थ इस प्रकार किया है—(१) उस प्रभु को अथाह और अनुपम कहें तो श्रोताओं को आश्चर्य होता है। (२) उन पंडितों को उस परमतत्त्व का अद्वैत एवं अगाध रूप से वर्णन करने से अथवा उस अगाध तत्त्व से जीव का ऐक्य स्थापित करने से अत्यधिक आश्चर्य होता है।

विचारणीय यह है कि 'कहैं' क्रिया अन्य पुरुष की है। यदि पंडित ही उसको अगाध और एक कहते हैं तो यही तो कबीर भी कहते हैं। फिर आश्चर्य की बात क्या हुई ? कबीर के आश्चर्य का कारण यही है कि पुस्तकीय ज्ञानवाला पंडित अनुभव-ज्ञान की बात से कुछ भिन्न कहता है और वह अनुभवजन्य ज्ञान की बात मानता नहीं। इस साखी में कबीर ने पंडितों के पुस्तकीय अथवा शास्त्रीय ज्ञान का संतों के अनुभव-जन्य ज्ञान से वैषम्य दिखाया है। अनुभवजन्य ज्ञान कुछ और है शास्त्रीय ज्ञान कुछ और। आश्चर्य की बात यही है कि पंडित लोगों को अनुभवजन्य ज्ञान पर विश्वास नहीं होता।

इसके द्वितीय चरण का पाठ भी भ्रामक है। 'एका' एक साथ छपा हुआ है। यदि उसको एक साथ ले तो 'कहैं' का कर्त्तापद 'पंडित' को लेना पड़ता है। यदि पंडित भी परमतत्त्व को अगाध और एक कहते हैं, तब तो पंडितों और संतों के कथन में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अतः द्वितीय चरण का पाठ इस प्रकार लेना चाहिए—ओ अगाध एका कहैं।' हनु० और यु० प्रतियों का पाठ इस प्रकार है—'वह अगाध ये क्यों कहैं, जो ऊपर के प्रस्तावित पाठ के निकट है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कबीर ने इस साखी में शास्त्रीय ज्ञान और अनुभव-जन्य ज्ञान के वैषम्य को दिखाते हुए यह आश्चर्य व्यक्त किया है कि पंडित लोग अनुभव-जन्य ज्ञान को मानने को तैयार नहीं। वे केवल शास्त्र की दुहाई देते हैं।

(ज्ञान तीन प्रकार का होता है—इन्द्रियजन्य ज्ञान, शास्त्रजन्य ज्ञान और अनुभव-जन्य ज्ञान। इसे नव-अफलातूनी प्लाटीनस् (Plotinus) ने क्रमशः Science,

---

१. ना० प्र०—रहे। २. ना० प्र०—कह्या। ३. हनु०—यु०—वह। ४. न० प्र०—एका, हनु०—यु०—ये क्यों। ५. ना० प्र०—अचिरज। ६. गुप्त०—मोहि।

Opinion और Illumination कहा है और उसका अरबी में सूफियों ने क्रमशः ऐनुलयक़ीन, इल्मुलयक़ीन और हक्क़ुलयक़ीन अनुवाद किया है)।

कबीर कहते है कि मैं पंडित से अपने अनुभवजन्य ज्ञान की बात कहता हूँ।-किन्तु मेरी बात कोई नहीं मानता। पंडित तो केवल शास्त्र के वचनों की दुहाई देते हैं। वह परमतत्त्व तो अगाध है, इन्द्रियों और वाणी से परे है और ये पंडित लोग क्या-क्या कह रहे हैं अर्थात् उसको शब्दों की सीमा में परिच्छिन्न करना चाहते हैं। इससे मुझे भारी आश्चर्य होता है। इस आश्चर्य का सम्बन्ध कबीर से ही है। इसका एक पाठ यह भी है—'भारी अचिरज मोहि'।

बसै अपिण्डी पिण्ड[1] मैं, ता गति लखै[2] न कोइ।
कहै कबीरा सन्त जन[3], बड़ा अचंभा मोहि[4]॥ २॥
—१८९॥

शब्दार्थ—अपिण्डी = अशरीरी, आत्मा। पिण्ड = शरीर। गति = लीला, अद्भुत रीति।

व्याख्या—जो अशरीरी है, जिसका कोई आकार नहीं है, वह शरीर में, आकार में निवास करता है। इस विचित्र लीला या अद्भुत रीति को कोई समझ नहीं पाता। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! मुझे यही आश्चर्य प्रतीत होता है।

टिप्पणी—कबीर ने इस साखी में तत्त्व-ज्ञान के एक बड़े रहस्य की ओर संकेत किया है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने प्राकट्य के लिए निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, असीम-ससीम बनता है। यही उसकी अद्भुत लीला है। आश्चर्य यही है कि हम सीमा, सगुण और साकार में ही उलझे रह जाते हैं और उसके भीतर जो निर्गुण, निराकार और असीम विद्यमान है, उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी भाव को एक पद में इस प्रकार व्यक्त किया है—

सीमार माझे, असीम, तुमि,
बाजाओ आपन सुर।
आमार मध्ये तोमार प्रकाश,
ताई एते मधुर॥

अर्थात् हे असीम! तुम सीमा के मध्य में अपना सुर बजाते हो। इसीलिए तो हमारे भीतर तुम्हारा प्रकाश इतना मधुर है।

अलंकार—विरोधाभास।

---

१. ना० प्र०—अपंडी पंड, गुप्त—अप्यंडी प्यंड। २. ना० प्र०—लषै। ३. ना० प्र०—हौ। ४. हनु०-यु०—मोय।

(१०) लै को अङ्ग

जिहि बन सीह[1] न संचरै, पंखि उड़ै नहिं जाइ[2] ।
रैनि दिवस की[3] गमि नहीं, तहाँ कबीर रहा लौ लाइ[4] ।। १ ।।

शब्दार्थ—लै = लय, लीन होना । बन = (प्र० अ०) शून्यावस्था, आत्मतत्त्व का साक्षात्कार । सीह = सिंह (प्र० अ०) अहंकार । पंखि = पक्षी (प्र० अ०) पाँच इन्द्रियाँ और मन । रैनि दिवस = देश-काल का प्रतीक । गमि = गति, पहुँच । लौ = प्रेम की लगन, चित्त की वृत्ति का लीन होना ।

व्याख्या—एक ऐसा वन है, जहाँ सिंह संचरण नहीं कर सकता, पक्षी उड़कर जा नहीं सकते और जहाँ न रात होती है न दिन अर्थात् एक ऐसी अवस्था है जहाँ अहंकार रूपी सिंह की पहुँच नहीं है, जहाँ पाँचों इन्द्रियाँ और मन रूपी पक्षी उड़कर नहीं जा सकते अर्थात् वह उनकी भी पहुँच के बाहर है, जो देश-काल की गति से परे हैं, उस आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में कबीर प्रेमयुक्त ध्यान में लीन है ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

सुरति ढीकुली[5] लेज[6] लौ, मन नित ढोलनहार[7] ।
कंवल कुवाँ मैं प्रेम रस,[8] पीवै बारंबार ।। २ ।।

शब्दार्थ—ढीकुली = कुएँ से पानी खींचने वाला यंत्र । लेज = रज्जु, रस्सी । ढोलनहार = ढरकाने वाला । लौ = प्रेम की लगन । कँवल=कमल, सहस्रार चक्र ।

व्याख्या—इस साखी में कबीर ने ढेंकुली के रूपक द्वारा साधक के चित्त की ब्रह्मानुभूति की स्थिति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है । कुएँ से जल लेकर पीने या सींचने के लिए ढेकुली नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता है । इस ढेकुली में एक रस्सी बँधी होती है । उस रस्सी के द्वारा कुएँ में घड़े या बाल्टी को डुबोकर ढील दे दी जाती है । तब वह घड़ा या बाल्टी ऊपर आ जाती है जिससे जल प्राप्त हो जाता है । कबीर कहते हैं कि ब्रह्म की अनुभूति में भी इसी प्रकार की स्थिति होती है । सहस्रार कमल कुआँ है, सुरति ढेकुली है, लगन रज्जु है और पीनेवाला साधक है । रस्सी के द्वारा कुएँ के भीतर घट ले जाया जाता है, वह रस्सी ढेकुली में बँधी रहती है । ठीक इसी प्रकार जब लगन रूपी रस्सी सुरति रूपी ढेकुली में बँधी रहती है, तब मन (जल निकालने वाला) सहस्रार कमल रूपी कुएँ से प्रेम रूपी जल खींच लाता है और उसे पीकर तृप्त हो जाता है ।

अलंकार—सांग रूपक ।

---

१. हनु०, यु०—सिंह । २. हनु०, यु०—पक्षी उड़ि नहि जाय । ३. ना० प्र०—का गमि, हनु०—मोटा भाग कबीर का, तहाँ रहै लव लाय । ४. यु०—तहाँ रहै लौ लाय । ५. हनु०—यु०—ठांक लीनै जलौ । ६. ना० प्र०—ले जल्यौ ७. हनु०—डोलनहार । ८. हनु –यु०—कमल कूप में ब्रह्म जल ।

गंग जमुन उर[1] अंतरै, सहज सुंनि लौ[2] घाट।
तहाँ कबीरा[3] मठ रचा[4], मुनि जन जोवैं[5] बाट ॥ ३ ॥
—१९२ ॥

शब्दार्थ—गंग = (प्र० अ०) इड़ा। जमुन=(प्र० अ०) पिंगला। सहज सुंनि= ब्रह्मरंध्र के ऊपर, सहस्रार। लौ=प्रेम द्वारा लीन होना, डुबकी लगाना। मठ रचा = निवास किया। जोवैं बाट = प्रतीक्षा करते रह जाते हैं।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि लोग व्यर्थ में बाहर गंगा और जमुना में डुबकी लगाने जाते हैं। गंगा और जमुना तो अपने भीतर ही विद्यमान हैं। ब्रह्मरंध्र के ऊपर शून्य शिखर में एक घाट है, वहाँ प्रेम की डुबकी लगानी चाहिए। कबीर ने वहीं प्रेम की डुबकी लगाई है और अपना मठ वहीं बनाया है अर्थात् सदा वहीं स्थित हैं। बड़े-बड़े मुनि लोग जिन्होंने इस प्रेम-मार्ग को नहीं अपनाया है, वे रास्ता ही देखते रह जाते हैं।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. हनु०, यु०—कै। २. ना० प्र०—ल्यौ। ३. ना० प्र०—कबीरै। ४. ना० प्र०—रच्या, हनु०—रचो। ५. हनु०—जोहैं।

(११) निहकर्मी पतिव्रता को अंग

इस अंग में जीव के प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम का दृष्टान्त एक पतिव्रता नारी से दिया गया है, जिसके हृदय में अपने पति के अतिरिक्त और किसी के प्रति अनुराग नहीं होता। 'निहकर्मी पतिव्रता' वह है जो अन्य के प्रति निष्काम या विरत रहती है।

कबीर[१] प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जो हँसि बोलौं और सौं, तौ[२] नील रँगाऊँ दंत ॥ १ ॥

शब्दार्थ—प्रीतड़ी=प्रेम। गुणियाले=गुणवान। नील रँगाऊँ दंत=कलंकित होना, धिक्कार।

व्याख्या—जिस प्रकार एक पतिव्रता नारी अपने पति से कहती है कि हे सर्वगुणसम्पन्न कान्त (प्रिय)! मेरा जो कुछ भी प्रेम है, वह केवल तुमसे है। मेरी दृष्टि में तुमसे बढ़कर गुणवाला और कोई नहीं है। यदि मैं और किसी से हँस कर बोलूँ अर्थात् किञ्चित् भी अनुराग दिखाऊँ तो मेरे लिए धिक्कार की बात होगी।

इसी प्रकार भक्त-जीव प्रभु से कहता है कि सर्वगुण-सम्पन्न तो आप हैं। आपसे बढ़कर गुणवाला और कौन है जिससे मैं प्रेम करूँ? इसलिए मेरा प्रेम केवल आपके प्रति है। दूसरे के प्रति किञ्चित् भी अनुराग मेरे लिए धिक्कार की बात होगी।

टिप्पणी—नील रँगाऊँ दंत—दाँत को नीले रंग से रँगाना एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है—कलंकित होना, धिक्कार।

नैनां अंतरि[३] आव तूँ[४], नैन झाँपि तोहि लेउँ[५]।
नाँ हौं देखौं और कूँ, ना तुझ[६] देखन देउँ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—झाँपि=बंद कर लेना, ढक लेना। हौं=मैं। अंतरि=भीतर में।

व्याख्या—इस साखी में अनन्य प्रेम का एकान्तिक भाव दिखाया गया है। कबीर कहते हैं कि हे प्रिय! तू मेरे नेत्रों के भीतर आ जा, जिससे मैं तुझे अपने नेत्रों के भीतर बंद कर लूँ। जब नेत्र बंद हो जाएँगे, तब मैं न और किसी को देख सकूँगा और न तेरे लिए यह सम्भव होगा कि तू और किसी को देखे, क्योंकि तू मेरे नेत्रों में बंद रहेगा।

'ना तुझ देखन देउँ' का शब्दार्थ है—न तुझे और को देखने दूँ।' इस अर्थ में 'तुझ' को 'देखन' का कर्त्तापद माना गया है। यदि 'तुझ' को 'देखन' का कर्मपद लिया जाय

---

१. ति०—यु०—प्रीति रीति तो तुज्झ सां, मेरे बहु गुनियाले कंत, हनु०-प्रीति अड़ी तुझ ते मोरि, त्रि०-प्रीति अड़ी है तुज्झ सें। २. हनु०—तो नित रंग उतंग। ३. हनु०-यु०—अंतर। ४. ना० प्र०—तूँ। ५. ना० प्र०—ज्यूँ हौं नैन झँपेउ। ६. हनु०—यु०—तोहि।

तो अर्थ होगा—न औरों को तुझे देखने दूँगा। एकान्तिक भाव की दृष्टि से पहला अर्थ अधिक संगत है।

टिप्पणी—लगभग इसी भाव को व्यक्त करने वाली साखी 'विरह को अंग (३।३३) में आ चुकी है।

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे प्रभु ! मेरे में अपना कुछ भी नहीं है, जो कुछ भी है, वह सब तेरा ही है। मानव का ममत्व का भाव सर्वथा भ्रान्त है। जब सब कुछ तेरा ही है, तब तेरी वस्तु को तुझे समर्पित करने में मेरा क्या लगता है? 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

कबीर रेख सिंदूर[1] की[2], काजल[3] दिया न जाइ।
नैंननि[4] रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सिंदूर = सौभाग्य, अनुराग का चिह्न। काजल = कालिमा, विषय-वासना, सांसारिक आसक्ति का प्रतीक। रमइया = रमण करने वाला, प्रियतम।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने तो (अपने मस्तक पर) सिंदूर की रेखा अर्थात् पूर्ण सौभाग्य का चिह्न लगा रखा है। मेरा प्रभु के प्रति पूर्ण अनुराग हो गया है। मेरा आन्तरिक सौभाग्य पूर्ण हो गया है। अब मुझे काजल लगाकर अपनी शोभा बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। काजल जो बाह्य शोभा का प्रतीक है, अब नहीं लगाते बनता अर्थात् विषयासक्ति की कालिमा से अब मैं सर्वथा मुक्त हो गया हूँ। जब मेरी आँखों में प्रियतम सर्वतः रम रहा है तो अब दूसरे के लिए स्थान कहाँ है अर्थात् अब विषय की ओर देखने की रुचि बिलकुल नहीं है। मेरे नेत्रों के लिए उसका आकर्षण सदा के लिए चला गया है।

कबीर सीप समंद को,[5] रटै पियास पियास।
समंदहि तिनका बरि गिनै,[6] स्वाँति[7] बूँद की आस ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—तिनका बरि = तिनके के बराबर, तिनका-भर, तृणवत्।

व्याख्या—जिस प्रकार सीप विशाल समुद्र के भीतर रहते हुए भी प्यास से व्याकुल रहती है और स्वाति बूँद की आशा लगाए रहती है, वह सारे समुद्र को तृणवत् समझती है, कबीर कहते हैं कि ठीक इसी प्रकार प्रेमी भक्त संसार-सागर में रहते हुए नाना प्रकार के आकर्षणों को तृणवत् समझते हुए एकमात्र प्रियतम प्रभु की रट लगाए रहता है।

१. ना० प्र०—स्यंदूर। २. हनु०, वि०—अरु। ३. अन्य प्रतियों में—काजर। ४. ना० प्र०—नैनूँ, हनु०—नैननि प्रीतम रमि रहा। ५. हनु०—समुद्र में। ६. ना० प्र०—तिणका वरि गिणै, हनु०—सब समुद्र तिनका गिनै, वि०—और बूँद को ना गहै। ७. ति०—एक स्वाति।

'समंदहि तिनका बरि गिनै' के स्थान पर हनु० वाली प्रति में 'सब समुद्र तिनका गिनै' पाठ है, जो अधिक स्पष्ट है।

अलंकार—अन्योक्ति।

> कबिरा[1] सुख को जाय[2] था, आगे मिलिया[3] दुक्ख।
> जाहि सुक्ख घर आपुने,[4] हम जानैं[5] अरु दुक्ख ॥ ६ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि लोग जिसे सुख कहते हैं, उसी की खोज में मेरी जीवन-यात्रा भी चल रही थी। परन्तु गुरु-कृपा से सामने प्रियतम का वेदना रूपी दुःख आ गया अर्थात् उसका अनुभव हो गया। फिर तो मैंने सारे सांसारिक सुखों को तिलांजलि दे दी। सभी सुखों से कहा कि तुम अपने घर जाओ अर्थात् तुम्हारे उपयुक्त स्थान विषयी लोग हैं, उन्हीं के पास जाओ। अब तो हम और प्रभु की प्रेम-वेदना रूपी दुःख ही चिरसंगी रहेंगे।

> दोजख[6] तौ हम अंगिया, यहु[7] डर नाहीं मुज्झ[8]।
> भिस्त न मेरे चाहिए,[9] बाझ[10] पियारे तुज्झ[11] ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—दोजख (फा०) = नरक। अंगिया = अंगीकार किया। भिस्त = (फा० बिहिश्त), स्वर्ग। बाझ = बाज, सिवाय।

व्याख्या—मुझे नरक स्वीकार है। इसका मुझे कुछ भी डर नहीं है। हे प्रभु! तुम्हारे सिवाय मुझे स्वर्ग भी नहीं चाहिए।

टिप्पणी—यहाँ बाझ = बाज, सिवाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसे प्रयोग जायसी और तुलसी में भी मिलते हैं—

> दीन दुःख दुरै को कृपावारिधि वाजि—तुलसी।

> जो[12] यह एकै जानिया, तौ जानां[13] सब जान[14]।
> जो यह[15] एक न जानियाँ,[16] तौ सबही जान अजान[17] ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—एकै = एक, परमतत्त्व। जानिया = जान लिया। जान = ज्ञान।
अजान = न जानना।

व्याख्या—जिसने एक परमतत्त्व को जान लिया है, उसने सब ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जो उस परमतत्त्व को नहीं जानता, उसका सब जानना, न जानने के बराबर है अर्थात् उसका सब ज्ञान अज्ञान के बराबर है।

---

१. ना० प्र०—कबीर। २. ना० प्र०—कौं जाइ। ३. ना० प्र०—आया। ४. ना० प्र०—आपणैं। ५. ना० प्र०—जाणौं। ६. ना० प्र०—दो जग, यु० वि०—दोजख हमहिं अंगेजिया। ७. यु०, वि०—या दुख, हनु०—सो। ८. ना० प्र०—मुझ। ९. यु०, वि०—मेरे भिस्त न चाहिए। १०. हनु०, यु०, वि०—वाँछि। ११. ना०प्र०—तुझ। १२. ति०—कबीर एकै जानिया, ना० प्र०—जो वो एकै जाणियाँ। १३. ना० प्र०—जाण्यां, हनु०, वि०—जानो। १४. ना० प्र०—जांण। १५. ना० प्र०—वो। १६. ना० प्र०—जांणियाँ। १७. ना०प्र० —जांण अजांण।

कबीर[1] एक न जानियाँ,[2] (तौ) बहु जानै[3] क्या होइ ।
एकै तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—बहु जाने = बहुत जानने से ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जो उस एक, अद्वितीय और पूर्ण को नहीं जानता, उसका बहुत के जानने से क्या लाभ ? उस एक, पूर्ण से ही अन्य सबका अस्तित्व है, सबसे उस एक का अस्तित्व नहीं अर्थात् वह एक या पूर्ण अनेक या नाना का गणितीय योग नहीं है । वह उन सबसे अधिक और अतिवर्ती (Transcendent) है ।

जब लगि भगति सकामताँ, तब लग निर्फल सेव ।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलैं, निहकामी निज देव ॥ १० ॥

शब्दार्थ—सकामताँ = कामना-युक्त । निहकामी = निष्कामी ।

व्याख्या—जब तक कोई किसी कामना से प्रभु की भक्ति करता है, तब तक उसकी सब सेवा, पूजा, अर्चना व्यर्थ है । जो प्रभु स्वरूप से निष्काम है, वह सकाम भक्ति से कैसे मिल सकता है ?

आसा[4] एक जु राम की[5], दूजी[6] आस निरास ।
पानी माँही[7] घर करैं, ते[8] भी मरैं पियास ॥ ११ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि केवल एक राम की आशा करनी चाहिए, अन्य की आशा नैराश्य के बराबर है । जैसे सीप समुद्र में (पानी में) रहती है, फिर भी वह केवल स्वाति बूँद की आशा लगाए रहती है, समुद्र के जल से वह तृप्त नहीं होती; वैसे ही सच्चा भक्त संसार में रहते हुए भी संसार की किसी वस्तु से तृप्त नहीं होता, वह केवल प्रभु की भक्ति से ही तृप्त होता है ।

ति० वाली प्रति में इसके दूसरे चरण का पाठ इस प्रकार है—'जैसे सीप समंद मैं, नहीं स्वाति बिन प्यास' इसका अर्थ अधिक स्पष्ट है ।

टिप्पणी—तुलसीदास ने भी कहा है—

मोर दास कहाइ नर आसा ।
करै त कहहु कहाँ बिस्वासा ॥ (मानस-७।४६-३)

अर्थात् मेरा भक्त होकर भी मनुष्य से आशा लगाए तो फिर कहो उसका क्या विश्वास ?

अलंकार—निदर्शना ।

---

१. हनु, त्रि०—जो यह । २. ना० प्र०—जाँणियाँ । ३. ना० प्र०—जाँण्याँ । ४. हनु०—आशा तो एक नाम की । ५. ना० प्र०—को । ६. हनु०—दूजा । ७. ना० प्र०—पाणीं माँहै, ति०—जैसे सीप समंद मैं, नहीं स्वाति बिन प्यास । ८. हनु०—तो क्यों ।

जे[1] मन लागै एक सौं[2], तौ निरबाल्या[3] जाइ।
तूरा[4] दुइ मुख[5] बाजनां, न्याइ तमाचे[6] खाइ ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—निरबाल्या=निरबाल>निरवार, निस्तार, छुटकारा। तूरा=तुरही। न्याइ=न्याय, उचित।

टिप्पणी—इस साखी के अर्थ में टीकाकारों को बहुत भ्रम रहा है। 'तूरा दुइ मुख बाजनां' का अर्थ प्रायः लिया गया है कि तुरही दोनों ओर से बजाई जाती है और 'न्याइ तमाचे खाइ' का अर्थ लिया गया है—उसे हाथों से ठोका जाता है। किन्तु तुरही का दूसरा मुख इतना चौड़ा होता है कि वह उधर से बजाई ही नहीं जा सकती। कबीर ने इस साखी में साधक की सांसारिक आसक्ति और ईश्वर-भक्ति दोनों की असंगति दिखाने के लिए दो तुरहियों को उपमान रूप में रखा है। साधक या मन के लिए मुख उपमान है, संसार और परमात्मा के लिए दो तुरही उपमान हैं। जैसे एक मुख से दो तुरहियाँ एक साथ नहीं बजाई जा सकती हैं, वैसे ही एक साथ एक मन से प्रभु-भक्ति और सांसारिक आसक्ति दोनों नहीं चल सकती।

व्याख्या—यदि एक अर्थात् प्रभु से मन लगाया जाय तो साधक का निस्तार हो जाता है। संसार और प्रभु दोनों में एक साथ मन लगाना वैसे ही है, जैसे 'तूरा दुइ' अर्थात् दो तुरहियों को एक साथ मुख से बजाना। ऐसा करने वाला यदि तमाचा खाता है तो न्याय (उचित) ही है। संसार और ईश्वर दोनों में एक साथ चित्त लगाना दो नावों पर पैर रखने के समान है।

हनु० की प्रति में दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है—'मांदर दोइ मुख बाजता, घना तमाचा खाइ'। यदि यह पाठ लिया जाय तो अर्थ बहुत सीधा और स्पष्ट हो जाता है। 'मांदर' मृदंग परिवार का एक वाद्य है। इसका प्राचीन नाम है—मर्दल। 'मर्दल' का अपभ्रंश है—मांदर। यह बहुत प्राचीन काल से लोक-वाद्य रहा है। और अब भी 'मांदल' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पक्ष-वाद्य है, दोनों ओर इसका मुख अँगुलियों और चपेटं से बजाया जाता है। कबीर का कहना है कि यतः यह दो मुख का वाद्य है, इसीलिए घनी चोट खाता है। इसी प्रकार जो दो दिशाओं में अपना चित्त लगाते हैं, वे अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त होते, चारों ओर से धक्के खाते हैं और भ्रान्त होकर पीड़ित होते हैं।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

---

१. ति०—हनु०—यु०—जो। २. ना० प्र०—सूँ, हनु०—यु०—सो। ३. ति०—हनु०—यु०—निरवारा। ४. हनु०—मांदर दोय मुख बाजता। ५. ना० प्र०—मुखि बाजणाँ, यु०—मुख बाजतो। ६. हनु०—घना तमाचा, ति०—न्याइ तमाचा।

कबीर[1] कलिजुग आइ करि, किये बहुत जो मीत[2]।
जिन दिल बाँधी[3] एक सौं[4], ते सुख सोवैं नचींत[5] ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—नचींत = निश्चित।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मनुष्य ने कलियुग में जन्म लेकर उसके प्रभाव से अनेक वस्तुओं में चित्त लगाया। जिसने एक प्रभु से चित्त लगाया, केवल वही निश्चिन्त होकर सुख से सो सकता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर कुत्ता[6] राम का, मोतिया[7] मेरा नाउँ।
गले राम[8] की जेवड़ी, जित खैंचे[9] तित जाउँ ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—जेवड़ी = रस्सी, जंजीर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं राम का कुत्ता (दास) हूँ। मेरा नाम मोती (मोतिया) है। मेरे गले में राम के प्रेम की रस्सी पड़ी हुई है। वह जिधर खींचते हैं, उधर जाता हूँ अर्थात् मैंने पूर्ण रूप से उनके प्रति समर्पण कर दि ा है और जैसी उनकी इच्छा होती है, वैसा ही करता हूँ।

टिप्पणी—'मोतिया' मोती का विकृत रूप है। मोती शब्द संस्कृत के 'मुक्ता' से निष्पन्न है। सम्भवतः इसमें कबीर ने यह संकेत किया है कि जो प्रभु के प्रति अपने को सर्मपित कर देता है, वह मुक्ति का अधिकारी होता है।

तो तो करै त बाहुड़ों,[10] दुर दुर[11] करै तौ जाउँ।
ज्यौं[12] हरि राखै त्यौं[13] रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—बाहुड़ों = लौट आता हूँ। जाउँ = लौट जाता हूँ।

व्याख्या—'तू' प्यार का शब्द है। यह ईश्वर तक के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे—तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।' 'दुर' ध्वनिमूलक शब्द है, जो कि 'दूर होने' के लिए प्रयुक्त होता है।

प्रभु को इस कुत्ते (दास) ने अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया है। वह अपनी कोई इच्छा नहीं रखता। यदि प्रभु प्रेम से अपने पास बुलाता है तो वह श्रद्धा से वहाँ जाता है और यदि वह उसे हटा देता है तो इसमें भी अपना कल्याण समझकर वह लौट जाता है। प्रभु जिस प्रकार से भी उसे रखते हैं, उसी में वह प्रसन्न होकर रहता है, जो कुछ भी वह उसे देते हैं, उसी को वह अपना भोग समझता है।

---

१. ति०—कबीर सूख न एहि जुग, करहिं जु बहुतै मीत। २. ना० प्र०—कीयें बहुतज मीत। ३. ना० प्र०—बँधी, हनु०—बाँधा। ४ ना० प्र०—सूँ, हनु०—सो। ५ ति०—पावहिं नीत. हनु०—सोवँ नीत। ६. ना० प्र०—कूता। ७. ना० प्र०—मुतिया। ८. हनु०—प्रेम। ९. हनु०—खींचे। १०. हनु०—बाहुरूँ ११. ना० प्र०—दुरि दुरि। १२. ना० प्र०—ज्यूँ। .१३. ना० प्र०—त्यूँ।

मन परतीति न प्रेम रस, नाँ इस तन मैं ढंग।
क्या जानूँ[1] उस पीव सौं,[2] कैसे रहसी रंग ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—परतीति = प्रतीति, जानकारी। ढंग = ढब, रीति। रहसी = रहेगा। रंग = उल्लास, आनन्द, उत्सव।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि न तो मुझे अपने प्रिय की पूरी जानकारी है, न मेरे भीतर प्रेम-रस का उन्मेष हुआ है और न मुझे इस शरीर से उनको प्रसन्न करने का ढंग ही ज्ञात है, तो फिर न जाने उस प्रिय से किस प्रकार मिलन के आनन्द का उत्सव होगा।

टिप्पणी—'परतीति' का अर्थ प्रायः टीकाकारों ने 'विश्वास' किया है। 'परतीति' का मुख्य अर्थ है—ज्ञान, जानकारी। उसका एक अर्थ 'विश्वास' भी होता है। किन्तु यह कहना कि कबीर को प्रभु में विश्वास नहीं था, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसलिए यहाँ 'जानकारी' अर्थ ही समीचीन है।

उस[3] संम्रथ का दास हौं[4], कदे[5] न होइ अकाज।
पतिबरता[6] नाँगी[7] रहे, तौ उसहि पुरिस कौं लाज[8] ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—संम्रथ = समर्थ, जिसमें ऐसी क्षमता हो कि वह जो कहे, कर सके। कदे = (सं० कदा) कभी।

व्याख्या—मैं सर्वशक्तिमान प्रभु पर न्योछावर हो चुका हूँ। इसलिए मुझे पूर्ण विश्वास है कि मुझे कभी अमंगल और आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ेगा। जिस प्रकार एक पतिव्रता नारी, जो अपने पति में पूर्ण निष्ठा रखती है, उसे अपने को सुसज्जित करने की कोई चिन्ता नहीं रहती, यदि वह नंगी रहती है तो उसकी लाज उसके पति को ही होती है, उसी प्रकार जिस भक्त ने अपने को पूर्ण रूप से प्रभु को समर्पित कर दिया है, यदि वह प्रभु के साक्षात्कार से हीन है तो उसकी चिन्ता प्रभु को ही होगी। उसका कार्य इतना ही है कि वह प्रभु में पूर्ण निष्ठा रखे।

तुलनीय—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
—श्रीमद्भगवतगीता

अलंकार—दृष्टान्त।

घरि परमेसुर पाहुना,[9] सुनौ[10] सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूँ[11] कदे न छाड़ै पास ॥ १८ ॥
—२१० ॥

---

१. ना० प्र०—जाणौं। २. ना० प्र०—सूँ। ३. हनु०, यु०—मैं सेवक समरत्थ का। ४. ति०—हूँ। ५. ति०—हनु०, यु०—कबहूँ। ६. ना० प्र०—पतिव्रता। ७. हनु०, यु०—नंगी। ८. हनु०, यु०—वाही पति को लाज। ९. हनु०—परमेश्वर घर पाहुना। १०. ना० प्र०—सुणौं। ११. हनु०—कबहूँ न।

शब्दार्थ—घरि = घर में (प्र० अ०) हृदय में । सनेही = प्रेमी । ज्यूँ = जिससे ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे प्रेमासक्त भक्तो ! तुम्हारे घर (हृदय) में परमेश्वर अतिथि रूप में विराजमान हैं । उन्हें भक्ति का षट्रस भोजन अर्पित करो जिससे वह कभी भी तुम्हारा साथ न छोड़ें ।

टिप्पणी—राजस्थान में पति को 'पाहुणाँ' भी कहते हैं । पूरब में दामाद को, जो कि लड़की का पति है, 'पाहुन' कहते हैं । इस अंग का शीर्षक है—निहकर्मी पतिव्रता । अतः इस साखी में 'पाहुना' शब्द में पति की व्यञ्जना है । 'पति' शब्द का वास्तविक अर्थ है—पाति इति पतिः अर्थात् जो रक्षा करता है, वह पति है । हृदय में विद्यमान प्रभु जीव का सदा रक्षक है और जीव के प्रेम का अधिकारी है ।

अलंकार—रूपक ।

(१२) चितावणी को अंग

कबीर[१] नौबति आपनी[२], दिन दस लेहु बजाइ।
ए[३] पुर पट्टन[४] ए[५] गली, बहुरि न देखहु[६] आइ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—चितावणी = सचेत करने की क्रिया। नौबति = राजाओं, बादशाहों, अमीरों के द्वार पर मंगल और वैभव-सूचक शहनाई और नगाड़े का वाद्य। (ला०अ०) वैभव का प्रदर्शन। पट्टन = (सं० पत्तन) नगर। बहुरि = फिर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीवो! चेत जाओ। जिस वैभव में तुम भूले हुए हो, वह केवल दस दिन का खेल है अर्थात् क्षणिक है। तुम्हारी मृत्यु अवश्यंभावी है। फिर इस पुर, नगर और गली को न देख सकोगे।

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै[७] हरि[८] के नाँव बिन,[९] गए जनम[१०] सब हारि ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मैंगल=मदकल, मतवाला हाथी। बारि=द्वार पर।

व्याख्या—जिनके द्वार पर वैभव-सूचक नगाड़े बजते थे और मस्त हाथी झूमते थे, उनका जीवन भी भगवान के नाम-स्मरण के अभाव में सर्वथा व्यर्थ ही हो गया।

ढोल दमामा डुगडुगी[११], सहनाई औ[१२] भेरि।
औसर चले[१३] बजाइ करि, है कोइ लावै[१४] फेरि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दमामा=धौंसा, बड़ा नक्कारा। डुगडुगी=डुग्गी, एक प्रकार का छोटा अवनत्थ (चमड़ा मढ़ा हुआ) वाद्य। भेरि=भेरी, यह मृदंग जाति की लगभग दो हाथ लम्बी, हाथ से बनी हुई दो मुख वाली होती है, जिसका एक मुख एक हाथ लम्बे व्यास का बना होता है। ये मुख चमड़े से मढ़े और डोरियों से कसे रहते हैं जिनमें काँसे के कड़े पड़े रहते हैं। इसे दाहिनी ओर लकड़ी से और बाँयी ओर हाथ से बजाते हैं। यह वर्णन 'संगीत रत्नाकर' और 'संगीत सार' में मिलता है।

व्याख्या—इस जीवन में वैभव के प्रदर्शनकारी बाजे जैसे ढोल, धौंसा, डुगडुगी, शहनाई और भेरी विशेष-विशेष अवसरों पर बजाए जाते हैं। परन्तु जीवन इतना क्षण-भंगुर है कि जो अवसर बीत गया, उसे पुनः वापस नहीं लाया जा सकता है।

---

१. यु०-कबिरा। २. ना० प्र०—आपणी। ३. ति०—यहु, अन्य प्रतियों में–यह। ४. ना० प्र०–पटन। ५. अन्य प्रतियों में—यह। ६. ना० प्र०—देखै, अन्य प्रतियों में—देखौ। ७. ति०—एकहि। ८. वि०—गुरु। ९. वि०–नाउँ बिनु। १०. ति०—जन्म। ११. ना० प्र०—दुड़बड़ी, ति०–गड़गड़ी, बि०-यु०—दुरबरी। १२. ना० प्र०-संगि। १३. ना० प्र०–चल्या। १४. ना० प्र०–राखै।

'चले' में एक विचित्र व्यञ्जना है—वह अवसर भी बीत गया और जिनके लिए वह वाद्य बजता था, वे भी चले गए।

अलंकार—वक्रोक्ति।

सातौ सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग[1]।
ते मंदिर खाली पड़े, बैठन[2] लागे काग॥ ४॥

शब्दार्थ—सातौ सबद=सप्त स्वर।

व्याख्या—जिन मंदिरों और प्रासादों में सातों स्वर के बाजे बजते थे और नाना प्रकार के राग गाए जाते थे, वे आज रिक्त पड़े हुए हैं और उन पर कौए बैठते हैं। सांसारिक वैभव की यही क्षणभंगुरता है।

कबीर थोड़ा जीवना[3], माड़ैं बहुत मँड़ान[4]।
सबही ऊभा मेल्हि[5] गया, राव रंक सुलतान[6] ॥ ५॥

शब्दार्थ—जीवना=जीवन के लिए। मांड़ै=मंडित किया। मँडान=मंडप (ला० अ०) साज-सज्जा के आयोजन, बड़े-बड़े मंसूबे बाँधना। ऊभा = उठा, खड़ा। मेल्हि गया = मिट गया, नष्ट हो गया।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अल्प जीवन के लिए मनुष्य बड़े-बड़े आयोजन करता है, किन्तु चाहे वह बहुत बड़ा राजा या सुलतान हो या साधारण, दरिद्र मनुष्य, सभी की बड़े उत्साह से निर्मित योजनाएँ ध्वस्त हो जाती हैं।

व्यञ्जना यह है कि राव-रंक भी जाते हैं और उनकी योजनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सौं[7] परै बिछोह।
राजा राना[8] छत्रपति[9], सावधान किन होइ[10] ॥ ६॥

शब्दार्थ—बिछोह = वियोग। किन = क्यों नहीं।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते हैं कि चाहे कोई राजा, राणा या छत्रपति हो, सबके लिए एक ऐसा दिन आएगा, जब उसे संसार से सब कुछ त्यागकर जाना होगा। इसलिए हे मनुष्यो! जीवन रहते ही सावधान क्यों नहीं हो जाते?

कबीर[11] पट्टन[12] कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार।
जम[13] राना गढ़ भेलिसी[14], सुमिरि लेहु[15] करतार॥ ७॥

---

१. हनु०—जिन घर नौबति बजती, होत छत्तीसो राग। २. ना० प्र०—बैंसण। ३. ना० प्र०—जीवणाँ। ४. ना० प्र०—मड़ाण। ५ हनु०, यु०—पंथ सिर। ६. ना० प्र०—सुलितान। ७. ना० प्र०—सूँ पड़ै, यु०—से परै। ८. ना० प्र०—राणा। ९. हनु०, वि०—यु०—राव रंक। १०. हनु०, वि०—यु०—सावध क्यों नहिं होय। ११. यु०—वि०—पुर पट्टन काया पुरी। १२. ना० प्र०—पटण। १३. ना० प्र०—जम राणौं, यु०—वि०—जम राजा। १४. हनु०—मेलसी। १५.ना० प्र०—लै।

शब्दार्थ—पट्टन = (सं० पत्तन) नगर। कारिवाँ = काफिला, सार्थवाह, सौदागरों का कबीला। पंचचोर = पंचेन्द्रियाँ अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। दस द्वार = दो नेत्र, दो कान, दो नासिका विवर, एक मुख, एक मलद्वार, एक मूत्र छिद्र, ब्रह्मरंध्र। भेलिसी (राज०) = नष्ट कर देगा, भेदेगा। करतार = स्रष्टा।

व्याख्या—इस साखी में शरीर को पत्तन या नगर; सांसारिक व्यापार को सौदागरों का कबीला (कारिवाँ); काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को पाँच चोर और शरीर के दस विवरों को दस द्वार बताया गया है। प्राचीन काल में सौदागरों का काफिला व्यापार के लिए चलता था और नगर में पहुँचने पर अपने को अधिक सुरक्षित समझता था। इसी रूपक के द्वारा कबीर यह कह रहे हैं कि इस शरीर को एक सुरक्षित स्थान समझकर सारा सांसारिक व्यवहार या व्यापार टिका हुआ है। किन्तु यह पता नहीं कि इस शरीर रूपी नगर में पाँच चोर विद्यमान हैं और इसमें दस द्वार भी हैं। यह वैसा सुरक्षित और अभेद्य दुर्ग नहीं है, जैसा कि अज्ञानी जीवों ने समझ रखा है। इस दुर्ग पर ऊपर से यमराज का आक्रमण भी होगा और वह क्षणभर में इस गढ़ को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। इसलिए हे जीवो ! स्रष्टा का स्मरण कर लो।

अलंकार—रूपक।

> कबीर कहा गरबियो,[1] इस जोवन की आस।
> केसू[2] फूले दिवस दोइ[3], खंखर[4] भये पलास ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—केसू = (सं० किंशुक) टेसू, पलास का फूल। जोवन = यौवन, युवावस्था। खंखर = उजड़ा हुआ, इस संदर्भ में पत्तों और फूलों से रहित।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि इस जवानी के भरोसे पर गर्व करना व्यर्थ है। यह क्षणभंगुर है। किंशुक या टेसू के फूल के समान इसकी बहार थोड़े दिनों के लिए है। जैसे टेंसू का फूल थोड़े ही दिनों में मुर्झा कर गिर जाता है, वैसे ही जवानी की प्रफुल्लता भी अल्पकालिक होती है। थोड़े दिनों के बाद जैसे पलाश पत्र-पुष्प-विहीन होकर ठूँठमात्र रह जाता है, वैसे ही यह शरीर भी यौवन-विहीन होकर कंकालमात्र रह जाता है।

अलंकार—निदर्शना।

> कबीर कहा गरबियो,[5] देही देखि सुरंग।
> बीछड़ियाँ मिलिबो नहीं,[6] ज्यों काँचली भुवंग[7] ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—देही = शरीर। सुरंग = सुन्दर। बीछड़िया = बिछुड़ने पर। काँचली = केंचुल। भुवंग = भुजंग, सर्प।

---

१. ति०, वि०—कबीर गरब न कीजियै। २. अन्य प्रतियों में—टेसू। ३. ना० प्र०—चारि, यु०—वि०—दस। ४. यु०—खरभर। ५. ति०—वि०—कबीर गरबु न कीजियै। ६. ति०—आजु काल्हि तजि जाहुगे, हनु०—वि०—बिछुड़े पै मेला नहीं, यु०—बीछड्या मिलसी नहीं। ७. हनु०, वि०—ज्यों केंचुली भुजंग।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि इस सुन्दर शरीर को देखकर क्यों गर्व करते हो? निधन होने पर यह शरीर जीव को वैसे ही फिर नहीं मिल सकता, जैसे सर्प केंचुल को त्याग देने पर पुनः उसे धारण नहीं कर सकता।

अलंकार—उपमा।

कबीर कहा गरबियौ,[1] ऊँचे[2] देखि अवास।
काल्हि परौं[3] भुइं लोटना, ऊपरि जमिहै[4] घास॥ १०॥

शब्दार्थ—अवास = आवास, महल। परौं = परसों।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि ऊँचे-ऊँचे महलों को देखकर क्यों गर्व करते हो? कल-परसों अर्थात् शीघ्र ही मरने पर जमीन के अन्दर लेटना होगा अर्थात् दफना दिए जाओगे और ऊपर घास जम जाएगी।

कबीर कहा गरबियो,[5] चाँम[6] पलेटे हाड़[7]।
हैबर[8] ऊपरि छत्र सिरि,[9] ते[10] भी देबा गाड़[11]॥ ११॥

शब्दार्थ—पलेटे = लपेटे (वर्ण-विपर्यय)। हैबर = हयवर, श्रेष्ठ घोड़ा। देबा (राज०) = दिए जाएँगे।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि चमड़े से लपेटी हुई हड्डियों पर क्यों गर्व करते हो? जो लोग श्रेष्ठ घोड़ों पर चढ़ते हैं और जिनके सिरों पर छत्र लगते हैं, वे भी एक दिन मिट्टी में दफना दिए जाते हैं।

कबीर[12] कहा गरबियौ, काल गहे कर[13] केस।
नाँ[14] जानौं कहाँ मारिहै, कै[15] घर कै परदेस॥ १२॥

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि काल ने अपने हाथों से तुम्हारे केश को पकड़ रखा है। इसलिए तुम व्यर्थ में क्यों गर्व करते हो? वह तुम्हें न जाने कहाँ—घर हो या परदेश—मार डालेगा।

ऐसा[16] यहु संसार है, जैसा सैंबल[17] फूल।
दिन दस के व्यौहार में,[18] झूठै रंगि न भूल॥ १३॥

---

१. ति०—वि०—कबीर गरबु न कीजियै। २. अन्य प्रतियों में—ऊँचा। ३ ना० प्र०-परगुँ भ्वैं लेटणाँ। ४. ना० प्र०-जामैं, हनु०, वि०—जमसी। ५. ति०—वि०—कबीर गरबु न कीजियै। ६. हनु०, वि०—चाम लपेटी हाड़। ७. ना० प्र०—हड़। ८. हनु०-वि०—इक दिन तेरा छत्र सिर, देगा काल उखाड़। ९. ति०-तर। १०. यु०-तऊ दीये खाड़।।११.. ना० प्र०-खड। १२. ति०-वि० कबीर गरव न कीजियै। १३. हनु०-शिर। १४. ना० प्र०-नाँ जाणौं कहाँ मारिसी, यु०—ना जानौ कित मारसी। १५. हनु०, वि०—क्या घर क्या। १६. ना० प्र०—यहु ऐसा। १७. हनु०—मालति। १८. ना० प्र०—कौं, ति०—हैं।

शब्दार्थ—सँबल = सेमर का फूल (प्र० अ०) निस्सार वस्तु।

व्याख्या—यह संसार सेमर के फूल के समान है, जो ऊपर से देखने में सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है, किन्तु उसके भीतर कोई तत्त्व नहीं होता। अल्पकाल के जीवन और उसकी ऊपरी चटक-मटक के भुलावे में नहीं आना चाहिए।

अलंकार—उपमा।

जीवन मरन[1] बिचारि करि, कूरे[2] कांम निवारि।
जिहिं[3] पंथा तोहि[4] चालनां, सोई पंथ सँवारि[5] ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—कूरे = क्रूर, निकृष्ट। कांम = कर्म। निवारि = छोड़।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि जीवन-मरण का विचार कर अर्थात् यह समझ ले कि जीवन थोड़े दिन का है, अन्ततः मरना है। इसलिए निकृष्ट कर्मों का परित्याग कर और जिस भक्ति मार्ग पर तुझे चलना है, उसे अभी से सुधार ले।

राखनहारे बाहिरा,[6] चिड़ियें[7] खाया खेत।
आधा परधा[8] ऊबरै, चेति सकै तौ चेति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—बाहिरा = बाहर ही बाहर। चिड़ियें = पक्षी (प्र० अ०) विषय-वासना। खेत = (प्र० अ०) जीवन। आधा-परधा = (अर्ध-अपरार्ध) आधा की पुनरावृत्ति।

व्याख्या—तेरे आध्यात्मिक जीवन-क्षेत्र का रक्षक बाहर ही बाहर है अर्थात् तुझे कोई सद्गुरु नहीं मिला और ऊपर से विषय-वासना रूपी पक्षी तेरे खेत को खाए जा रहे हैं। तू अब भी सँभल जा और थोड़ा-बहुत जो बचा सके, उसे बचा ले अर्थात् अब भी आध्यात्मिक जीवन को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित कर ले।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

हाड़ जरै ज्यौं[9] लाकड़ी, केस जरैं ज्यौं[10] घास।
सब तन[11] जलता देखि करि, भया[12] कबीर उदास ॥ १६ ॥

व्याख्या—मृत्यु के उपरान्त हड्डियाँ लकड़ी के समान जलती हैं और केश घास के समान। सारे शरीर को जलता देखकर कबीर को संसार से विराग हो गया।

अलंकार—उपमा।

---

१. ना० प्र०—जामण मरण, ति०—जांमन मरन विचारि कै, हनु०—जनमै मरन, यु०—जनम मरन। २. ना० प्र०—कूड़े, यु०—कोरे। ३. ना० प्र०—जिनि पंथू। ४. ना० प्र०—तुझ चालणाँ। ५. यु०—सँभारि। ६. ना० प्र०—विन रखवाले बाहिरा, यु०—विन रखवारे बाहरी, वि०—घर रखवाले बाहिरा। ७. वि०—यु०—चिड़िया। ८. ना० प्र०—प्रधा। ९. ना० प्र०—जलैं ज्यूँ। १०. ना० प्र०—जलैं ज्यूँ। ११. अन्य प्रतियों में—जग। १२. हनु—वि०—भये।

कबीर मंदिर[1] ढहि पड़ा[2], इंट[3] भई सैवार[4]।
कोई चेजारा चिनि गया,[5] मिला[6] न दूजी बार ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—सैवार = (सं०-शैवाल) इस संदर्भ में घास-फूस । चेजारा = कारीगर, चुनने वाला । चिनि गया = चुन गया, बना गया ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह मंदिर ढह गया और इसकी ईंटों पर सेवार जम गया । किसी अद्‌भुत कारीगर ने इसका निर्माण किया था । दूसरी बार ऐसा सुन्दर मंदिर बनाने वाला न मिल सका ।

यह साखी प्रतीकात्मक है । मंदिर शरीर है, ईंट हाड़-माँस है, कारीगर ईश्वर है । इस पूरे अंग की प्रत्येक साखी में कबीर ने शरीर की क्षणभंगुरता की ओर संकेत किया है और यही चेतावनी दी है कि इस शरीर के मोह को छोड़ो और प्रभु का स्मरण करो । प्रस्तुत साखी में भी वह कहते हैं कि किसी अद्‌भुत स्रष्टा ने इस सुन्दर शरीर को बनाया है, किन्तु एक दिन वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और उसकी हड्डियों पर, जहाँ वह दफनाया जाता है, घास-फूस जम जाती हैं । उसका निर्माता उसी शरीर को फिर बनाने के लिए नहीं मिलता ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

कबीर देवल ढहि पड़ा[7], इंट भई सैवार[8]।
करि[9] चिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूँ[10] ढहै न दूजी बार॥ १८ ॥

शब्दार्थ—प्रीतिड़ी = प्रेम ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी देवालय ध्वस्त हो गया और इसकी ईंटों पर घास-फूस जम गई अर्थात् शरीर का मांस और हड्डियाँ जो दफनाई गई थीं, उन पर अब घास-फूस दिखलाई देती है । हे जीव ! तू इसके निर्माता प्रभु से प्रेम कर, जिससे दूसरी बार इस देवालय के ढहने का अवसर ही न आए अर्थात् दूसरी बार शरीर धारण करने का प्रश्न ही न उठे । तू जन्म-मरण के संसरण से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाए ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

कबीर मंदिर लाख[11] का, जड़िया हीरै लालि ।
दिवस चारि का पेखनाँ,[12] बिनसि जाइगा काल्हि[13] ॥ १९ ॥

---

१. हनु०, वि०—देवल । २. ना० प्र०—पड़्या । ३. ना० प्र०—सैंट । ४. हनु०, वि०—संहार । ५. हनु०, वि०—कोई चिजारा चूनिया । ६. ना० प्र०—मिल्या । ७. ना० प्र०—पड़ा । ८. हनु०, त्रि०-यु०—रही संवारि । ९. हनु०, वि०—यु०-करी चिजारा प्रतड़ी । १०. हनु०—'ज्यूँ' नहीं है । ११. ना० प्र०—लाष । ११. यु०—देखना, ना० प्र०-पेषणा । १३. हनु०, वि०—यु०-काल ।

शब्दार्थ—लाख=(१) लाक्षा, (२) लाखों का। पेखनाँ=प्रेक्षण, देखना, तमाशा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह शरीर लाक्षागृह के समान है, जो हीरे-लाल से जड़ा गया है अर्थात् बहुमूल्य बनाया गया है। किन्तु यह चार दिन का दिखावा है। फिर अल्पकाल में ही विनष्ट हो जायगा।

अलंकार—श्लेष, रूपकातिशयोक्ति।

कबीर धूलि सकेलि करि[1], पुड़ी[2] ज बाँधी एह।
दिवस चारि का पेखनाँ[3], अंति खेह[4] की खेह॥ २०॥

शब्दार्थ—सकेलि=समेट कर। पुड़ी=पुड़िया, पिंड, गठरी। ज=जो। एह=यह। खेह=मिट्टी, धूल।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह शरीर ऐसा है जैसे किसी ने धूल एकत्र कर कोई पिंड या पुड़िया बांधकर रख दिया हो। यह तो चार दिन का दिखावा है। जिस मिट्टी से यह बना है, अन्त में उसी मिट्टी में मिल जाता है।

सोरठा—कबीर[5] जे धंधै तौ धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं॥ २१॥

शब्दार्थ—धंधै—कर्म, कार्य। धूलि=धुलना, स्वच्छ हो जाना। बिनठे=विनष्ट हो गए। मूलि=मूल से, जड़ से।

व्याख्या—इस साखी में 'धूलि' और 'धूलै' संज्ञापद न होकर क्रियापद प्रतीत होते हैं। संज्ञापद 'धूल' होता है। गीता में ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने का उपदेश दिया गया है। इसमें उसी की ध्वनि है।

कबीर कहते हैं कि धंधों (कर्मों) से भागने से काम नहीं चलेगा। यदि कर्म को करते रहोगे तो तुम्हारा अन्तःकरण धुल जाएगा। तुम स्वच्छ हो जाओगे। बिना कर्म किए स्वच्छता नहीं आती। कर्म से कोई नष्ट नहीं होता। वही व्यक्ति मूलतः नष्ट हो जाते हैं जो कर्म में ईश्वर का ध्यान नहीं रखते—हाथ में कार हो, दिल में यार हो। कर्म करते रहो, किन्तु प्रत्येक कर्म में प्रभु का स्मरण बना रहे।

कबीर सुपनै रैनि कै, ऊघड़ि[6] आए नैन।
जीव परा[7] बहु लूट[8] में, जागै लेन न देन[9]॥ २२॥

---

१. अन्य प्रतियों में—कै। २. ति०—पुड़िया बँधी एह, हनु०—पोट बाँधि यह देह, यु०—पुरी जो बँधी एह। ३. ना० प्र०—पेषणाँ। ४. ना० प्र०—षेह की षेह।

५. हनु०, वि०यु०—कबीर धंधै धरि रहै, बिन धंधै धुल नाहिं।
जे नर बिनठे मूल को, धंधै ध्यावै नाहिं॥

६. ति०—ऊत्तरि, हनु०, वि०—उघरी। ७. ना० प्र०—पड्या। ८. ना० प्र०—लूटि मैं। ९. ना० प्र०—तौ लेण न देण।

शब्दार्थ---ऊघड़ि आए = खुल गए ।

व्याख्या---कबीर कहते हैं कि रात के समय स्वप्न से जब आँखें खुल गईं अर्थात् जब जीव जग गया तो ऐसा जान पड़ा कि स्वप्न में वह जिस लूट में लगा हुआ था, जागने पर न कुछ लेना रह गया न देना अर्थात् स्वप्न में उसे जो अनुभव हो रहा था, वह जागने पर मिथ्या हो गया ।

जीवन अज्ञान रूपी रात्रि का स्वप्न है । उसमें जीव नाना प्रकार के सुख-दुःख, लाभ-हानि का अनुभव करता है । परन्तु वे सब अनुभव स्वप्न के समान हैं । ज्ञान-चक्षु खुल जाने पर जीव को यह विश्वास हो जाता है कि अज्ञान रूपी निद्रा में पड़े हुए लाभ-हानि का जीवन स्वप्नवत् व्यर्थ है ।

अलंकार---समासोक्ति ।

> कबीर सुपनैं रैनि कै, पारस जीय मैं छेक[1] ।
> जे[2] सोऊँ तौ दोइ जनाँ[3], जे[4] जागूँ तौ एक ॥ २३ ॥

शब्दार्थ---पारस = पत्थर विशेष, जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है, (प्र० अ०) ब्रह्म । छेक = भेद ।

व्याख्या---कबीर कहते हैं कि अज्ञान की रात में जब जीव स्वप्न देखता है तो ब्रह्म और जीव में सर्वथा भेद प्रतीत होता है । वह जब तक इस अज्ञान-निद्रा में रहता है, तब तक आत्मा और परमात्मा दो जान पड़ते हैं । जब वह अज्ञान-निद्रा से जगता है, तब उसे दोनों एक ही प्रतीत होते हैं ।

इस साखी में पारस ब्रह्म का प्रतीक है ।

> कबीर इस[5] संसार में[2], घने मनुष[6] मतिहीन ।
> राम[7] नाम जानैं[8] नहीं, आये टापा दीन ॥ २४ ॥

शब्दार्थ---टापा दीन = पट्टी बाँधे हुए ।

व्याख्या---कबीर कहते हैं कि इस संसार में अधिकतर मनुष्य सर्वथा बुद्धिहीन होते हैं । वे अपनी आँखों पर अज्ञान की पट्टी बाँधे रहते हैं । इसीलिए वे राम नाम के मर्म को नहीं जानते ।

'टापा देना या बाँधना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है---पट्टी बाँधना ।

---

१. ति०---पड़ा कलेजे छेक, यु०---परा जीव में छेक । २. यु०---जैसे हूतो द्वै जनां । ३. ना० प्र०---जणां । ४ ति०---यु०---जौ । ५. यु०---वि०---या । ६. वि०---है । घना मनुष मतिहीन, ना० प्र०---घणे मनिष । ७. वि०---सत्यनाम जाना नहीं । ८. यु०---जाना नहीं ।

कहा कियो[१] हम[२] आइ करि, कहा कहैंगे[३] जाइ।
इतके भये न उत[४] के, चाले मूल गँवाइ॥ २५॥

व्याख्या—जीव को पछतावा हो रहा है कि इस संसार में आकर हमने क्या किया, इस विषय में यहाँ से जाने के बाद प्रभु के सामने हम क्या कहेंगे? हम न तो इस लोक के हुए, न परलोक के। हमने अपना मूलधन (नैसर्गिक सरलता) भी गँवा दिया।

तुलनीय—

कौंने ढंग से सजन घर जैवैं हो राम!
तन की चुनरिया धुमिल मोरि होइ गई,
साईं के काव दिखैवै हो राम।
खेलि खेलि नैहर में खोई दिन,
साईं को काव बतैवै हो राम॥
(कबीर)

आया अनआया[५] भया, जे बहु राता[६] संसार।
पड़ा भुलावा[७] गाफिलाँ, गये कुबुद्धी[८] हारि॥ २६॥

शब्दार्थ—अनआया = न आने के बराबर। बहु राता = अत्यधिक अनुरक्त। कुबुद्धी= कुबुद्धि के कारण।

व्याख्या—इस संसार में आने का मुख्य उद्देश्य है—जीवन का विकास और उन्मेष। परन्तु जीव संसार के विषयों में इतना अनुरक्त हो जाता है कि उसका संसार में आना न आने के बराबर है अर्थात् संसार में जन्म लेकर उसे जो सीखना था, उसे वह न सीख सका। इसलिए उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। भुलावे में पड़कर वह गाफिल हो गया। सांसारिक विषयों के चाकचिक्य में वह अपनी नैसर्गिक आत्मीय चेतना खो बैठता है और अपनी कुबुद्धि के कारण जीवन की बाजी हार जाता है।

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीवन[९] संसार।
धूँवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार॥ २७॥

शब्दार्थ—ध्रिग = धृक्, धिक्कार। धौलहर = धवलगृह, महल। बार = विलम्ब।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मानव जीवन पाकर यदि किसी ने प्रभु की भक्ति नहीं की, तो ऐसे जीवन को धिक्कार है। जिस प्रकार धुएँ का महल देखने में तो बहुत स्वच्छ

१. ना० प्र०—कीयो। २. हनु०—तुम आय के, गु०—हम आय के। ३. हनु०—करोगे। ४ अन्य प्रतियों में—ऊत के। ५. ना० प्र०—अणआया। ६. ना० प्र०—बहुरता, हनु०—जब राता। ७. ना० प्र०—पड्या भुलावाँ। ८. ना० प्र०—कुबुधी। ९. ना० प्र०—जीमण, गुप्त—जीवण।

लगता है, किन्तु वह सर्वथा निस्सार होता है, वैसे ही मानव-जीवन चाहे और सब बातों में कितना सुन्दर क्यों न हो, किन्तु प्रभु-भक्ति के बिना सर्वथा सारहीन हैं।

अलंकार—दृष्टान्त।

जिहि हरि[1] की चोरी करी, गये राम गुन[2] भूलि।
ते बिधना बागुल[3] रचे, रहे अरध[4] मुखि झूलि॥ २८॥

व्याख्या—इस साखी में प्रायः 'ते बिधना बागुल रचे' पाठ मिलता है। 'बागुल' का अर्थ 'बगुला' होता है। इसी अर्थ को अधिकतर टीकाकारों ने लिया है। किन्तु इसकी संगति 'रहे अरध मुखि झूलि' से नहीं बैठती। प्रायः लोगों ने इसका अर्थ किया है कि बगुले सिर नीचे लटकाये रहते हैं। परन्तु कबीर का मुख्य आशय है कि ऐसे मनुष्यों की उल्टी प्रवृत्ति होती है, यह व्यञ्जना 'सिर नीचा करने में' स्पष्ट नहीं होती। दूसरे 'झूलि' शब्द भी स्पष्ट बतलाता है कि वे अधोमुख लटके या झूलते रहते हैं। यदि 'बागुल' पाठ लिया जाय, तब इस साखी का यही अर्थ होगा—

जो प्रभु के भजन से जी चुराते हैं और राम के गुणों को भूल जाते हैं, उन्हें ब्रह्मा ने बगुले के रूप में बनाया है जो कि मछली की खोज में नीचे सिर लटकाये रहते हैं।

परन्तु 'बागुल' के स्थान पर यदि 'गादुर' पाठ लिया जाय तो इसका भाव अधिक सुन्दर और स्पष्ट हो जायगा। तब दूसरी पंक्ति का अर्थ होगा—उनको ईश्वर ने चमगादड़ के समान बनाया है, जो मुख नीचे किये हुए झूलते रहते है अर्थात् उनकी प्रवृत्ति उलटी हो गयी है। वे संसार में रत हैं और प्रभु से विरत। नीचे से संसार की व्यञ्जना है और ऊपर से ईश्वर की।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा।

माटी[5] मलनि[6] कुँभार की, घनी सहै सिरि लात[7]।
इहि औसरि चेत्या[8] नहीं, चूका अबकी घात[9]॥ २९॥

शब्दार्थ—मलनि = मिलाना, गूँथना, रौंदना। सिरि = सिर पर। औसरि = अवसर में। घात = दाँव।

व्याख्या—जिस प्रकार मिट्टी को आकार ग्रहण में कुम्हार द्वारा रौंदने की क्रिया में अनेक लातें सहनी पड़ती हैं, उसी प्रकार जीव को संसार में रूप ग्रहण करने में काल और कर्मों की अनेक यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। परन्तु वह इस सांसारिक रूप में इतना

---

१. वि०—गुरु। २. ना० प्र०—राम गुणि, वि०—नाम गुन। ३. वि०, यु०—बागल, हनु०—दादुर स्च्यी। ४. यु०—उरध। ५. हनु०, वि० में पंक्तियों का क्रम उल्टा है। ६. ना० प्र०—मलणि, हनु०, त्रि०—मिलत। ७. हनु०, वि०—बहुत सहैगो लात। ८. हनु०, वि०—चेत्यो। ९. हनु०, त्रि०—चूक्यो मोटी घात।

मोहित रहता है कि वह प्रभु की ओर प्रवृत्त होकर संसार से मुक्त नहीं होना चाहता। यद्यपि उसे जीवन में केवल दुःख ही सहन करना पड़ता है, क्षणिक सुख भी अन्ततः दुःख में परिणत हो जाता है। फिर भी वह उसी में रत रहता है। मानव-जीवन ही एक ऐसा अवसर है जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। यदि वह इस अवसर में नहीं चेतता तो अपना दाँव सर्वथा के लिए चूक जाता है और उसे मुक्ति की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

इहि औसरि चेत्या नहीं,[1] पसु ज्यों[2] पाली देह।
राम नाम जाना[3] नहीं, अंत परी मुख खेह[4] ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—खेह = मिट्टी, धूल।

व्याख्या—इस मानव-जीवन रूपी सुन्दर अवसर को पाकर भी यदि तूने परमार्थ के विषय में नहीं सोचा और पशुओं के समान केवल देह को पालने में लगा रहा; आहार निद्रा, भय, मैथुन आदि में ही प्रवृत्त रहा और राम-नाम के महत्त्व को नहीं पहचाना तो अन्त में तुझे नष्ट होकर मिट्टी में मिल जाना होगा।

अलंकार—उपमा।

राम नाम जाना[5] नहीं, लागी मोटी खोरि[6]।
काया हांडी काठ की, ना ऊँ[7] चढ़ै बहोरि[8] ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—खोरि = दोष। बहोरि = पुनः।

व्याख्या—मानव शरीर पाकर यदि राम-नाम की ओर जीव प्रवृत्त नहीं हुआ, उसके महत्त्व को नहीं पहचाना तो यह जीवन ही सर्वथा दोषपूर्ण हो जायेगा अर्थात् व्यर्थ हो जायेगा। यह शरीर काठ की हाँड़ी के समान है जो कि आग पर सिर्फ एक बार ही चढ़ सकती है अर्थात् एक बार प्राण निकल जाने पर पुनः जीवन का संचार नहीं हो सकता। साधना के लिए फिर शरीर न मिलेगा, इसलिए हे जीव! इसी जीवन में शरीर रहते ही साधना में प्रवृत्त हो जा।

अलंकार—रूपक।

राम नाम जाना[9] नहीं, बात बिनंठी[10] मूलि।
हरत[12] इहाँ ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूलि[11] ॥ ३२ ॥

---

१. यु०—इस औसरि चेता नहीं। २. ना० प्र०—ज्यूँ। ३. ना० प्र०—जाण्या। ४. ना० प्र०—अंति पड़ी मुख पेह। ५. ना० प्र०—जाण्यौं ६. ना० प्र०—पोड़ि। ७. यु०, हनु०—वह। ८. ना० प्र०—वहोड़ि। ९. ना० प्र०—जाण्यां। १०. यु०—बिनूठी मूल, हनु०, वि०—बिनूठी भूल। ११. यु०—हरि सा हितू बिसारिया, अंत परी मुख धूल, वि०—हरि सा हितू बिसारिया, हनु०—हेरत इहाहि हारिया।

शब्दार्थ—विनंठी = विनष्ट । मूलि = जड़ से । परति = पर्त, तह ।

व्याख्या—हे जीव ! तूने रामनाम के महत्त्व को नहीं जाना तो फिर प्रारम्भ में ही बात बिगड़ गयी । तू इस संसार में धन, यश, कामिनी, कंचन, कादम्बिनी आदि का हरण करता रहा । परन्तु इस हरण करने में तू अपने को ही खो बैठा । तेरा मानव जीवन ही नष्ट हो गया और अन्त में तेरे मुख में धूल की पर्तें जमा हो गईं अर्थात् तू मिट्टी में मिल गया ।

टिप्पणी—इस साखी में 'हरति इहाँ ही हारिया' में सुन्दर व्यञ्जना है । मानव सबका हरण करने चला था, किन्तु उसने अपने को ही हरा दिया ।

राम नाम जाना[1] नहीं, पाल्यो[2] कटक[3] कुटुम्ब ।
धंधा ही में मरि गया,[4] बाहर हुई न बंब[5] ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—कटक = सेना । बंब = रणनाद (ला० अ०) यशोगान । बाहर हुई न = प्रकाशित न हुई ।

व्याख्या—हे जीव ! तूने रामनाम नहीं जाना और अपना सारा जीवन एक सेना के समान बड़े कुटुम्ब के पालने में ही लगा दिया । सांसारिक धंधों में ही विनष्ट हो गया और तेरा यशोगान, तेरी कीर्ति प्रकाशित न हो सकी ।

मानुष[6] जनम दुलभ है, होइ[7] न बारंबार ।
पाका फल जो गिरि परा,[8] बहुरि न लागै डार ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—मानुष = मनुष्य का ।

व्याख्या—यह मानव जन्म दुर्लभ है । मानव शरीर बार-बार नहीं मिलता । एक बार जब फल वृक्ष से गिर पड़ता है, तब वह फल शाखा से पुनः नहीं जुड़ सकता, वैसे ही एक बार मानव शरीर के पतन हो जाने पर वह पुनः नहीं प्राप्त हो सकता । इसलिए इस सुन्दर अवसर को न चूक । इस शरीर के रहते हुए साधना में लग जा ।

अलंकार—दृष्टान्त ।

कबीर हरि की भगति करि, तजि बिषिया[9] रस चौज ।
बार बार नहिं पाइए, मनिषा जन्म[10] की मौज ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—चौज = वह चमत्कारपूर्ण उक्ति जिससे विनोद होता है । (ला० अ०) आनन्द, आस्वाद ।

---

१. ना० प्र०—जाण्यौं । २. तिवारी—पाला । ३. गु०, वि०—सकल । ४. गु०, वि०—पचि मरा, हनु०-बहि गया । ५. हनु०—भई न बुंब । ६. ना० प्र०—मनिषा । ७. ना० प्र०-देह । ८. ना० प्र०—तरवर थैं फल झड़ि पड़्या, गु०—तरवर से पत्ता झरै, हनु०-तरुवर पात जु झरि परै । ९. तिवारी—बिखिया । १०. तिवारी-मनिखा जनम ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव ! मानव जन्म का उल्लासपूर्ण शुभ अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए इस जन्म को पाकर विषय-रस के चमत्कार और आस्वाद को छोड़कर तू प्रभु की भक्ति करता रह।

> **कबीर यहु तन जात है, सकै तो ठौर लगाय[1]।**
> **कै सेवा करि साधु[2] की, कै गोविंद गुन गाय[3] ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ—ठौर लगाइ = ठिकाने लगाना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह मानव शरीर नश्वर है। इसलिए हे जीव ! इसके रहते हुए तू इस जीवन को ठिकाने लगा ले अर्थात् इसका सदुपयोग कर ले। तू या तो सन्तों की सेवा कर अथवा गोविन्द के गुणगान से अपने जीवन को सार्थक बना।

> **कबीर यहु तन जात है, सकै तो लेहु बहोरि[4]।**
> **नांगे[5] हाथौं ते गए, जिनके लाख करोरि[6] ॥ ३७ ॥**

शब्दार्थ—लेहु बहोरि = लौटा ले। नांगे = नंगे, खाली।

व्याख्या—इस साखी में 'सकै तो लेहु बहोरि' का सीधा अर्थ यही प्रतीत होता है कि 'हो सके तो ऐसा सत्कर्म कर कि फिर तुझे मानव जन्म मिल सके जिससे तू साधना कर सके।' किन्तु कबीर ने नीचे जो कुछ कहा है उससे इसकी संगति नहीं बैठती। इसमें एक विशेष व्यञ्जना प्रतीत होती है। अतः इस साखी का निम्नलिखित अर्थ लेना ठीक होगा—

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! यह तेरा मानव शरीर व्यर्थ में नष्ट हो रहा है। यह आकर्षक विषयों, सम्पत्ति के संग्रह आदि में विनष्ट हो रहा है। हो सके तो इसको इन क्षणिक सुखों और प्रलोभनों से बचा ले, लौटा ले, क्योंकि सम्पत्ति-संग्रह से तेरा कोई लाभ न होगा। जिन्होंने लाखों-करोड़ों कमाया, वे भी इस संसार से बिल्कुल खाली हाथ चले गये।

तुलनीय—

> इकट्ठे ग़र जहाँ जर सभी मुल्कों के माली थे।
> सिकन्दर जब चला दुनिया से दोनों हाथ खाली थे॥

> **यह तन[7] काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।**
> **एक[8] राम के नाँव बिन, जदि[9] तदि परलै[10] जाइ ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ—जदि तदि = (सं०—यदा-तदा) जब तब, कभी-न-कभी, चाहे जब।

---

१. ना० प्र०–ठाहर लाइ, हनु०, वि०—ठौंर लगाव। २. ना० प्र०—साध। ३. ना० प्र०–कै गुण गोविंद क गाइ, यु०–कै हरि के गुन गाय, हनु०–कै गोविंद गुण गाव, वि०–कै गुरु के गुन गाब। ४. ना० प्र०–बहोड़ि। ५. ना० प्र०–नांगे हाथूँ, यु०–खाली हाथे सो गये। ६. ना० प्र०–करोड़ि। ७. ना० प्र०–तनु। ८. हनु०, यु०–एकहि हरि। ९. हनु०–जब तब परलै। १०. ना० प्र०–प्रलै।

व्याख्या—यह शरीर कच्चे घड़े के समान है। जिस प्रकार कच्चे घड़े को कुम्भकार के अनेक थपेड़े सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य को जीवन में नाना प्रकार की यातनाओं को सहन करना पड़ता है। उसे किसी ओर भी शान्ति के लिए सहारा नहीं मिलता। यदि कोई आश्रय या अवलम्ब है तो वह है—राम नाम। इसलिए हे जीव! तू उसी में अपना चित्त लगा, क्योंकि तेरे जीवन का कोई ठिकाना नहीं है, वह चाहे जब विनाश को प्राप्त हो सकता है।

अलंकार—विनोक्ति।

यह तन काचा कुंभ है, लियाँ फिरै था साथि।
ठपका[1] लागा फुटि[2] गया, कछू न आया हाथि॥ ३९॥

शब्दार्थ—ठपका = धक्का, ठेस।

व्याख्या—यह शरीर, जिसे तू बड़े गर्व के साथ लिये घूम रहा है, कच्चे घड़े के समान है, जो जरा-सी ठेस या धक्का लगने से फूट जाता है और फिर कुछ भी हाथ नहीं आता। तेरा शरीर भी वैसा ही नश्वर है। इसका कोई ठिकाना नहीं।

काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि॥ ४०॥

शब्दार्थ—काँची कारी (मुहावरा) = टालमटोल करना। बधै = बढ़ना। बियाधि = रोग।

व्याख्या—हे जीव! तू टालमटोल मत कर। तेरी भव-व्याधि दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कबीर को राम के प्रति अनुराग हो गया है, जिससे यह उसे तंग नहीं कर पाती। हे जीव! तू भी इसी औषध का अपने बचाव के लिए प्रयोग कर।

तुलनीय—

एक व्याधि बस नर मरहिं, ये असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहइ समाधि॥ १२१॥
(मानस-उत्तरकाण्ड)

कबीर अपने जीव तैं, ए दोइ बातैं धोइ।
लोभ[3] बड़ाई कारनैं[4], अछता मूल न खोइ॥ ४१॥

शब्दार्थ—अछता = (i) (सं० अक्षत) अखण्ड आत्मा। (ii) विद्यमान या रहते हुए। मूल = मूलधन, पूँजी।

---

१. ना० प्र०—डबका, हनु०-ठनका। २. ना० प्र०—फूटि। ३. तिवारी—लाभ। ४. ना० प्र०—कारणें।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव ! अपने मन से तुम दो बातों को निकाल फेंको—एक तो लोभ, दूसरे आत्म-प्रशंसा की तृष्णा। 'अछता' शब्द के दो अर्थ हैं—(i) विद्यमान या रहते हुए, (ii) अक्षत या अखण्ड। पहले अर्थ की दृष्टि से साखी के दूसरे चरण का तात्पर्य होगा कि इन दोनों दोषों के कारण अपने पास विद्यमान आत्मा रूपी पूँजी को मत खोओ। इसमें दूसरी व्यञ्जना यह है कि अपने अखण्ड आत्मा रूपी पूँजी को मत खोओ।

अलंकार—'अछता' शब्द में श्लेष।

खंभा एक गयंद[1] दोइ, क्यों[2] करि बंधसि[3] बारि।
मानि करै तौ पिउ[4] नहीं, पीव तौ मानि निवारि॥ ४२॥

शब्दार्थ—गयंद = गजेन्द्र, हाथी। बारि = द्वार पर। मानि = अहंभाव। निवारि = निकाल।

व्याख्या—खम्भा एक ही है और हाथी दो हैं। दोनों हाथियों को एक साथ एक खम्भे से अपने द्वार पर तू कैसे बाँध सकेगा ? हे जीव ! ठीक इसी प्रकार मन तो केवल एक है और उसमें तू दो हाथियों-अहंभाव और प्रिय-प्रेम-को एक साथ ही बाँधना चाहता है। यह कैसे सम्भव है ? यदि तू अहंभाव में रहता है तो उसके साथ प्रिय नहीं रह सकते। यदि तू प्रिय अर्थात् प्रभु को रखना चाहता है तो मान को निकालना पड़ेगा।

अलंकार—अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास।

दीन गँवाया[5] दुनी सौं, दुनी[6] न चाली साथि।
पाइ[7] कुहाड़ा मारिया, गाफिल[8] अपनैं[9] हाथि॥ ४३॥

शब्दार्थ—दीन = धर्म। दुनी सौं = दुनिया के साथ। कुहाड़ा = कुल्हाड़ी। गाफिल = असावधान। हाथि = हाथ में।

व्याख्या—हे जीव ! तुमने सांसारिक मोह में अपना धर्म या कर्तव्य खो दिया, परन्तु वह दुनिया जिसके लिए तुमने अपना धर्म खो दिया, तेरे साथ न गयी। तू इतना असावधान है कि अपने ही हाथों अपने पैर में तूने कुल्हाड़ी मार लिया है अर्थात् अपने मोह से तूने स्वयं अपना जीवन नष्ट कर लिया है।

अलंकार—लोकोक्ति।

यह तन तौ सब बन भया,[10] करम[11] जु भए कुहारि[12]।
आप आपकौं[13] काटिहैं, कहैं कबीर बिचारि॥ ४४॥

---

१. ना० प्र०—गइंद। २. ना० प्र०—क्यूँ। ३. ना० प्र०—बंधिसि। ४. ना० प्र०—पीव। ५ हनु०, वि—गँवायो दूनि संग। ६. हनु०—दुनिया लागि न साथि। ७. तिवारी—पाँव कुहाड़ी, हनु०, वि०—पाँव कुल्हारी। ८. वि०—मूरख। ९. ना० प्र०—अपणैं। १०. तिवारी, हनु०, यु०—कबीर यह तन बन भया। ११. ना० प्र०—करंम भए। १२. ना० प्र०— कुहाड़ि, हनु०—कुल्हार। १३. ना० प्र०—आपकूँ, हनु०, यु०—आपको।

शब्दार्थ—कुहारि = कुल्हाड़ी ।

व्याख्या—यह शरीर वन के समान है और कर्म कुल्हाड़ी बन गये। कबीर विचार कर कहते हैं कि हे जीव ! तू अपने ही कर्म रूपी कुल्हाड़ी से अपने जीवन रूपी वन को काट रहा है अर्थात् नष्ट कर रहा है।

अलंकार—रूपक ।

कुल खोयै[1] कुल ऊबरै, कुल राखै[2] कुल जाइ।
राम निकुल कुल[3] भेंटि लै, सब कुल रह्या[4] समाइ ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—कुल = कुटुम्ब, ससीम इष्ट। कुल = समग्र, पूर्ण, ब्रह्म। निकुल = कुलहीन, सीमाहीन, असीम। भेंटि लै = समर्पण कर दे। ऊबरै = बचता है।

व्याख्या—जो केवल ससीम, कुटुम्ब, वंश आदि के मोह में पड़ा रहता है, वह वास्तविक कुल अर्थात् पूर्ण, ब्रह्म या भूमा को खो देता है। ससीम, कुटुम्ब, वंश आदि के मोह को त्याग देने पर ही असीम, पूर्ण बचता है अर्थात् उसकी उपलब्धि होती है। कुटुम्ब आदि ससीम के मोह में पड़े रहने से पूर्ण या सर्वस्व की प्राप्ति नहीं हो पाती है। राम निकुल हैं अर्थात् वह कुटुम्ब आदि सीमाओं में परिसीमित नहीं हैं। उसी में तू वंश आदि ससीम का समर्पण कर दे। उसी में ससीम समाया हुआ है अर्थात् वह सब में व्याप्त है।

टिप्पणी—इस साखी में 'निकुल' राम का विशेषण है। यदि 'निकुल' को क्रिया-विशेषण के रूप में लिया जाय तो अर्थ होगा—निकुल होकर अर्थात् कुल की सीमाओं को छोड़कर तू कुल को राम में समर्पित कर दे।

अलंकार—यमक, विरोधाभास ।

दुनियाँ के धौखै मुवा, चलै जु कुल की कांनि[5]।
तब कुल किसका लाजसी,[6] जब ले धरहिं मसांनि[7] ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—कांनि = मर्यादा। लाजसी = लज्जित होगा। मसांनि = श्मशान।

व्याख्या—हे जीव ! तू कुल की मर्यादा-वृद्धि में पड़ा रहता है। इसी कारण जगत् के भुलावे में मारा जाता है। जब तुझे लोग श्मशान में लिटा देंगे, तब किसका कुल लज्जित होगा ? अर्थात् किसके कुल की प्रतिष्ठा का प्रश्न रह जायगा ? भाव यह है कि जिस कुल की गौरव-वृद्धि में तू पड़ा रहता है, उससे तेरा सम्बन्ध ही छूट जायगा। फिर किस कुल की लज्जा का प्रश्न रह जायेगा ?

अलंकार—वक्रोक्ति ।

---

१. ना० प्र०—खोयाँ। २. ना० प्र०—राख्याँ। ३. तिवारी—जब मेटिया, हनु०, वि०—कुल मेंटिया। ४. ना० प्र०—रह्या, हनु०, वि०—गया विलाय। ५. तिवारी—चालत कुल की कांनि, वि०, यु०—चला कुटुम्ब की कांनि। ६. वि० यु०—तब कुल की क्या लाज है। ७. ना० प्र०—धर्‌या मसांणि, वि०, यु०—धरा मसानि।

दुनियाँ भाँड़ा दुख का, भरी मुहाँमुह भूष[1]।
अदया[2] अल्लह राम की, कुरलै कौनी कूष[3] ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—भाँड़ा = पात्र। भूष = तृष्णा, चाह। मुहाँमुह = लबालब। अदया = दया के बिना। कुरलै = चिल्लाना। कूष = कोष, खजाना।

व्याख्या—यतः संसार तृष्णा से लबालब भरे हुए पात्र के समान है। अतः यह दुःख का भाण्डार है। इसमें पूर्ण तृप्ति के लिए खोज करना व्यर्थ है। अल्लाह या राम की दया के बिना यह तृष्णा समाप्त नहीं हो सकती। हे जीव! जब सारा संसार एक अतृप्त वासना का भाण्डार है तो ऐसे संसार में किस कोष या खजाने के लिए चीखता रहता है?

जिहि जेवरी[4] जग बंधिया[5], तू जिनि[6] बंधै कबीर।
ह्वैसी[7] आटा लोन[8] ज्यौं, सोना सवां सरीर[9] ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—जेवरी = रस्सी। ह्वैसी = हो जायेगा। लोन = लवण, नमक। सवां = समान।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिस माया की रज्जु से जगत् बँधा हुआ है, तू उसमें मत फँस। यदि तू उसमें फँसता है तो तेरा यह सोने के समान बहुमूल्य शरीर अर्थात् मानव जीवन का व्यक्तित्व वैसे ही हो जायेगा जैसे आटा में नमक अर्थात् जिस प्रकार आटा में नमक मिलाने पर इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि उससे पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही हे जीव! माया में लिप्त हो जाने पर तेरा सारा व्यक्तित्व उससे पृथक् न हो पायेगा। तू मुक्त न हो सकेगा।

अलंकार—उपमा, रूपकातिशयोक्ति।

कहत सुनत जग जात है, विषय[10] न सूझै काल।
कबीर[11] प्यालै प्रेम कै, भरि भरि पिवै रसाल ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—जग = संसार के लोग। जात है = नष्ट हो रहे हैं। रसाल = मधुर।

व्याख्या—उपदेशों को कहते और सुनते हुए संसार के लोगों का जीवन समाप्त होता जाता है। विषय में पड़े हुए उन्हें काल की सुधि नहीं रहती। वे विषय का प्याला पीते रहते हैं और उसी में भूले रहते हैं। उन्हें यह नहीं सूझता कि जो शरीर और इन्द्रियाँ विषय-भोग कर रही हैं, वे शीघ्र ही काल के गाल में चली जायेंगी। किन्तु कबीर जैसे सन्त विषय के प्याले को मुख से नहीं लगाते। वे मधुर, प्रेम से परिपूर्ण प्याले को छक-छककर पीते हैं।

अलंकार—रूपक।

---

१. हनु०, वि०, यु०—मूख। २. हनु०, वि०—आदी अल्लह। ३. ना० प्र०—कुरहै ऊँणी कूष। ४. ना० प्र०—जेवडी। ५. हनु०, यु०—बँधा। ६. हनु०, यु०—मति। ७. तिवारी—जैंहहि आटा लौंन ज्यौं, हनु०, यु०—जैसे आटा लोन बिन। ८. ना० प्र०—लूँण ज्यूँ। ९. हनु०, यु०—सूता हुआ सरीर। १०. ना० प्र०—विषै। ११. हनु०, वि०, यु०—कहैं कबीर सुन प्रानिया, साहिब नाम सम्हाल।

कबीर हद के जीव सौं[1], हित करि मुखाँ न बोलि।
जे राचे[2] बेहद्द सौं[3], तिन सौं[4] अंतर खोलि॥ ५०॥

शब्दार्थ—हद के जीव सौं = ससीम में फँसे लोगों से। हित करि = प्रेमपूर्वक। मुखाँ = मुख से। राचे = अनुरक्त। बेहद्द = असीम। अंतर खोलि = हृदय खोलकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि ससीम में फँसे हुए लोगों के संग से तुम दूर रहो। उनसे अधिक प्रेम की वाणी न बोलो, अन्यथा तुम भी उनकी बातों में फँस जाओगे। जो साधक असीम में अनुरक्त हैं, उन्हीं से तुम अपने हृदय की बात कहो। उन्हीं का सत्संग करो और उन्हीं की बातों पर चलो।

कबीर[5] केवल राम की, तूँ जिनि[6] छाड़ै ओट।
घन अहरन बिच लोह ज्यौं,[7] घनी[8] सहै सिरि चोट॥ ५१॥

शब्दार्थ—ओट = अवलम्ब, आश्रय। घन = हथौड़ा। अहरन = निहाई। सिरि = सिर पर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू केवल प्रभु की शरण में जा, केवल उसी को अपना अवलम्ब बना। वही तुझको सब दुःखों से छुटकारा दिला सकता है, अन्यथा जैसे निहाई पर रखा हुआ लोहा हथौड़े की चोट से पीटा जाता है, वैसे ही तुझे सिर पर सांसारिक दुःखों की चोट सहनी पड़ेगी।

अलंकार—उदाहरण।

कबीर केवल राम कह[9], सुद्ध[10] गरीबी झालि।
कूर[11] बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी कालि[12]॥ ५२॥

शब्दार्थ—झालि = झेलकर। कूर = व्यर्थ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू अपनी सीधी गरीबी को झेलते हुए केवल प्रभु का स्मरण कर। व्यर्थ का बड़प्पन नष्ट हो जायेगा और भविष्य में यह तुझे बहुत मँहगा पड़ेगा। तू उसके बोझ से दब जायेगा।

काया मंजन क्या करै, कपड़ा[13] धोइम धोइ।
ऊजर भए न छूटिए,[14] सुख नींदरी[15] न सोइ॥ ५३॥

---

१. ना० प्र०—सूँ। २. ना० प्र०—लागे। ३. ना० प्र०—सूँ। ४. ना० प्र०—सूँ। ५. वि०—कबीर सतगुरु सरन की, जों कोइ छाड़ै ओट। ६. हनु०, यु०—तू मति। ७. ना० प्र०— घण अहरणि बिचि लोह ज्यूँ। ८. ना०प्र०—घणीं। ९. ना०प्र०—कहि। १०. ना०प्र०—सुध। ११. ना० प्र०—कूड़, हनु० —कूल। १२. ना० प्र०—काल्हि। १३. ना० प्र०—कपड़। १४. ना० प्र०—उजल हूवा न छूटिये, विचार०—ऊजल होय न छूटसी, युगला०—उज्वल हुआ न छूटिये। १५. ना० प्र०—नींदड़ी, विचार०—निंदरि।

शब्दार्थ—मंजन = स्नान। धोइम धोइ=धो-धोकर। ऊजर = उज्ज्वल, स्वच्छ। न छूटिए = छुटकारा नहीं पाएगा, मुक्त नहीं होगा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तूने स्वच्छता के वास्तविक मर्म को नहीं समझा है। तू समझता है कि शरीर और वस्त्रों की सफाई से ही स्वच्छ हो जाएगा। किन्तु वास्तविक स्वच्छता मन की है। तू शरीर और कपड़ों को धोकर स्वच्छता का व्यर्थ आडम्बर करता है। काया और वस्त्र के स्वच्छ होने से तू मुक्त नहीं होगा, केवल मन की स्वच्छता से ही मुक्त होगा। इसलिए बाह्य स्वच्छता को वास्तविक स्वच्छता समझते हुए निश्चिन्त होकर मत रह। सदा आन्तरिक परिष्कार का प्रयास करता रह।

ऊजल कपड़ा पहिरि करि,[1] पान सुपारी खाँहि।
एकै हरि का नाँव बिन,[2] बाँधे[3] जमपुरि जाँहि॥ ५४॥

शब्दार्थ—एकै = केवल।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि लोग प्रायः श्वेत वस्त्र धारण करते हैं और अपने मुख को सुशोभित करने के लिए पान-सुपारी आदि का प्रयोग करते हैं। किन्तु प्रभु के भजन के बिना इस बाह्य सजावट से काम नहीं चलेगा। केवल हरि-स्मरण से ही मुक्ति होगी। काल के पाश में बँधे हुए ऐसे लोग अन्त में यमपुर जाते है और उन्हें नरक की यातना भोगनी पड़ती है।

अलंकार—विनोक्ति।

तेरा[4] संगी कोइ नहीं, सब स्वारथ बँधी लोइ[5]।
मन परतीति न ऊपजै, जीव बेसास[6] न होइ॥ ५५॥

शब्दार्थ—लोइ = लोग। परितीति=प्रतीति। बेसास = विश्वास।

व्याख्या—हे जीव! तेरा कोई वास्तविक साथी नहीं है। सब लोग अपने-अपने स्वार्थ में बँधे हुए हैं। किन्तु तू ऐसा अज्ञानी है कि इस कटु सत्य के प्रति तेरे मन में प्रतीति नहीं होती और न तेरे हृदय में विश्वास जमता है। कोई भी तेरे साथ न जाएगा। तू अपना मार्ग स्वयं खोज।

माँइ बिड़ांणी[7] बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ाँह[8]।
दरिया केरी नाँव ज्यों[9], सँजोगे मिलि जाँहि[10]॥ ५६॥

शब्दार्थ—बिड़ांणीं = बिरानी, बेगाना, पराया, गैर। बिड़ = पराया। बिड़ाँह = पराए।

---

१. विचार०—युगला०—ऊजल पहिने कपड़ा। २. विचार०—कबीर गुरु की भक्ति बिन। ३.विचार०—युगला०—बाँधा। ४. हनु०—विचार०—युगला०—मेरा। ५. हनु०—विचार०—सबै स्वारथी लोय। ६. तिवारी०— जिय बेसास, हनु०—विचार०—जिय बिस्वास। ७. हनु०—बिड़ानीं। ८. हनु०—मांझ बिड़ाहिं ९. ना० प्र०—ज्यूँ। १०. ना० प्र०—यौंह।

व्याख्या—संसार में सारे सम्बन्ध क्षणिक और संयोगजनक हैं। इनको तू अपना नित्य न समझ। केवल तेरा आत्मस्वरूप ही सदा तेरा है। माँ भी पराई है, पिता भी पराया है और हम सब भी पराए लोगों के बीच में ही हैं। इनमें से कोई अपना निजी व्यक्ति नहीं है। संसार में हम लोग उसी प्रकार संयोगवश मिल जाते हैं जैसे भिन्न-भिन्न स्थानों से आई हुई नौकाएँ समुद्र या नदी में संयोगवश मिल जाती हैं।

इसमें दूसरी व्यञ्जना यह भी है कि 'नौका' थल की वस्तु है और 'दरिया' जल है। केवल संयोगवशात् दोनों एकत्र हो जाते हैं।

'सँजोगे' शब्द में श्लेष का चमत्कार है। इसका एक अर्थ है—अकस्मात् और दूसरा अर्थ है—मिल जाने से।

अलंकार—उपमा, श्लेष।

इत पर[1] घर उत[2] घर, बनिजन[3] आए हाट।
करम किरानाँ[4] बेंचि करि, उठि करि चाले बाट[5] ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ—पर घर = पराया घर, संसार। बनिजन = वाणिज्य। हाट = बाजार। किरानाँ = सौदा। बाट = मार्ग।

व्याख्या—यह संसार जीव का नैसर्गिक धाम नहीं है। वास्तविक धाम तो केशव-धाम है, जहाँ से हम आए हैं। संसार एक बाजार के समान है, जहाँ पर लोग वाणिज्य के लिए आते हैं और अपना कर्म रूपी सौदा बेंचकर अपने-अपने मार्ग पर चले जाते हैं। इसलिए हे जीव! तू संसार को अपना वास्तविक धाम न समझ। प्रभु ही तेरा वास्तविक शाश्वत धाम है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

नाँन्हाँ काती चित्त दे,[6] मँहगे मोलि बिकाइ।
गाहक राजा राम हैं, और न नेड़ा आइ[7] ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ—नान्हाँ = महीन। काती = कताई। नेड़ा = नियरा, निकट।

व्याख्या—हे जीव! तू मन लगाकर सूक्ष्म कताई कर, क्योंकि बारीक सूत मँहगे दामों पर बिकता है अर्थात् तू शुभ कर्म कर। उसका ही बड़ा मूल्य होगा और उसके ग्राहक कोई सांसारिक राजा नहीं, स्वयं प्रभु होंगे। कोई दूसरा तेरे निकट नहीं आएगा। इस माल को कोई दूसरा न खरीद सकेगा। तू उसी प्रभु के लिए अपने शुभ कर्मों के द्वारा सुन्दर माल तैयार कर। वही तेरा उचित मूल्य देगा।

अलंकार—'दे' शब्द में देहरीदीपक, अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—प्रधर, हनु०—परधर। २. युगला०—हनु०-वि०—उत है घरा। ३. ना० प्र०—बणजण। ४. ना० प्र०—किराँणाँ। ५. ना० प्र०—उठि ज लागे बाट। ६. युगला०—करि तू चित्त दै, हनु०—विचार०—काती चित्त दै। ७. यु०—हनु०—विचार०—नीरा जाय।

डागल ऊपरि[1] दौरनां, सुख नींदड़ी[2] न सोइ।
पुन्नैं पाए द्यौहड़े,[3] ओछी ठौर न खोइ॥ ५९॥

शब्दार्थ—डागल = ऊबड़-खाबड़ भूमि। द्यौहड़े = देवालय (ला॰ अ॰) शरीर, ओछी=क्षुद्र।

व्याख्या —हे जीव! यह मानव जीवन पुष्पों की शय्या नहीं है। यह ऊबड़-खाबड़ कंटकाकीर्ण मार्ग पर दौड़ने के समान है। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तुझे कठिन साधना करनी पड़ेगी। क्षुद्र सांसारिक सुखों में लिप्त होकर तू सुख की नींद न सो। तुझे कठिन साधना करनी है। बड़े शुभ कर्मों और पुण्य के प्रताप से तुझे देवालय के समान यह पवित्र मानव शरीर प्राप्त हुआ है। इसे तुच्छ कार्यों में लगाकर तू नष्ट न कर। सांसारिक माया जाल में तू इसका उपयोग न कर। इसके द्वारा तू साधना करके प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न कर।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसो भागि[4]।
कब लग राखौं हे सखी[5], रुई पलेटी[6] आगि॥ ६०॥

शब्दार्थ—मैं मैं=अहं बुद्धि। बलाइ=बला, रोग। पलेटी = लपेटी (वर्ण विपर्यय)।

व्याख्या—अहं बुद्धि, आपा बहुत बड़ा रोग है। इसलिए तू उससे भाग निकलने का प्रयत्न कर अर्थात् तू उससे ऊपर उठ जा, क्योंकि 'मैं मैं' से लिप्त बुद्धि आग से लिपटी हुई रूई के समान है, जो तेरे सारे जीवन को नष्ट कर देगी। जिस प्रकार आग से संयुक्त रूई बचाई नहीं जा सकती, उसी प्रकार अहं बुद्धि से लिप्त इस जीवन को हे सखी! कब तक बचाया जा सकेगा?

अलंकार—दृष्टान्त।

मैं मैं मेरी जिनि करै,[7] मेरी मूल बिनास[8]।
मेरी पग का पैखड़ा[9], मेरी गल की पास[10]॥ ६१॥

शब्दार्थ—मैं=अहंभाव। मेरी=ममत्व। पैखड़ा=पैंकड़ा, बेड़ी, बंधन। पास= (सं॰ पाश) बंधन।

व्याख्या—हे जीव! तू अहंभाव और ममत्व से दूर रह। अहंभाव और मेरापन तेरे जीवन के मूल को ही नष्ट कर डालेगा। मेरेपन का भाव पैरों की बेड़ी है और गले की फाँसी है। जिस प्रकार पैरों में बेड़ी पहनने से मनुष्य आगे नहीं चल सकता, उसी

---

१. ना॰ प्र॰—उपरि दौड़णां, हनु॰—ऊपर दौरना। २. तिवारी॰—नींदरी, हनु॰—निन्दरि नहिं। ३. तिवारी॰—पुन्नै पाया देहरे हनु॰—पुन्नै पाया देहरा। ४. ना॰प्र॰—निकसी भाजि, तिवारी॰—नीकासि भागि, हनु॰—विचार॰—निकसु भागि। ५. अन्य प्रतियों में—राम जी। ६. हनु॰—बिचार॰—लपेटी। ७. हनु॰—तिवारी॰—यु॰—मैं मेरी तू जनि करै। ८. हनु॰—वि॰—यु॰—विनासि। ९. ना॰ प्र॰—पैंषड़ा। १०. हनु॰—वि॰—यु॰—फाँसि।

प्रकार ममत्व के बंधन से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में प्रगति नहीं कर सकता। जिस प्रकार गले में फाँस पड़ने से मनुष्य जीवन खो बैठता है, उसी प्रकार आपा और मेरेपन का भाव आध्यात्मिक जीवन को ही नष्ट कर देता है।

अलंकार---उल्लेख।

कबीर नाव जरजरी,[1] कूड़े[2] खेवनहार[3]।
हलके हलके तिरि गए,[4] बूड़े जिन[5] सिर भार॥ ६२॥

—२७२॥

शब्दार्थ—नाव=(प्र० अ०) जीवन। जरजरी=जर्जर, जीर्ण, झाँझर। कूड़े=घास पतवार, (ला० अ०) निकम्मा, अज्ञानी। खेवनहार=नाविक। कूड़े खेवनहार= (प्र० अ०) वासना और अहंभावयुक्त मन।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि भव-सागर से पार जाने के लिए यह प्राण, मनयुक्त मानव-तन एक नाव के समान है। यह ऐसी नाव है जो कि एक तो जर्जर हो चुकी है अर्थात् इसमें मोह, मद, राग, द्वेष आदि के छिद्र हो गए हैं, दूसरे इसका नाविक वासना और अहंभावयुक्त अज्ञानी मन है जो कि सर्वथा कूड़ा या निकम्मा है। ऐसी नाव से जीवन-यात्रा कैसे पूरी हो सकती है। थोड़े से भी प्रलोभन आदि प्रभञ्जन के झोंकों से यह डूब जानेवाली है। जिन लोगों ने भक्ति और साधना से अपनी वासना और अहंभाव को तिलाञ्जलि देकर अपने को हल्का कर लिया है, वे ही इस भव-सागर को पार कर सकते हैं और जिनके सिर पर अहंभाव, वासना आदि का बोझ लदा हुआ है, वे तो निश्चय ही इस भव-सागर में डूब मरेंगे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति।

---

१. हनु०—नाव तो झाँझरी, वि०—बेड़ा जरजरा। २. यु०—कूरा। ३. ना०-प्र०— खेवणहार। ४. यु०—हलका हलका तरि गया, वि०—हरुये हरुये तरि गए। ५. ना० प्र०—तिनि।

(१३) मन को अंग

मन के मते न चालिये, छाँड़ि जीव की बांनि[1] ।
ताकू केरे सूत ज्यों,[2] उलटि अपूठा आंनि[3] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—मते = अनुसार । बांनि = स्वभाव । ताकू=तकली । अपूठा (सं०–आ + पृष्ठि) पीछे की ओर ।

व्याख्या—बेचारे जीव का यह स्वभाव है कि वह काम-सम्पृक्त मन के अनुसार विषय-भोग की ओर, संसार की ओर चलता है । कबीर जीव को सचेत करते हैं कि तू ऐसे काम-संपृक्त मन के अनुसार न चल । इस प्रवृत्ति को छोड़ । जैसे तकली में लिपटे हुए सूत को कपड़ा बनाने के लिए पलटकर नली पर चढ़ाते हैं, वैसे ही विषयों की ओर प्रवृत्त मन को उलटकर आध्यात्मिक जीवन के लिए परम चैतन्य की ओर ले चल ।

तुलनीय—

अवधू यो मन जात है, याही तें सब जांणि ।
मन मकड़ी का ताग ज्यूँ, उलटि अपूठै आंणि ॥
—गोरखवानी–सबदी, २३४

अलंकार—उपमा ।

चिंता चित्ति निवारिये,[4] फिरि बूझिए न कोइ[5] ।
इन्द्री पसर मिटाइये,[6] सहजि मिलैगा सोइ[7] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—चित्ति (सप्तमी अधिकरण) चित्त में से । पसर = प्रसार । सोइ = वह, ईश्वर ।

व्याख्या—चित्त से चिंता को निकाल फेंकिए और इन्द्रियों का विषय-भोग की ओर प्रसार रोक दीजिए । फिर किसी से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं है । वह प्रभु सरलता से मिल जाएगा ।

आसा का इंधन[8] करूँ, मनसा करूँ[9] विभूति ।
जोगी फेरी फिल करौं, यौं बिननाँ[10]वै सूति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—आसा = तृष्णा । मनसा = वासनायुक्त मन, इच्छा, कामना । विभूति = भस्म । इंधन = जलानेवाली लकड़ी । जोगी फेरी = जोगी के समान चक्कर लगानेवाला मन । फिल = नष्ट । सूति = सूत्र, जीवन-सूत्र ।

---

१. ना० प्र०—बाँणि । ति०—ताकू केरा तार ज्यों, हनु०, वि०—यु०—कतवारी के सूत ज्यों । ३. ना० प्र०—आँणि । ४. हनु०, वि०–यु०–चित्त विसारिये । ५. हनु०, वि०–यु०–आन । ६. हनु०, वि०–यु०–इन्द्रि पसारा मेटिये । ७. हनु०, वि०—यु०–सहज मिले भगवान । ८. ना० प्र०—ईंधण । ९. गुप्त—करौं । १०. गुप्त–बिन नावै ।

व्याख्या—तृष्णाओं के ईंधन को ज्ञानाग्नि से जला डालूँ। इस प्रकार इच्छामय मन को भस्म कर डालूँ। जोगी के समान चक्कर लगानेवाले इस मन को नष्ट कर दूँ। इस प्रकार से मैं इस जीवन-सूत्र को बीनूँ। तभी प्रभु से मिलन होगा।

टिप्पणी—इस साखी में 'जोगी' मन के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार जोगी चारों ओर चक्कर लगाता रहता है, उसी प्रकार यह मन विषयों में चक्कर लगाता रहता है। इसी अर्थ में 'गोरखबानी' में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—

मांहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी,
जोगणि संग न छाड़ै।
—बड़थ्वाल-गोरखबानी—पृष्ठ १०५।

'हमारा तो बैरागी जोगी अर्थात् मन दिन-रात भोग में निरत रहता है। यह मन रूपी जोगी कभी भी भोग रूपी जोगिनि का साथ नहीं छोड़ता है।'

अलंकार—सांग रूपक।

कबीर सेरी साँकरी,[1] चंचल मनुवा चोर।
गुन[2] गावै लौलीन[3] होइ; कछु इक[4] मन में और॥ ४॥

शब्दार्थ—सेरी (फा०) = गली, मार्ग—'जा सेरी साधू गया सो तो राखी मूँदि।' साँकरी = संकीर्ण।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु तक पहुँचने का मार्ग बहुत ही संकीर्ण है और चंचल मन चोर के समान है। वह ऊपर से ध्यानमग्न होकर प्रभु का गुणगान करता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु उसके भीतर कुछ और ही रहता है अर्थात् भीतर से वह विषयों की लालसा या तृष्णा रखता है। चोर की विशेषता यह होती है कि वह छिपकर कार्य करता है। मन में दो दोष होते हैं—एक तो वह स्थिर नहीं हो पाता, रजोगुण के प्रभाव से चंचल रहता है, दूसरे वह चोर के समान कई कार्य छिपकर करता है।

यहाँ कबीर ने आधुनिक मनोविज्ञान के एक विशेष तथ्य की ओर संकेत किया है। आधुनिक मनोविज्ञान यह बतलाता है कि मन की कई पर्तें होती हैं। ऊपरी पर्त से (जिसे आधुनिक मनोविज्ञान चेतन मन (conscious mind) कहता है) वह कुछ और करता है और भीतरी पर्त (जिसे आधुनिक मनोविज्ञान अचेतन मन (unconscious mind) कहता है) में अव्यक्त रूप से कुछ और बातें छिपी रहती हैं। इसीलिए कबीर कहते हैं कि इस चंचल चोर मन के द्वारा प्रभु को प्राप्त करना कठिन है, क्योंकि ऊपरी अर्थात् चेतन मन से यह उसका गुणगान किया करता रहता है और भीतर अर्थात् अचेतन मन में विषयों की लालसा कुरेदती रहती है।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति।

---

१. ना० प्र०—साँकड़ी। २. ना० प्र०—गुण। ३. ना० प्र०—लै लीन। ४. ना० प्र०—कछू एक।

कबीर[1] मारूँ मन कौं[2], टूक टूक ह्वै जाइ।
बिष की क्यारी बोइ करि[3], लुनत[4] कहा पछिताइ॥ ५॥

शब्दार्थ—लुनत=काटते हुए।

व्याख्या—उपनिषदों के अनुसार मन के दो विशेष भेद होते हैं–अशुद्ध मन जो काम-सम्पृक्त होता है और शुद्ध मन जो काम-विवर्जित होता है :—

मनस्तु द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसम्पृक्तं शुद्धं कामविवर्जितम्॥

—मैत्री उपनिषद्

कबीर ने 'मन को अंग' में जो चेतावनी दी है, वह अशुद्ध मन के लिए है। इसी अशुद्ध मन को लक्ष्य करके कबीर इस साखी में कहते हैं कि हे दुष्ट मन ! तूने विषय-वासना रूपी विष की क्यारी बोई है। अब उसके फल काटने में क्यों पछताता है ? जब तक तेरा साम्राज्य रहेगा, तब तक तू विष-बीज वपन करता रहेगा और उसके विनाशकारी फल को भोगता रहेगा। अतः यह आवश्यक है कि मैं तुझे इस प्रकार मारूँ कि तू सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जाय।

'मारने' का भाव यह है कि अशुद्ध मन को साधना द्वारा इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया जाय कि उसकी वासना-विष बोने की शक्ति क्षीण हो जाय और इस प्रकार की प्रवृत्ति समाप्त हो जाय।

अलंकार—दृष्टान्त।

इस[5] मन कौं बिसमल करौं[6], दीठा करौं[7] अदीठ।
जे सिर राखौं आपनाँ[8], तौ[9] पर सिरि ज अँगीठ[10]॥ ६॥

शब्दार्थ—बिसमल = (फा०–बिसमिल) आहत, क्षत, घायल। दीठा = देखा गया, दृष्ट। अदीठ = अदृष्ट।

व्याख्या—इस साखी में 'दीठा करौं अदीठ' का अन्वय दो प्रकार से हो सकता है (i) अदीठ दीठा करौं, (ii) दीठा अदीठ करौं। यदि पहला अन्वय लिया जाय तो अर्थ होगा—अदृष्ट परमात्मा की अनुभूति प्राप्त करूँ। यदि दूसरा अन्वय लिया जाय तो अर्थ होगा—दृष्ट को अदृष्ट करूँ अर्थात् इन्द्रियों की विषयोन्मुखता को पलट दूं। मैं अशुद्ध मन को सर्वरूपेण इस प्रकार आहत-क्षत कर दूं कि अदृष्ट परमात्मा की

---

१. हनु०—मन को मारो पटकि के, यु०, वि०—मन को मारूँ पटकि करि। २. ना० प्र०—कूँ। ३. हनु०, वि०—कै०। ४. ना० प्र०—लुणत, हनु०, वि०, यु०—लुनता क्यों। ५.—यु०—या, हनु०, वि०—यह। ६. यु०, वि०—करूँ, हनु०—करो। ७. यु०, वि०—करूँ, हनु०—करो। ८ ना०-प्र०—आपणाँ। ९. यु०, वि०—पर सिर जलौं अँगीठ, हनु०—पर शिर लाव अँगीठ। १०. गुप्त—सिरि जलौं अँगीठ)।

अनुभूति होने लग जाय अथवा जो इन्द्रिय-मार्ग द्वारा मन की विषय-भोग की ओर दौड़ लगाने की प्रवृत्ति है, वह सर्वरूपेण प्रत्यावर्तित हो जाय। यदि मैं अपना सिर रखूं अर्थात् मैं आपापन को पूर्ण रूप से न्योछावर न कर दूं तो फिर मेरे सिर पर अँगीठी पड़े अर्थात् मेरे ऊपर अँगारे दहकाए जाएँ।

सोरठा—मन जानै[1] सब बात, जानत[2] ही औगुन करै।
काहे की कुसलात, कर[3] दीपक कूँवै पड़ै[4] ॥ ७ ॥

व्याख्या—यद्यपि मन उपदेश और परिवेश के प्रभाव से अवगुणों को समझता है, फिर भी वह अवगुण करता है अर्थात् कुमार्ग में प्रवृत्त होता है। यदि हाथ में दीपक लिये हुए भी कोई कुएँ में गिर पड़े तो फिर उसका क्या कुशल ?

टिप्पणी—इस साखी में एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित है। समस्या यह है कि यदि मन यह जानता है कि कोई वस्तु अनुपादेय है, अनिष्ट है तो फिर उसकी ओर प्रवृत्त क्यों होता है ? इसी समस्या को भगवद्गीता में अर्जुन ने भगवान कृष्ण के सम्मुख रखा था:—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ (३।३६)

'हे कृष्ण ! न चाहते हुए भी पुरुष किसके द्वारा बलपूर्वक प्रेरित होकर पाप करता है ?'

भगवान कृष्ण का उत्तर है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ (३।३७)

'रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही उसे पाप में प्रवृत्त करता है। ये काम और क्रोध सर्वभोगी और महापापी हैं। इनको जीवन का वैरी समझो।'

मन सत्त्व-रजस्-तमस्-युक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही एक रूप है। अशुद्ध मन में रजोगुण का आधिक्य और प्राबल्य होता है। इसीलिए भगवान कृष्ण ने कहा—'रजोगुण समुद्भवः।' इसीलिए वह काम की ओर प्रवृत्त होता है। ज्यों-ज्यों सत्त्व की मात्रा अधिक होती जाती है, त्यों-त्यों मन शुद्ध होता जाता है। मन जानते हुए भी काम की ओर इसीलिए प्रवृत्त होता है, क्योंकि रजोगुण का प्राबल्य उसके सत्त्व को दबाए रहता है। साधना का रहस्य यही कि रजोगुण धीरे-धीरे क्षीण किया जाय और सत्त्व का उद्रेक किया जाय।

अलंकार—वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास।

---

१. ना० प्र०—जाणैं। २. ना० प्र०—जाणँत, हनु०, विचार०—जानि बूझि। ३. हनु०, विचार०, युगला०—लै ४. हनु०, विचार०, युगला०—परै।

हिरदा भीतरि[1] आरसी, मुख देखा नहिं[2] जाइ।
मुख तौ तबहो[3] देखिए, (जे)[4] मन की दुविधा जाइ॥ ८॥

शब्दार्थ—आरसी = दर्पण। देखिए = देख सकता है। दुविधा = दो ओर जाना, डाँवाडोल, चंचलता।

व्याख्या—अपने भीतर ही एक दर्पण है जिसमें आत्मस्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। यह दर्पण मन या चित्त है। मन या चित्त चंचल रहता है अर्थात् जब उसमें दुविधा रहती है,—कभी एक ओर जाता है तो कभी दूसरी ओर—तब उसमें आत्मस्वरूप प्रति-बिम्बित नहीं हो सकता। चित्त प्रकृतिजन्य होने के कारण त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमस्) है। जब उसका सत्त्वगुण रजस् और तमस् से अभिभूत रहता है, तब वह 'क्षिप्त' कहलाता है, वही चित्त सत्त्वगुण और रजोगुण की न्यूनता होने पर जब तमोगुण से अनुविद्ध होता है, तब वह 'मूढ़' कहलाता है और जब वह आवरण स्वभाववाले तमोगुण की क्षीणता से एवं सत्त्वगुण के विकास से रजोगुण के लेशमात्र से अनुविद्ध होता है, तब वह 'विक्षिप्त' कहलाता है। वही चित्त जब रजोगुण के लेशमात्र से भी रहित हो जाता है, तब वह 'एकाग्र' कहलाता है। आत्मस्वरूप केवल 'एकाग्र' अथवा 'निरुद्ध' मन में ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसी तथ्य को कबीर ने इस साखी में प्रतिपादित किया है। साखी का भावार्थ निम्नलिखित है:—

हृदय के भीतर ही दर्पण है, किन्तु फिर भी आत्मस्वरूप के सुन्दर मुख को देखा नहीं जा सकता। वह मुख तो तभी देखा जा सकता है, जब चित्त अथवा मन की चंच-लता समाप्त हो जाय।

अलंकार—विशेषोक्ति।

मन दीयां[5] मन पाइए, मन बिन मन[6] नहिं होइ।
मन उनमन उस[7] अंड ज्यों, अनल[8] अकासाँ जोइ॥ ९॥

भूमिका—इस साखी में तीन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—(१) पहले चरण में मन को दो अर्थों में लिया गया है—(क) मनुष्य का साधारण मन, (ख) उच्च-स्तरीय 'वह मन' (उन्मन) अर्थात् भागवती चेतना (Divine mind), (२) दूसरे चरण में जो 'उन्मन' शब्द आया है, वह 'उद्गतं मनः यस्यां अवस्थायां' के अर्थ में योग-शास्त्र में प्रयुक्त होता है। इसका भाव यह है कि मन के कई स्तर होते हैं—एक तो मानव का सामान्य मन होता है, जो विषयों की ओर प्रवृत्त रहता है, दूसरा 'उन्मन' अथवा उद्गत मन या उच्चस्तरीय मन होता है, जो कि दिव्य है। वह विषयों में अनुरक्त

---

१. हनु०—हृदया भीतर। २. ना० प्र०—देपणाँ न। ३. ना० प्र०—तौपरि। ४. हनु०—'जे' नहीं है। ५. हनु०—दीये, वि०—दीजै। ६. हनु० विचार०—मान। ७. हनु०, वि०—ता अंड ज्यौं। ८. हनु०, वि०—अलल।

नहीं होता। कबीर ने संस्कृत के 'उद्गत मन' के अर्थ में 'उन्मन' को न लेकर इसी अवस्था को अपने ढंग से 'उन्मन' शब्द द्वारा उनके मन अर्थात् 'भागवत मन' के लिए प्रयुक्त किया है। दोनों भावों में कोई अन्तर नहीं हैं, केवल व्युत्पत्ति में अन्तर है। (३) तीसरी बात यह है कि यहाँ 'अनल' शब्द का अर्थ 'अग्नि' या विद्युत् नहीं है। अग्नि या विद्युत् की संगति 'उस अंड' से बिल्कुल नहीं बैठती। 'अनल' शब्द 'अनलपक्ष' का संकेतक है। 'अनलपक्ष' उस चिड़िया को कहते हैं जो सदा आकाश में उड़ा करती है और वहीं अंडा देती है। इसका अंडा पृथ्वी पर गिरने से पहले पककर फूट जाता है और बच्चा अंडे से निकलकर उड़ता हुआ अपने माँ-बाप से जा मिलता है। (हिन्दी शब्द-सागर भाग—१, पृष्ठ १९२) कहीं-कहीं 'अनल' का विकृत पाठ 'अलल' भी मिलता है। यही पाठ 'हनु०' और 'वि०' में भी मिलता है।

दूसरे चरण का अन्वय इस प्रकार होगा—

'मन उनमन उस अंड ज्यों, जोइ अकासाँ अनल'

शब्दार्थ—उनमन = उनका मन, भागवती चेतना, दिव्य मन। अनल = अनल पक्षी। अकासाँ = आकाश में। जोइ = जो।

व्याख्या—पहले चरण में एक तथ्य को दो प्रकार से कहा गया है—पूर्वार्ध में सकारात्मक ढंग से और उत्तरार्ध में नकारात्मक ढंग से। अपना मन प्रभु को समर्पित करने से ही 'उनका मन' अर्थात् भागवती चेतना की प्राप्ति होती है। बिना इस मन को समर्पित किए—'मन बिन', वह मन नहीं प्राप्त हो सकता—'मन नहिं होइ।'

जब मन उनके मन में लीन हो जाता है अर्थात् भागवती चेतना में रूपान्तरित हो जाता है, तब वह आकाश में उड़नेवाले अनल पक्षी के उस अंडे के समान हो जाता है, जो धरती पर नहीं गिरता, आकाश में ही उससे बच्चा निकलकर ऊपर उड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि मन प्रभु के मन से मिल जाने पर फिर संसार की ओर प्रवृत्त नहीं होता। वह आकाश की ओर अर्थात् उच्चतर अवस्था की ओर प्रवृत्त होता है।

अलंकार—यमक, उपमा।

मन गोरख मन गोविंद[1], मन ही औघड़[2] होइ।
जो मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ॥ १०॥

शब्दार्थ—गोरख = नाथपंथ के प्रसिद्ध सिद्ध योगी, मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य। औघड़= आहार-विहार में शुचि-अशुचि को समभाव से ग्रहण करनेवाला अघोरपंथी साधु। करता = स्रष्टा।

व्याख्या—मनुष्य के विकास में परमोत्कृष्ट साधन मन है। इसी मन के द्वारा मानव गोरख के समान सिद्ध योगी हो सकता है, परमात्मा के परमपद को प्राप्त कर सकता है

१. ना० प्र०—गोविंदौ, गुप्त—गोव्यंदो। २. औषधि।

और शुचि-अशुचि के द्वन्द्व से भी परे हो सकता है। यदि मन को कोई यत्नपूर्वक नियन्त्रित करे तो वह अपना स्रष्टा बन सकता है अर्थात् वह जीवन में जितना चाहे ऊँचा उठ सकता है।

अलंकार—उल्लेख।

एक दोस्त जो[1] हम किया, जिस गलि[2] लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ[3] मरै, तौ[4] भी रंग न जाइ॥ ११॥

शब्दार्थ—गलि = गले में। कबाइ = (क़बा-अरबी) चोंगा, एक लम्बा ढीला पहनावा।

व्याख्या—'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः'—मन ही मनुष्य के बंधन और और मोक्ष का कारण होता है। निम्नस्तर का अशुद्ध मन बंधन और पतन का कारण होता है। उच्चस्तर का शुद्ध मन मोक्ष और उत्थान का कारण होता है। 'मन को अंग' में कबीर ने दोनों स्तर के मन का वर्णन किया है।

प्रस्तुत साखी में उच्चस्तरीय मन का वर्णन है। इस मन को अपना मित्र बनाने से मानव साधना में प्रगति करता है। कबीर कहते हैं कि हमने शुद्ध उच्चस्तरीय मन को अपना मित्र बनाया है, जिसके गले में लाल क़बा या चोंग़ा पड़ा हुआ है। 'लाल क़बा' में व्यञ्जना यह है कि मन अनुराग से परिपूर्ण है। निम्नस्तरीय मन विषय-प्रवण होता है, उच्चस्तरीय मन स्वभावतः प्रभु-प्रवण होता है। 'लाल' शब्द अनुराग का प्रतीक है।

यह मन ऐसा लाल चोंग़ा पहने हुए हैं कि सारे संसार के धोबी इसे धोते-धोते थक जायँ तो भी इसका रंग छूट नहीं सकता अर्थात् उच्चस्तरीय मन में प्रभु-प्रेम स्वभावतः प्रगाढ़ होता है और वह किसी भी ढंग से कम नहीं हो सकता।

अलंकार—विशेषोक्ति।

पानी हू तैं पातरा,[5] धूंवां हू ते झीन[6]।
पवनाँ[7] बेगि उतावला, सो दोस्त[8] कबीरै कीन॥ १२॥

शब्दार्थ—झीन = सूक्ष्म, झीना। उतावला = त्वरित गतिवाला।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने ऐसा मित्र बनाया जो कि पानी से भी अधिक पतला है, धुआँ से भी अधिक सूक्ष्म है और पवन से भी अधिक त्वरित गतिवाला है। कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि मन अत्यन्त सूक्ष्म और गतिशील है। यदि इसको अपना मित्र बना लिया जाय अर्थात् उसका ठीक प्रकार से उपयोग किया जाय तो वह हमें परमपद तक पहुँचा सकता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. ना०प्र०—न दोसत। २. हनु०—ता गल। ३. हनु०—बहुतक धोबी पचि गए। ४. हनु०—तबहुँ। ५ ना० प्र०—पाणीं ही तैं पातला। ६. ना० प्र०—धूँवाँ ही तैं झींण, हनु०—धूमहु ते अति छीन। ७ हनु०—पवनहु ते। ८ ना० प्र०—दोसत।

कबीर तुरी पलानियाँ[1], चाबुक लीया हाथि।
दिवस थकाँ साँई मिलौं, पीछे पड़िहै राति॥ १३॥

शब्दार्थ—तुरी = घोड़ी। पलान = (सं०—पल्याण) जीन। पलानियाँ = जीन कसना। थकाँ = वीतते-बीतते।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने मन रूपी घोड़े पर एकाग्रता की जीन कस लिया है और संयम रूपी चाबुक हाथ में ले लिया है, जिससे मन रूपी अश्व इधर-उधर न बहके अर्थात् एकाग्रभाव बना रहे।

इस साखी के दूसरे चरण में 'दिवस' जीवन का प्रतीक है और 'राति' मृत्यु का। जीवन रूपी दिवस के रहते हुए मैं मन रूपी अश्व पर चढ़कर अर्थात् मन की एकाग्रता द्वारा प्रभु से मिलना चाहता हूँ, अन्यथा मृत्यु रूपी रात्रि आ जायेगी, तब प्रभु से मिलना सम्भव न होगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मनुवाँ तौ अधर बसा,[2] बहुतक झीनाँ[3] सोइ।
अमरलोक[4] सचु पाइया, कबहुँ न न्यारा होइ[5]॥ १४॥

शब्दार्थ—अधर = जिसका आधार न हो, शून्य, ब्रह्मरन्ध्र। झींनां = सूक्ष्म। सचु = आनन्द।

व्याख्या – साधना से मेरा मन बहुत सूक्ष्म हो गया है। वह अब ब्रह्मरन्ध्र अथवा शून्य में स्थित हो गया है और उसने अमरलोक के सुख को प्राप्त कर लिया है। वह अब कभी भी उस परमपद से पृथक् नहीं हो सकता।

यदि 'आलोकत सचु पाइया' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—प्रभु के दर्शन से उसको सुख प्राप्त होता है।

मन नहिं मारा[6] मन करि, सके[7] न पंच प्रहारि।
सील साँच सरधा नहीं, इन्द्री[8] अजहुँ उघारि॥ १५॥

शब्दार्थ—मन करि=दत्तचित्त होकर, मन लगाकर। पंच = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ। उघारि = खुली हुई।

व्याख्या—मनुष्य ने पूर्ण रूप से दत्तचित्त होकर मन को अभी तक वश में नहीं किया, उसकी चंचलता को दूर न कर सका और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह—इन पाँच शत्रुओं पर प्रहार न कर सका अर्थात् इनको नियन्त्रित न कर

---

१. ना० प्र०—पलाणियाँ। २. तिवारी—अंतरि बसा, हनु०, वि०—अंतर बसा। ३. ना० प्र०—झीणाँ। ४. ना० प्र०—आलोकत, हनु०, वि०—अमरलोक सुचि। ५. ना० प्र०—सोइ। ६. ना० प्र०—न मार्‌या। ७. वि०— सका। ८. वि०—अजहूँ इन्द्रि।

सका। इसलिए उसमें शील, सत्य एवं श्रद्धा के भाव नहीं जाग सके और उसकी इन्द्रियाँ अभी तक विषयों की ओर उघड़ी हुई हैं, खुली हुई हैं, अर्थात् अनियन्त्रित हैं।

कबीर मन बिकरै पड़ा,[1] गया स्वादि के साथि।
गलका[2] खाया बरजताँ, अब क्यौं[3] आवै हाथि॥ १६॥

शब्दार्थ—बिकरै = विकार में, विकारग्रस्त। गलका = गले तक। बरजताँ = मना करने पर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मन विकारग्रस्त हो गया है, उपभोग की कामना के साथ फँस गया है। गले तक का खाया हुआ भोजन मना करने पर भी नीचे उतरेगा ही। वह रोका नहीं जा सकता। उसी प्रकार मन जब विषयों में पूर्ण रूप से लिप्त हो जाता है, तब समझाने पर भी उस पर नियन्त्रण सम्भव नहीं हो पाता।

कबीर मन गाफिल भया, सुमिरन[4] लागै नाँहि।
घनी[5] सहैगा सासनाँ, जम की दरगह माँहि॥ १७॥

शब्दार्थ—सासनाँ = कष्ट। दरगह = (फा०–दरग़ाह) दरबार, राजसभा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि विषयासक्त मन अपने वास्तविक लक्ष्य से च्युत हो गया है। प्रभु-स्मरण की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं है। यम के दरबार में उसको भयंकर कष्ट भोगना पड़ेगा।

कोटि कर्म[6] पल मैं करै,[7] यहु मन विषया[8] स्वादि।
सदगुर सबद न मानई, जनम गँवाया[9] बादि॥ १८॥

शब्दार्थ—सबद = उपदेश। स्वाद = स्वादि में। बादि = व्यर्थ में।

व्याख्या—यह मन विषयों के स्वाद में इस प्रकार लिप्त हो गया है कि एक-एक पल में नाना प्रकार के कर्म कर डालता है। विषयों के आकर्षण के कारण वह सद्गुरु के उपदेश को मानता ही नहीं। अतः उसके कारण व्यर्थ में मानव का जीवन नष्ट हो जाता है।

मैमंता[10] मन मारि ले[11], घटहीं माँहीं घेरि।
जबही चालै पीठि दै, अंकुस[12] दे दे फेरि॥ १९॥

शब्दार्थ—मैमंता = उन्मत्त, मदमत्त (हाथी)।

---

१. वि०—यह मन वीकारै पड़ा, हनु०—कबीर यह मन बिंखरिया, गु०—या मन बिकाराँ परा। २. हनु०, वि०, गु०—गटका। ३. ना० प्र०–क्यूँ। ४. ना० प्र०—सुमिरण। ५. ना० प्र०—घणी। ६. तिवारी—करम। ७. हनु०, गु०—करे पलक में, गुप्त–करम पलक मैं करै। ८. ना० प्र०—त्रिषिया, तिवारी–बिखिया। ९. गु०—गँवावे, हनु०–गमाया। १०. हनु०, वि०—महमन्ता, गु०—मैं ममता। ११. ना० प्र०—रे। १२. हनु०, वि०–आंकुस।

व्याख्या—इस मदमत्त हाथी के समान मन को भीतर ही रोककर वश में कर लो। उसे विषयों की ओर मत जाने दो। जब वह विषयों की ओर जाने लगे तो उसे ज्ञान के अंकुश से वापस कर लो।

अलंकार—रूपक।

मैंमता मन मारि रे,[1] नान्हाँ[2] करि करि पोसि।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै[3] सीसि॥ २०॥

शब्दार्थ—सुन्दरी = (प्र० अ०) जीवात्मा, साधक। ब्रह्म = परमात्म-दर्शन। सीसि = ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर।

व्याख्या—हे जीव! तू इस मदमत्त हाथी के समान मन को वंश में कर। अपनी साधना से तू उसे पीसते-पीसते इतना सूक्ष्म बना दे कि वह ऊपर चढ़कर ब्रह्मरन्ध्र में जा सके। तभी जीवात्मा रूपी सुन्दरी वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर सकती है और ब्रह्मरन्ध्र पर ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित हो सकती है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

कागद केरी नाँव री, पानी[4] केरी[5] गंग।
कहै कबीर कैसे तिरूँ,[6] पंच[7] कुसंगी संग॥ २१॥

शब्दार्थ—गंगा = भवसागर का प्रतीक।

व्याख्या—यदि कोई सरिता जल से लबालब भरी हुई हो और उसे कोई कागज की नाव से पार करना चाहता हो, साथ ही उस नाव में पाँच दुष्ट मनोवृत्तिवाले साथी बैठे हों, जो थोड़ा-सा भी अवसर मिलने पर डुबो देने के लिए तैयार हों, तो फिर कोई उस सरिता को कैसे पार कर सकता है? ठीक इसी प्रकार यह भव-सागर माया रूपी जल से परिपूर्ण है और पंच महाभूतों के भंगुर शरीर की नाव है, साथ ही इस शरीर रूपी नौका के भीतर ही पंचेन्द्रियाँ अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि पाँच दुष्ट साथी नीचे की ओर ढकेलने के अवसर की ताक में बैठे हुए हैं, तो भला इस भव-सागर को कैसे पार किया जा सकता है?

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर यह[8] मन कत[9] गया, जो मन होता काल्हि।
डूँगरि बूठा मेह ज्यूँ,[10] गया निबाँणा[11] चालि॥ २२॥

शब्दार्थ—डूँगरि = टीला या पहाड़ी पर। बूठा = बरसा हुआ। निबाँणाँ = नीची जमीन।

---

१. हनु० वि०—मन मनसा को मारिके। २. तिवारी, हनु०, वि०—नन्हाँ। ३. तिवारी—पदुम झलक्कै, हनु०, वि०—पदुमा झलकै। ४. ना० प्र०—पाँणी। ५. हनु०—भरिया। ६. हनु०—तरै, यु०—तिरै। ७. हनु०—बड़ो। ८. हनु०, यु०—वह, गुप्त-उह। ९. हनु०—कह, यु०—कित। १०. हनु०, वि०—डूँगर बूड़ा मेह ज्यों। ११. हनु०—निमाना, वि०—निवाना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरा यह अस्थिर मन जो कल गुरु-उपदेश से प्रभु की ओर कुछ प्रवृत्त हुआ था, आज किधर चला गया ? इसकी वही दशा है जो पहाड़ी पर बरसे हुए जल की होती है । जैसे वह जल अस्थिर होता है, थोड़ी देर पहाड़ी पर रहकर नीचे की ओर ढुलक जाता है, वैसे ही अस्थिर मन भी सदुपदेश के द्वारा ऊँचाई तक थोड़ी ही देर के लिए जाता है और फिर निम्न इष्टों की ओर फिसल पड़ता है ।

अलंकार—उपमा ।

मृतक कूँ धी जौं नहीं,[१] मेरा मन बी[२] है ।
बाजै बाव विकार की, भी मूवा जीवै[३] ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—मृतक = मरा हुआ । धी = बोध । जौं = ज्यों, जैसे । बी = भी । बाव = वायु ।

व्याख्या—जैसे मरे हुए को अपने विषय में कुछ बोध नहीं रह जाता, वैसे ही मेरे मन की गति है अर्थात् मैंने मन को विषयों से इतना विरत कर लिया है कि वह मृतक के समान हो गया है । उसे अब अपनेपन का भी बोध नहीं है । किन्तु जब विकार रूपी वायु भीतर ध्वनित हो उठता है तो यह मृतक मन भी जी उठता है अर्थात् उसके भीतर वासनाएँ पुनः जग उठती हैं ।

वस्तुतः पुराने संस्कार अथवा वासनाएँ साधना की प्रथम अवस्था में नष्ट नहीं होतीं, केवल प्रसुप्त रहती हैं, क्रियाशील नहीं रहतीं । साधना की उत्कृष्ट अवस्था में ही उन संस्कारों की क्रियाशीलता समाप्त होती है ।

अलंकार—उपमा ।

काटी कूटी माछली[४], छींकै[५] धरी चहोरि[६] ।
कोइ एक अषिर मन बसा,[७] दह में परी बहोरि[८] ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—माछली = (प्र० अ०) मन । छींकै = (प्र० अ०) ब्रह्मरन्ध्र । चहोरि = चढ़ाकर, संभालकर । अषिर = अक्षर (ला० अ०) वासना । दह = ह्रद, तालाब । बहोरि = पुनः

व्याख्या—मैंने मन रूपी मछली को काट-कूटकर अर्थात् संयम द्वारा नियंत्रित करके, बहुत यत्न से छींके के ऊपर रखा था अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र तक चढ़ाकर संभाल लिया था । परन्तु उसमें कोई एक अक्षर अर्थात् वासना प्रसुप्त रूप से बसी हुई थी, जिससे वह मन रूपी मछली पुनः गन्दे तालाब में आ पड़ी अर्थात् वह मन वासना के कारण मलिन विषयों में अवशिष्ट रत हो गया ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

---

१. हनु०—मिरतक को धीरज नहीं । २. हनु०—भी मोह । ३. हनु०—कबहिक जावै सोह । ४. ना० प्र०—मछली, वि०—माछरी । ५. हनु०—सींके । ६. ना० प्र०—चहोड़ि । ७. वि०, यु०—कोइ इक औगुन मन बसा । ८. ना० प्र०—पड़ी बहोड़ि ।

कबीर[1] मन पंखी[2] भया, उड़िकै चढ़ा अकासि[3]।
उहाँ ही तै गिरि पड़ा, मन माया के पासि॥ २५॥

शब्दार्थ—पंखी = पक्षी।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि साधना द्वारा मेरा मन पक्षी के समान उड़कर ऊपर शून्य रूपी आकाश या ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच गया था। किन्तु कोई गुप्त वासना उसमें अवशिष्ट रह गई थी। जिससे पुनः वह वहाँ से गिरकर माया में आ लिपटा।

टिप्पणी—ऊपर की तीन-चार साखियों में कबीर ने इस बात पर बल दिया है कि साधना द्वारा मन को चाहे जितना नियन्त्रित कर लिया जाय, किन्तु उसमें यदि कोई भी गुप्त वासना रह जाती है तो उसका पतन अवश्यंभावी है।

अलंकार—रूपक।

भगति दुवारा साँकरा[4], राई दसएँ[5] भाइ।
मन तौ मैंगंल होइ रहा,[6] क्यूँ करि सकै समाइ॥ २६॥

शब्दार्थ—दुवारा=द्वार। साँकरा=संकीर्ण। भाइ=भाग। मैंगंल=मतवाला हाथी।

व्याख्या—भक्ति का द्वार अत्यंत सँकरा है। वह राई के दसवें भाग के परिमाण का है अर्थात् अत्यंत छोटा है और मन मतवाले हाथी के समान उन्मत्त और वासनाओं के समूह से विशालकाय हो रहा है। भला वह उस सँकरे द्वार में कैसे समा सकता है?

तुलनीयः—

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।

विनय—(पद १६७)

करता था तौ क्यों रहा,[7] अब करि क्यूँ[8] पछताइ।
बोवै पेड़ बबूल का, आम[9] कहाँ तैं खाइ॥ २७॥

व्याख्या—जब तू वासनाओं के वशीभूत होकर कुकर्म करता था, तो क्यों कर रहा था? उस समय क्या तूने उसके परिणाम के विषय में कुछ भी नहीं सोचा था? अब पछताने से क्या होगा? कुकर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा। बबूल का पेड़ लगाकर सरस, मधुर आम कहाँ से खाया जा सकता है? कुकर्म का दुष्परिणाम भोगना ही होगा।

तुलनीयः—

कोउ न काहु सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥

मानस—अरण्यकाण्ड

---

१. हनु०, यु०—मनुवा तौ पक्षी भया। २. ना० प्र०—पंषी। ३. ना० प्र०—बहुतक चढ़्या अकास, यु० वि०—उड़िकै चला अकास, हनु०—उड़िकै गया अकास। ४. ना० प्र० सँकड़ा। ५. ना० प्र०—दसवैं। ६. ना०प्र०—ह्वै रह्यो। ७. ना० प्र०—क्यूँ रह्या। ८. हनु०, युगला०—क्यों। ९. ना०प्र०—अंब।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्—'शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा।

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा।

> काया देवल मन धजा[1], विषय[2] लहरि फहराइ[3]।
> मन चाले[4] देवल चलै, ताका सर्वस[5] जाइ ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—देवल = देवालय। धजा = ध्वजा, पताका।

व्याख्या—मानव का शरीर मन्दिर के समान है और मन ध्वजा के समान है। जैसे ध्वजा वायु के झोंकों से फहराती रहती है, वैसे ही मन विषयों के झोंकों से विचलित होता रहता है। यदि ध्वजा के विचलित होने से देवालय भी विचलित हो जाय, तब तो विनाश अवश्यंभावी है। ठीक इसी प्रकार विषयों की आसक्ति से जब मन विचलित होता है, उसी के साथ तन भी विषयों की ओर प्रवृत्त हो, तब तो सर्वनाश अवश्यंभावी है।

अलंकार—सांगरूपक।

> मना मनोरथ[6] छाड़ि दे, तेरा किया न होइ।
> पांनी मैं घी नीकसै,[7] तौ रूखा[8] खाइ न कोइ ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे मन! तू मनोरथों को छोड़ दे, क्योंकि सभी मनोरथों की पूर्ति तेरे द्वारा नहीं हो सकती। तुझे अपनी परिसीमता का बोध होना चाहिए। संसार में किसी की भी सभी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हो सकतीं। कुछ की पूर्ति तो स्वभावतः ही असम्भव है। यदि पानी के मथने से घी निकल सके तो संसार में कोई भी बिना घी चुपड़े रूखी रोटी न खाये।

अलंकार—दृष्टान्त।

> काया कसौं कमान ज्यौं,[9] पंचतत्व करि बांन[10]।
> मारौं तौ मन मिरिग[11] कौं, नहीं[12] तो मिथ्या जांन[13] ॥ ३० ॥
> —३०२ ॥

व्याख्या—मानव-तन की यही विशेषता है कि केवल उसी के द्वारा आध्यात्मिक साधना सम्भव है। सभी शास्त्रों और सन्तों ने यह बार-बार दुहराया है कि मानव-तन ही परमार्थ की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम साधन है। मानव को दो मुख्य परिदान मिले हुए

---

१. हनु०, यु०—ध्वजा। २. तिवारी—बिखै, ना० प्र०—विषै। ३. गुप्त—फरहराइ। ४. ना० प्र०—चाल्यौं, हनु०, वि०—चलते, युगला०—चलता। ५. तिवारी, हनु०, यु०—सरबस। ६. ना० प्र०—मनह मनोर्थ। ७. ना० प्र०—पाँणी मैं घीव नीकसै। ८. तिवारी, युगला०—लूखा, गुप्त—लूषा। ९. ना०प्र०—कसूँ कमाँण ज्यूँ। १०. ना० प्र०—पंचतत्त करि बाँण, हनु० यु०—पाँच तत्व कर बान। ११. ना० प्र०— मृग कौं, वि०, यु०—मिरगला। १२. तिवारी०—नहितर। १३. ना० प्र०--जाँण।

हैं—एक तो पाँच तत्त्वों से बना हुआ शरीर और दूसरा उसके भीतर सूक्ष्म मन, जो इस शरीर को परिचालित करता रहता है।

साधना का सबसे मुख्य उपयोग मन को वशीभूत करना है। इसी को सन्तों ने 'मन को मारना' कहा है। यह मन मृग के समान है। जैसे मृग उछलता-कूदता इधर-उधर फिरता है, वैसे ही मन चंचल रहता है। जिन पाँच तत्त्वों से मनुष्य का शरीर बना है, उनमें से प्रत्येक इन्द्रिय में एक तत्त्व प्रधान रहता है, जैसे आँख में पावक तत्त्व प्रधान है और बाहर आँख प्रकाश की ओर प्रवृत्त होती है, नाक में गन्ध तत्त्व प्रधान है और बाहर भी वह उसी गन्ध की ओर प्रवृत्त होती है। सारांश यह है कि हमारी इन्द्रियाँ जिन पाँच तत्त्वों से बनी हुई हैं, वे स्वभावतः बाहर भी उन्हीं पाँच तत्त्वों की ओर प्रवृत्त होती हैं।

साधना की विशेषता यही है कि पाँचों इन्द्रियों के मुख्य पाँच तत्त्वों की क्रिया को बाहर से फेरकर अन्तःस्थित परमतत्त्व की ओर उन्मुख कर दे। साधना के पूर्व मन इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के साथ-साथ विषयों की ओर जाता था। इन्द्रियों की पंच तत्त्वों की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रत्यावर्तित करके अन्तर्मुखी करने का परिणाम यह होगा कि उनके साथ मन भी अन्तर्मुखी हो जायगा। यतः मन और इन्द्रियों का अविनाभाव (अवियोज्य सम्बन्ध) है। अतः इन्द्रियों के अन्तर्मुखी होने पर मन भी अन्तर्मुखी हो जायेगा। यही पंचतत्त्वों के बाण से मन को मारना है। इसीलिए कबीर ने कहा है कि—

मैं इस तन को कमान बनाना चाहता हूँ और पाँच तत्त्वों के बाण का उस पर संधान करना चाहता हूँ। उस बाण से मैं यदि इस मन को न मार डालूँ तो समझो कि मेरा जीवन ही व्यर्थ हो गया।

अलंकार—साँगरूपक।

(१४) सूषिम मारग को अंग

कौन[1] देस कँह[2] आइया, जानै कोई नाँहि[3]।
ओहु मारग[4] पावै नहीं, भूलि परे[5] एहि माँहि ॥ १ ॥

शब्दार्थ सूषिम = सूक्ष्म। ओहु मारग=वह ब्रह्म तक पहुँचने का सूक्ष्म मार्ग।

व्याख्या—जीवों के योनियों में भ्रमण अथवा संसरण का मूल कारण 'अविद्या' है। उस अविद्या का परिणाम यह होता है कि जीवात्मा वस्तुत: सच्चिदानन्द होते हुए भी अपने स्वरूप को भूल जाता है। इसीलिए वह जिस योनि में पड़ता है, अविद्या के कारण उसी योनि के देह से उसका तादात्म्य हो जाता है। अपने मूल को भूल जाना ही 'स्व-देश' को भूल जाना है। उसी के लिए कबीर यहाँ कहते हैं—'कौन देश कँह आइया'—हमारा कौन 'स्व-देश' है और हम कहाँ आ गए ? इसे कोई नहीं जानता, क्योंकि सभी जीव अविद्याग्रस्त हैं।

अपनी मूल 'भूल' अर्थात् अविद्या से इस परदेश में-संसार में-जीव आ पड़ा है और अब उस बेचारे को वह 'सूक्ष्म मार्ग' नहीं मिल पा रहा है, जिससे वह 'स्व-देश' को लौट सके अर्थात् जिससे वह ब्रह्म अथवा अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा कर सके।

उततैं[6] कोई न आवई[7], जासौं[8] बूझौं[9] धाइ।
इतते सब कोइ जात है,[10] भार लदाइ लदाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—उततैं = वहाँ से। भार=कर्मों का भार।

व्याख्या—उस देश से कोई जीव स्वदेश की स्मृति लिये हुए यहाँ नहीं आता जिससे दौड़कर मैं उसका हाल पूछूँ। केवल इस देश से सभी लोग कर्मों का भार अपने ऊपर लदाकर जा रहे हैं। इसीलिए जहाँ से जीव आया है, वहाँ का वास्तविक संदेश किसी को नहीं मिलता।

सबकौं[11] बूझत मैं फिरौं[12], रहनि[13] कहै नाँहि[14] कोय।
प्रीति न जोड़े[15] राम सौं[16], रहनि[17] कहाँ तैं[18] होय ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—रहनि=रहने का ढंग।

---

१. ना० प्र०—कौण २. ना० प्र०—कहाँ। ३. ना० प्र०—कहु क्यूँ जाण्यां जाइ। ४. ना० प्र०—उहु मार्ग, हनु०. वि०, यु०—वह मारग। ५ ना० प्र०—पड़े इस, हनु०. वि०—परे जग। ६. ना० प्र०—उतीथैं। ७. ति०—आइया, यु०—बाहुरा। ८. ना० प्र०—जाकूँ। ९. ति०, हनु०—पूछौं, वि०-जासों बूझूँ, यु०—जाको बूझूँ। १०. ना० प्र०—इतथैं सबै पठाइये, तिवारी०—इततैं सब कोई गए। ११ ना० प्र०—सबकूँ, अन्य—सबको पूछत। १२. ति०—फिरूँ यु०—वि०—फिरा। १३. ना० प्र०—रहण। १४. ना० प्र०—नहीं। १५. यु०—जोरैं, ना० प्र०—जोड़ी। १६. ना० प्र०—सूँ, यु०—से। १७. ना० प्र०—रहण। १८. ना० प्र०—थै।

व्याख्या—इस साखी में 'रहनि' शब्द में एक विचित्र व्यञ्जना है। अपने स्वरूप को जानते हुए अंश का अंशी से सम्बन्ध जोड़े हुए जीवन-यापन करना 'रहनि' है। उस सम्बन्ध को न जानकर अपने स्वरूप को न पहचानते हुए जीवन-यापन करना केवल जीना है, श्वास लेना है। कबीर कहते हैं कि मैं सबसे पूछता फिरता हूँ, परन्तु 'रहनि' का ढंग हमें कोई नहीं बताता और बिना उसके यह जीवन एक स्वप्नाचारी (Somnambulist) के भ्रमण के समान है। उसे अपने अमरत्व और शाश्वत जीवन की स्थिति का पता ही नहीं है।

यह स्वल्पांश अपने अंशी से जब तक प्रेम का सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तब तक वास्तविक 'रहनि' अर्थात् अपने अमरत्व के अनुभव के साथ जीवन कैसे सम्भव है ? प्रेम ही वह सूत्र है जो अंश को अंशी से जोड़ता है। अविद्या अंश को अंशी से पृथक् कर देती है। यदि कोई ऐसा तत्त्व है जो पुनः अंश को अंशी से जोड़ सकता है, तो वह है—प्रेम ! प्रभु से प्रेम होने पर इस संसार में रहते हुए भी जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है। यही उसकी सच्ची 'रहनि' है।

अलंकार—विनोक्ति।

चलौ चलौ[1] सब कोइ[2] कहै, मोंहि अँदेसा और।
साहिब सौं[3] पर्चा[4] नहीं, पहुँचेंगे[5] किस ठौर ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अँदेसा=संदेह, भय। पर्चा=परिचय।

व्याख्या—मानव जीवन की सबसे दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना यही है कि अपने भीतर भागवत-तत्त्व होते हुए भी वह अविद्यावश यह समझता है कि देह-प्राण-मानसोपहित पिंड ही वास्तविक 'मैं' हूँ। उसे जो उपदेश भी मिलते हैं, वे उसी प्रकार के होते हैं कि तत्त्व कहीं और है, जहाँ मानव को जाना है। कबीर कहते हैं कि वहाँ तक जाने की बात तो सभी करते हैं, परन्तु मुझे भय है कि वह कहाँ है और कौन है ? जब तक इसका परिचय ही नहीं; तब तक हम कहाँ जाएँगे ? सच बात तो यह है कि सत्य अथवा परमार्थ साध्य नहीं है, उत्पाद्य नहीं है। यदि वह साध्य और उत्पाद्य होता तो चिरन्तन नहीं हो सकता। वह सर्वदा सिद्ध है। यदि यह समझ हो जाय तो कहीं जाना नहीं है, केवल उस अहंकार रूपी परदे को फाड़ फेंकना है जो जीव और उस सनातन सत्य के बीच में पड़ा हुआ है।

जाने[6] का जागह[7] नहीं, रहिबे कौं[8] नहिं ठौर।
कहै कबीरा संत हौ, अविगत की गति और ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—जागह=स्थान। अविगत=अज्ञात। गति=(१) रहस्य, मर्म, (२) जाने और जानने की क्रिया। और=विचित्र, अन्य।

१.—तिवारी, वि०, यु०— चलन चलन २. ना० प्र०--को, हनु०—सब कहत है। ३. ना० प्र०—सूँ, ४. तिवारी—परचै, हनु०, यु०—सो परिचय। ५. ना० प्र०—ए जाँहिगे, ति०, हनु०—बैठेंगे। ६. ना० प्र०—जाइबे को जागा नहीं, त्रि०—जानै की तो गम नहीं। ७. गुप्त—जाइगह। ८. हनु०, वि०—रहने को।

व्याख्या—यद्यपि परमार्थ या वास्तविक तत्त्व अपने भीतर विद्यमान है, वह सिद्ध है, साध्य नहीं है तथा अविद्या के कारण देह से जो तादात्म्य है और मिथ्या अहंकार का साम्राज्य है, वह काल्पनिक नहीं है। वह एक कठोर तथ्य है। उसी का विगलन साधना का मार्ग है और जो चलने या जाने की बात है, वह इसी साधना के लिए है। परन्तु इस साधना का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है। इसीलिए कबीर ने इसका शीर्षक 'सूषिम मारग' रखा है। उनका कहना है कि साधारणतः लोग प्रभु की ओर जाने की बात करते हैं, किन्तु उनको यह पता नहीं है कि यह जाना सरल नहीं है। इस ओर जाने के लिएँ कोई खुला मार्ग नहीं है। वह मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है और वहाँ पहुँचने पर भी स्थिर रहने का ठिकाना नहीं है, बड़े-बड़े साधकों के भी पैर फिसल जाते हैं। कबीर कहते हैं कि हे संतो ! उस अज्ञात की ओर जाने की क्रिया और उसका मर्म कुछ और ही है।

'और' में इस बात का संकेत है कि जीवन में जिन साधनों के द्वारा 'गति' होती है अर्थात् जिन साधनों के द्वारा हम जाते हैं या जानते हैं, उनमें से परम के साक्षात्कार के लिए कोई भी साधन सक्षम नहीं है। उसका न तो इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है, न मन के द्वारा उसे जान सकते हैं, क्योंकि मन स्वभावतः संकल्प-विकल्पात्मक होता है और वह निर्विकल्प है। स्थूल दृष्टि से जिसे गमन कहते हैं, वह भी वहाँ तक सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सदा हमारे भीतर विद्यमान है। इसलिए उससे परिचय प्राप्त करने के लिए मार्ग ही और है।

अलंकार—(१) सभी गत्यर्थक धातुएँ बोधार्थक भी होती हैं। इसीलिए यहाँ 'गति' में जाने और जानने का श्लेष है।

(२) भेदकातिशयोक्ति।

कबीर मारग[1] कठिन है, कोई सकै नहिं[2] जाइ।
गए ते बहुरे[3] नहीं, कुसल कहै को आइ ॥ ६ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्राप्ति का मार्ग बहुत कठिन है। उस मार्ग से साधारण जन नहीं जा सकते। जो वहाँ तक पहुँच गये हैं, वे वापस नहीं आए अर्थात् वे आवागमन से मुक्त हो गये। अतः उस मार्ग की सुख-सुविधा या दुर्गमता का वर्णन कौन करे ?

अलंकार—'कुसल कहै को आइ' में काकु वक्रोक्ति।

जन कबीर का सिषर घर,[4] बाट सलैली सैल[5]।
पाव न टिकै पिपीलका,[6] लोगनि[7] लादे बैल ॥ ७ ॥

---

१. ना० प्र०—मारिग। २. ना० प्र०—न सकई। ३. ना० प्र०—बहुड़े। ४.—ति०—कबीर का घर सिखर पर, हनु०—यु०—कबीर का घर सिखर है। ५. ति०,यु०—जहाँ सिलहली गैल, हनु०—जहाँ सिलसिली गैल। ६. ना० प्र०—पपीलिका। ७. यु०,हनु०—पंडित।

शब्दार्थ—जन=भक्त,दास सिषर= शून्य शिखर, ब्रह्मरन्ध्र। बाट=मार्ग। सलैली=रपटीली। पिपीलका=चींटी। सैल=पर्वत।

व्याख्या—भक्त कबीर का वासस्थान शून्य-शिखर है। वहाँ तक का पहाड़ी मार्ग बहुत रपटीला है। इसमें सद्गुरु ने इस बात का संकेत किया है कि सुषुम्ना मार्ग से चक्रों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचना अत्यंत कठिन है। बहुत से साधक ऊपर के एक दो चक्र भेदकर फिर नीचे फिसल आते हैं। कबीर ने इन साधकों की तुलना चींटी से की है। ऐसे रपटीले और पर्वतीय मार्ग पर धीरे-धीरे चींटी की गति से चलनेवाले साधकों का भी पैर नही टिकता अर्थात् वे भी ऊपर नहीं जा पाते, तो भला जो लोग अपने मन रूपी बैल को कर्मों और वासनाओं के बोझ से लादे हुए हैं, वे वहाँ तक कैसे पहुँच सकते हैं ?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जहाँ न चींटी[1] चढ़ि सकै, राई ना[2] ठहराइ।
मन[3] पवना[4] की गमि नहीं, तहाँ पहूँचे[5] जाइ॥ ८॥

शब्दार्थ—गमि=गति, पहुँच।

व्याख्या—इस साखी में 'जहाँ न चींटी चढ़ि सकै' द्वारा गन्तव्य स्थान की दुर्गमता का संकेत किया गया है और 'राई ना ठहराय' उस स्थान की सूक्ष्मता का बोधक है। 'मन पवना की गमि नहीं' के द्वारा यह संकेत किया गया है कि वह स्थान मन और प्राण की पहुँच के बाहर है।

कबीर कहते हैं कि जो पद इतना दुर्गम हैं कि चींटी के समान सँभालकर नपी-तुली गति से चलनेवाला साधक भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकता, जो इतना सूक्ष्म है कि वहाँ राई के लिए भी स्थान नहीं है, जो संकल्प-विकल्पात्मक मन से परे है और जो प्राणों के आयाम से भी परे है, उस पद तक मैं पहुँच गया हूँ।

तुलनीय—

जहि वण पवण ण संचरइ, रबि ससि णाह पवेस।
तहि बढ़ चित्त बिमाम करु, सरहें कहिअ उएसु॥
(सरहपा-दोहाकोष, पृ०२०)

अलंकार—सम्बंधातिशयोक्ति।

कबीर मारग कठिन[6] है, मुनि जन बैठे थाकि[7]।
तहाँ कबीरा चलि[8] गया, गहि सतगुर की साषि[9]॥ ९॥

शब्दार्थ—थाकि=थककर, हारकर। साषि=साक्ष्य।

---

१. ति०, वि०—चिउँटी। २. हनु०—नहिं। ३. यु०--हनु०—वि०—मनुवा तहाँ ले राखिया, सोई पहुँचा जाइ। ४. ना० प्र० —पवन का। ५. ति० —पहूँचा। ६.—ना० प्र०–अगम। ७. यु०—सब मुनि बैठे थाक, वि०—रिषि मुनिं बैठे थाक, हनु०–मुनि जन बैठे द्वार। ८. हनु०, वि०, यु०—चढ़ि। ९. हनु०—सतगुर मै कनहार।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग अत्यंत कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी उस मार्ग पर चलने में थककर, हार मानकर बीच में ही बैठ गए। परन्तु सद्‌गुरु ने अपने अनुभव का जो साक्ष्य मुझे दिया अर्थात् यह बतलाया कि इस साधना द्वारा मैंने उस पद का साक्षात्कार कर लिया है, उसके बल पर मैं भी वहाँ तक पहुँच गया।

सुर नर थाके मुनि जनाँ, जहाँ[1] न कोई जाइ।
मोटे भाग कबीर के,[2] तहाँ रहे[3] घर छाइ[4] ॥ १० ॥
—३१२ ॥

शब्दार्थ—मोटे=बड़े।

व्याख्या—ब्रह्म-प्राप्ति का पद इतना दुर्गम है कि देवता, साधारण मनुष्य और मुनि सभी बीच में ही थककर, हार मानकर बैठ जाते हैं और वहाँ तक कोई नहीं पहुँच पाता है। कबीर के बड़े भाग्य हैं कि वह वहाँ तक पहुँच कर स्थायी रूप से निवास कर रहा है अर्थात् उनकी आत्मस्वरूप में पूर्ण स्थिति हो गई है।

●

१. हनु०, वि०, यु०—जहाँ। २. हनु०, वि०, यु०—मोटा भाग कबीर का। ३. अन्य—रहा। ४. वि०—कौ लाय।

(१५) सूषिम जनम को अंग

इस अंग में 'सूषिम जनम' से कबीर का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जन्म दो प्रकार से होता है—(१) स्थूल, शारीरिक जन्म, जो कि माता के गर्भ से होता है। (२) सूक्ष्म, आध्यात्मिक जन्म जो साधना के द्वारा होता है। निम्न साखियों में इसी सूक्ष्म जन्म का वर्णन है।

कबीर[1] सूषिम[2] सुरति का, जीव न जानैं[3] जाल।
कहै कबीरा दूरि कर[4], आतम अदिष्ट[5] काल॥ १॥

शब्दार्थ—सुरति = चित्त का वह अवधान (Attention) जिससे साधक अनाहत नाद को सुनता रहता है और वह सुमिरन जिससे वह प्रभु का प्रेम-रस पीता रहता है। जाल = दाँव-पेंच, कौशल।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सूक्ष्म सुरति में वह कौशल है जिसके द्वारा साधक सरलता से प्रभु तक पहुँच सकता है। 'सूक्ष्म' कहने का तात्पर्य यह है कि वह सर्वथा आन्तरिक सुमिरन है, स्थूल जप नहीं है। बेचारा जीव उसके इस कौशल को नहीं जानता है। यदि वह उसके कौशल को जान जाय तो सूक्ष्म सुरति का ऐसा प्रभाव है कि वह अपने अदृष्ट और काल (संहारक शक्ति) दोनों पर विजय प्राप्त कर सकता है। कबीर कहते हैं कि हे जीव! उसे जानकर तू अपने अदृष्ट और काल को दूर भगा।

टिप्पणी—(१) इस व्याख्या में 'आतम' का अर्थ 'अपना' लिया गया है। यदि 'आतम' का अर्थ 'आत्मा' लिया जाय तो उसे सम्बोधन के रूप में लेना होगा और तब उसका अर्थ होगा—हे आत्मा! तू अपने अदृष्ट और काल को दूर कर। किन्तु यह अर्थ उपादेय नहीं है, क्योंकि आत्मा तो स्वरूप से ही अदृष्ट और काल से परे है, केवल जीव अदृष्ट और काल के वश में है।

(२) 'अदिष्टि' पाठ शुद्ध नहीं है, क्योंकि उसका अर्थ हो जायेगा—जिसके दृष्टि नहीं है अर्थात् अंधा। यह अर्थ यहाँ कदापि नहीं लिया जा सकता। जिन लोगों ने 'अदिष्टि' पाठ रखा है, उन्होंने भी उसका अर्थ 'अदृष्ट' ही किया है। वस्तुतः यहाँ पर 'अदृष्ट' पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ होता है—अपने कर्मों का वह फल जो देखा नहीं जा सकता—अपना भाग्य।

---

१. हनु०, वि०, यु०—सूक्ष्म सुरति का मरम है। २. ति०—सूखिम। ३. ना० प्र०—जाणैं, अन्य—जानत। ४. ना० प्र०—करि। ५. ना० प्र०—अदिष्टि, हनु०, वि०; युगला०—आदिष्टि।

प्रांन पिंड[1] कौं तजि चलै[2], मुवा कहै सब कोइ।
जीव अछत[3] जाँमैं मरै, सूषिम[4] लखै न कोइ॥ २॥
—३१४॥

शब्दार्थ—पिंड=शरीर। जाँमै=जिसमें। अछत=अक्षत, रहते हुए।

व्याख्या—जब प्राण शरीर को छोड़कर चलता है, तब सभी उस व्यक्ति को मृत कहते हैं। इस स्थूल मृत्यु को सभी जानते हैं। परन्तु उस सूक्ष्म मृत्यु को, जिसमें प्राण रहते हुए व्यक्ति मृत हो जाता है, कोई नहीं देख पाता। यह सूक्ष्म मृत्यु माया, वासना और निम्न प्रवृत्तियों का विनाश है।

टिप्पणी—कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता से योग की व्याख्या बताते हुए कहा है :—

योगः प्रभवाप्ययौ अर्थात् योग एक साथ ही प्रभव और अप्यय अर्थात् जन्म और मरण दोनों है। वासनाओं और निम्न प्रवृत्तियों का विनाश मरण है और 'स्व-रूप' में स्थित हो जाना जन्म है। इस साखी में भी जीवन्मुक्तावस्था का वर्णन किया गया है।

कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

ऊँचा तरुवर गगन फल, बिरला पंछी खाय।
वा फल को तो सोंई चखै, (जो) जीवत ही मरि जाइ॥

अलंकार—विरोधाभास।

१. ना० प्र०—प्रौंण पंड। २. वि०, हनु० ति०—चला। ३. ना० प्र०—छताँ। ४. तिवारी—सुखिम।

(१६) माया को अंग

सामान्यतया माया आवरण और विक्षेप करनेवाली शक्ति मानी गयी है। किन्तु कबीर ने माया को विशेष रूप से मोहक और आकर्षक शक्ति के रूप में लिया है, जिससे वह जीव को सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट करके उन्हीं में फँसाए रहती है।

जग हटबारा[1] स्वाद ठग, माया बेसाँ[2] लाइ।
रामचरन नीका गहो,[3] जनि जा[4] जनम ठगाइ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—हटवारा = हाट, बाजार। बेसाँ = वेश्या। लाइ = लगाकर। नीका = अच्छी तरह।

व्याख्या—यह संसार एक बाजार है। इसमें दो बहकानेवाले हैं—एक तो स्वाद रूपी ठग और दूसरे माया रूपी वेश्या। 'स्वाद' में विषयों के प्रति रति की व्यञ्जना है और माया वेश्या है अर्थात् वह अपने रूप, हाव-भाव आदि प्रलोभनों द्वारा जीवों को फँसानेवाली है। बाजार कर्मक्षेत्र का प्रतीक है। यह संसार व्यवहार की, कर्म की भूमि है। यहाँ लेन-देन का सौदा चलता रहता है। परन्तु जैसे बाजार में ठग अपनी ताक में रहते हैं और वेश्याएँ अपने हाव-भाव से लोगों को लुभाने में लगी रहती हैं; जिससे बेचारा ग्राहक ठगा जाता है अथवा वेश्या के आकर्षण में फँस जाता है, उसी प्रकार विषयों के स्वाद जीव को अपने लक्ष्य से विमुख कर ठग लेते हैं और माया अपने प्रलोभनों से उसे अपने परम लक्ष्य से विमुख कर देती है। कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू राम के चरण को अच्छी तरह पकड़ कर उनकी शरण में जा, जिससे तेरा जन्म ठगा न जाय।

अलंकार—साँगरूपक।

कबीर माया पापिनी[5], फंद ले बैठी हाटि[6]।
सब जग तौ फन्दे परा[7], गया कबीरा काटि[8] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पापिनी = पाप में ले जानेवाली, दुष्टा। फंद = फंदा, पाश। हाटि = बाजार में। काटि = काटकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि पाप में ले जानेवाली माया इस संसार रूपी बाजार में फंदा लिये बैठी है। संसार के सारे लोग उसी पाश में फँस गये। केवल कबीर

---

१. ना० प्र०—हटवाड़ा। २. हनु०, युगला०—वेश्या। ३. हनु०, युगला०—राम नाम गाढ़ा गहो। ४. ना० प्र०—जिनि जाय, युगला०—जनि जाहु। ५. ना० प्र०—पापणीं। ६. हनु, वि०—हाट। ७. ना० प्र०—फंधै पड़्या, तिवारी—फँदे फँदिया। ८. हनु०, वि०—काट।

(प्रभु-शरण से) उस फंदे को काटकर निकल गया अर्थात् उसके प्रलोभन से बच गया और परमार्थ को प्राप्त कर लिया ।

अलंकार—व्यतिरेक ।

> कबीर माया पापिनी[1], लालै[2] लाया लोग ।
> पूरी किनहुँ न भोगई[3], इनका इहै बिजोग[4] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—लालै = लालसा, तृष्णा ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया अद्भुत पाप में फँसानेवाली है । उसने लोगों को नाना प्रकार की लालसाओं में आकृष्ट कर रखा है । कोई भी उसका पूर्ण रूप से भोग नहीं कर सकता । वह एक की होकर नहीं रह सकती, क्योंकि वह वेश्या है । लोगों का यही विचित्र वियोग है ।

टिप्पणी—भाव यह कि विषय-भोग में मन और पदार्थ का संयोग रहता है । किन्तु भोग के अनन्तर मन को विषय से वियुक्त होना पड़ता है । यह वियोग भोग के क्षणिकत्व का द्योतक है । जीव पुनः उसका स्वाद लेना चाहता है और भोग के अनन्तर फिर वियोग होता है । यह क्षणिकत्व ही ध्वनित करता है कि सांसारिक सुख, सुख नहीं हैं; वियोग का दुःख है, विषय-भोग में यह वियोग अवश्यंभावी है । वास्तविक सुख शाश्वत है और वह केवल परमार्थ में है । इसी भाव को गीता में बहुत स्पष्ट रूप से इस प्रकार व्यक्त किया है—

> ए हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ (५।२२)

'हे कुन्तीपुत्र ! विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले सभी भोग सुख के नहीं, दुःख के ही स्रोत हैं, क्योंकि उनका आदि और अन्त है और जिनका आदि और अन्त है, वे वास्तविक सुख नहीं हैं । इसलिए कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उनमें रमण नहीं करता ।

अलंकार—(१) 'माया पापिनी' में मानवीकरण । (२) दूसरे चरण में काव्यलिंग ।

> कबीर माया पापिनी[5], हरि सौं[6] करै हराम ।
> मुखि[7] कड़ियाली कुमति[8] की, कहन[9] न देई राम ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—हराम = विमुख । कड़ियाली = कड़ी, लगाम ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीव को पाप में फँसाने वाली दुष्टा माया, उसे प्रभु से विमुख कर देती है और अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । वह मुख में दुर्बुद्धि की

---

१. ना० प्र०—पापणीं । २. हनु, वि०—लोभ भुलाया । ३. हनु०, वि०—भोगिया । ४ हनु० वि०-यु०— यही वियोग । ५. ना० प्र०—पापणीं । ६. ना० प्र०—सूँ, हनु०-वि०—सौं । ७. अन्य—मुख । ८. हनु०, वि०-यु०—कुबुधि । ९. ना० प्र०—कहण ।

लगाम लगा देती है और रामनाम का उच्चारण नहीं करने देती है। वह अपने मोहक रूप से जीवों को अपनी ओर आकृष्ट करके प्रभु को भुलवा देती है।

अलंकार—रूपक, मानवीकरण।

जानौं[1] जे हरि कौं भजौं, यो मनि मोटी आस।
हरि बिचि घालै[2] अन्तरा, माया बड़ी बिसास[3] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—जे=यदि। मनि = मन में। आस=आशा, तृष्णा। घालै=डारै, डालती है। बिसास=(ला० अ०) कपटी, छली।

व्याख्या—माया अपनी मोहक शक्ति से विषयों की ओर आकृष्ट करती है और परमार्थ से वियुक्त कर देती है। इस कारण मैं हरि को नहीं जान पाता। यदि जान सकूँ तो उसका भजन करूँ। मेरे मन में बड़ी आशा लगी है। परन्तु माया विश्वासघातिनी है। वह मेरे और प्रभु के बीच में व्यवधान डाल देती है। इसलिए मैं हरि का भजन नहीं कर पाता।

इस साखी का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—सामान्यतया मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मैं भगवान का भक्त हूँ, किन्तु मेरे मन में विपुल वासनाएँ और तृष्णाएँ स्थित हैं। वे माया की ही रूप हैं। वह (माया) मेरे और प्रभु के बीच में अन्तर डाल देती है। यह माया बड़ी कपटी है।

कबीर माया मोहिनी[4], मोहे जाँन सुजाँन[5]।
भागेहू छूटै नहीं[6], भरि-भरि मारै बाँन[7] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—सुजाँन=चतुर, ज्ञानी।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया में विचित्र आकर्षण शक्ति है। श्रेष्ठ ज्ञानी भी उससे मोहित हो जाते हैं। उससे भागने पर भी छुटकारा नहीं मिलता, क्योंकि वह आकर्षण के बाणों का तीव्र प्रहार किया करती है।

इस अर्थ में 'सुजाँन' को 'जाँन' का विशेषण लिया गया है। यदि दोनों को अलग-अलग संज्ञापद मानें तो अर्थ होगा—चतुर और ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं।

अलंकार—(१) 'भागेहू छूटै नहीं' में विशेषोक्ति। (२) मानवीकरण।

कबीर माया मोहिनी[8], जैसी मीठी खांड़।
सतगुर की किरपा[9] भई, नहीं तौ[10] करती भांड़ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—भाँड़=विनाश, बरबादी।

---

१. ना० प्र०—जाणौं, हनु०—मैं जाना हरि सों मिलूँ, यु०—मैं जानौं हरि सों मिलो। २. हनु०-यु०—वि०—डारै। ३. हनु०, वि०—यु०—पिंसाच। ४. ना०प्र०—मोहनी। ५. ना० प्र०—जाणं सुजांण। ६. ना० प्र०—भागाँ ही छूटै नहीं, ति०—भागाँ हूँ छाड़ै नहीं। ७. ना० प्र०—बाँण। ८. ना० प्र०—मोहनी, गुप्त—मोहणीं। ९. ना० प्र०—कृपा। १०. यु०—वि०—नातर, गुप्त—नहीं तर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया में विचित्र आकर्षण शक्ति है, जिसके द्वारा जीव विषयों को मधुर समझकर उनकी ओर आकृष्ट होता है। मैं भी उसके प्रलोभन में आ जाता। किन्तु सतगुरु की कृपा हो गई जिससे मैं बच गया, अन्यथा वह मेरा भी पूर्ण विनाश कर देती।

अलंकार—उपमा।

कबीर माया मोहिनी[1], सब जग घाला घानि[2]।
कोइ एक जन ऊबरै[3], जिनि[4] तोड़ी कुल कानि[5] ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—घाला = डाल दिया। घानि=घानी। कानि = मर्यादा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया में एक विचित्र आकर्षण शक्ति है। उसने सबको भव की घानी में पेर डाला है, केवल वही उसके चंगुल से बच सकते हैं, जिन्होंने लौकिक परम्पराओं और मर्यादाओं के बंधन को तोड़कर सत्य के सुन्दर मुख को देखा है।

कबीर माया मोहिनी[6], माँगी मिलै न हाथि[7]।
मना[8] उतारी झूठ[9] करि, (तब[10]) लागी डोलै साथि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—मिलै न हाथि = हाथ पर नहीं आती, वश में नहीं होती। मना = मन से।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया ऐसी मोहिनी है जो कि अनुनय-विनय करने पर हाथ में नहीं आती अर्थात् वह हमारे वश में नहीं होती। उससे अनुनय-विनय का भाव है—उसमें रत रहना। उस मोहिनी की यही विशेषता है कि जो उसकी ओर आकृष्ट होता है, वह उसी के वश में हो जाता है, उसका अनुचर होकर रहता है, वह स्वयं उसके वश में नहीं आती। परन्तु जब वह उसको असत्य समझकर अपने चित्त से अलग कर देता है अर्थात् उससे विरत हो जाता है, तब वह स्वयं अनुचर की भाँति उसके पीछे-पीछे लगी फिरती है।

अलंकार—विरोधाभास।

माया दासी संत[11] की, ऊभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं[12] छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ॥ १० ॥

शब्दार्थ—ऊभी = खड़ी हुई। लातौं छड़ी = ठुकरा दी गयी।

व्याख्या—प्राकृत जन माया के दास होते हैं। वे उसकी मोहक शक्ति के कारण सदा उसके वश में रहते हैं। किन्तु सन्त उसके दास नहीं होते। वह स्वयं सन्त की

१. ना० प्र०-मोहनी, गुप्त-मोहणीं। २. ना० प्र०-घाल्या घाँणि। ३. हनु०, वि०-साधू ऊबरा। ४. हनु०, त्रि०—यु०—'जिनि' नहीं है। ५. ना० प्र०—काँणि। ६. ना० प्र०—मोहनी। ७. वि०—हाथ। ८. ना० प्र०—मनह। ९. त्रि०—जूठ करू। १०. त्रि०—में 'तब' नहीं हैं। ११. हनु०—दास, यु०—वि०—साधु। १२. त्रि०—यु०—लाते, ति०—लातौं।

दासी हो जाती है और एक आश्रित सेविका की भाँति खड़ी-खड़ी आशीर्वाद देती रहती है अर्थात् जय मनाती रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कोई दासी अपने प्रभु के सामने सदा हाथ पसारे हुए उसके आदेशों के संकेत की ओर देखती रहती है, उसी प्रकार माया सन्त के आदेशों का पालन करती रहती है। सामान्य लोग विषयों में फँसानेवाली माया के वशीभूत रहते हैं, किन्तु सन्त प्रभु के स्मरण-जल से विषयों का केवल उपयोग कर लेते हैं, उनके आकर्षण के वश में नहीं आते। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए कबीर ने कहा है—'बिलसी अरु लातौं छड़ी' अर्थात् सन्त मायाजन्य विषयों का भोग तो कर लेते हैं, परन्तु उन्हें लात मारकर दूर कर देते हैं।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णां[1] नाँ मुई, यौं कहै[2] दास कबीर॥ ११॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्राणी का आवागमन होता रहता है। वह एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता रहता है। वह बार-बार मरता है, किन्तु शरीरान्त के साथ न तो माया की आकर्षण शक्ति का अन्त होता है और न मन की लिप्सा का अन्त होता है। प्राणी के भीतर आशा और तृष्णा बराबर बनी रहती है।

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ[3]।
सोइ सूवे धन संचते[4], सो[5] उबरे जे खाइ[6]॥ १२॥

व्याख्या—संसार के सभी लोग मरते रहते हैं, किन्तु वासना नहीं मरती। जो लोग मरते रहते हैं, वे जन्म धारण कर पुनः मरते हैं। मृत्यु से पिण्ड नहीं छूटता और तृष्णा निरन्तर साथ लगी रहती है। जो लोग केवल धन का संचय करते रहते हैं, उसका सम्यक् उपयोग करना नहीं जानते, वे मृत के समान हैं। किन्तु जो इस धन का उपयोग करते हैं, वे वस्तुतः जीवित हैं। इसी प्रकार जो केवल कर्मों का संचय करते रहते हैं, वे मृत के समान हैं। किन्तु जो कर्मों को ज्ञान और वैराग्यपूर्वक भोगकर उन्हें क्षीण कर देते हैं उनमें उनकी वासना नहीं रह जाती। वे ही वास्तव में जीवित हैं। उन्हीं का जीवन सार्थक है।

अलंकार—विरोधाभास।

कबीर सो धन संचिए, जो आगे को[7] होइ।
सीस[8] चढ़ाए पोटली[9], ले[10] जात न देखा[11] कोइ॥ १३॥

शब्दार्थ—आगे को = भावी जीवन। पोटली = गठरी।

---

१. ना० प्र०—त्रिष्णाँ। २. ना० प्र०—कहि गया, हनु०—वि०—कथि कहै, गुप्त–कह गया। ३. ति०–जाँहि, हनु०–जाय। ४. ति०–धन संचै तेई मुए, हनु०–धन संचय सोऊ मरै। ५. हनु०, उबरै सो धन खाय। ६. ति०—खाँहि। ७. ना० प्र०—आगैं कूँ, ति०—आगाँ कौं। ८. ति०—मूड, हनु०—माथ। ९. हनु०—गाठरी। १०. हनु०–'ले' नहीं है। ११. ना० प्र०—देख्या।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सुकृत रूपी धन का संचय करो, जो भावी जीवन में काम आये। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। जीव इस जीवन में जो कर्म करता है, वे क्रियमाण कहलाते हैं, उनका फल तत्काल नहीं मिलता। वे धीरे-धीरे संचित होते रहते हैं और भावी जीवन में उनका फल मिलता है। भावी जीवन में वही प्रारब्ध हो जाते हैं अर्थात् फल की प्राप्ति प्रारम्भ हो जाती है। कबीर का उपदेश है कि हे जीव! ऐसे पुण्य कर्मों का संचय करो जो तुम्हारे भावी जीवन में शुभ फल दें।

लोग सांसारिक धन-संचय में लगे रहते हैं। प्राण निकलते समय मैंने किसी को भी सिर पर इस धन की गठरी ले जाते हुए नहीं देखा। किन्तु सत्कर्म रूपी धन ऐसा है जो जीव के साथ जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

तिरिया त्रिष्नां पापिनी[1], तासों[2] प्रीति न जोर[3]।
पैंड बैठि पाछे परै[4], लागै मोटी खोर[5]॥ १४॥

शब्दार्थ—तिरिया = स्त्री। पैंड बैठि=रास्ते में बैठकर, घात लगाकर। खोर=दोष।

व्याख्या—तृष्णा रूपी कामिनी पापिनी है। हे जीव! तू उससे प्रेम का नाता न जोड़। वह घात में लगी रहती है। यदि उसे किञ्चित भी यह संकेत मिलता है कि जीव उसके आकर्षण में आ गया है तो वह पीछे पड़ जाती है अर्थात् वह जीव को सर्वरूपेण अपने वश में कर लेती है। बेचारा जीव उसके वश में आकर ऐसे कार्य करता है जिससे उसे भारी दोष लग जाता है।

अलंकार—रूपक।

त्रिष्नां[6] सींची नाँ बुझै, दिन दिन बढ़ती[7] जाइ।
जावासा[8] के रूष ज्यूँ, घन[9] मेहाँ कुम्हिलाइ॥ १५॥

शब्दार्थ—जावासा = (सं०—यावासक) एक प्रकार का कँटीला पौधा जिसके पत्ते वृष्टि से मुरझाकर गिर जाते हैं। घन मेहाँ = घनो वृष्टि। कुम्हिलाय = (सं०—कु + म्लान) सूख जाना, मुरझाना।

व्याख्या—आग को शान्त करने का उपाय है—उस पर जल डालना। इससे वह बुझ जाती है। तृष्णा को शान्त करने के लिए बेचारा जीव सोचता है कि यदि उसका भोग कर लिया जाय तो वह मिट जायेगी। किन्तु तृष्णा ऐसी विचित्र आग है कि इसे

---

१. ना० प्र०—त्रीयां त्रिष्णाँ पापणीं, हनु०—कबीर तृष्णाँ पापिनी। २. ना० प्र०—तासूँ, हनु०—तासु। ३ ना० प्र०—जोड़ि। ४. ना० प्र०—पैड़ी चढ़ि पाछौं पड़ै। ५. ना० प्र०—खोड़ि। ६. ना० प्र०—त्रिष्णाँ। ७. गुप्त—बधती, हनु०—अधिकी लाभ। ८. ना० प्र०—जवासा, हनु०—जावासा के रूष ज्यों। ९. ना० प्र०—घण, हनु०—घना मेघ।

जितना ही भोग रूपी वारि के द्वारा शान्त करने का प्रयत्न किया जाता है, यह उतनी ही प्रज्वलित होती जाती है। परन्तु प्रभु की घनी कृपा-वृष्टि से यह उसी प्रकार बुझ जाती है, जैसे घोर वर्षा से जवासे का पौधा पत्रविहीन हो जाता है।

अलंकार—विशेषोक्ति, उपमा।

कबीर जग की कौ कहै[1], भौ[2] जलि बूड़ैं दास।
पारब्रह्म पति छाँड़ि करि[3], करै मांन[4] की आस॥ १६॥

शब्दार्थ—भौ जलि = संसार रूपी जल में। पति = स्वामी। मांन = सम्मान, अहंभाव।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि साधारण सांसारिक लोगों की बात कौन कहे? इस भव-सागर में वे भक्त भी डूब जाते हैं जो प्रभु जैसे स्वामी को छोड़कर सम्मान की आशा में लोगों के सम्मुख अपने प्रभुत्व और सिद्धियों के प्रदर्शन में लगे रहते हैं।

रूपक—'भौ जलि' में रूपक।

माया तजी तौ[5] का भया, जौ मान तजा नहिं जाइ[6]।
मानि बड़े मुनिवर[7] गिले, मांन[8] सबनि कौं[9] खाइ॥ १७॥

शब्दार्थ—माया = विषयों का आकर्षण। गिले = निगल गया।

व्याख्या—धन-द्रव्य और विषयों के आकर्षण को छोड़ भी दिया जाय, तब भी पूर्णता नहीं प्राप्त होती, क्योंकि मान का लोभ जो कि सूक्ष्म अहंभाव का भयंकर बाह्य रूप है, नहीं छोड़ा जाता। अहंभाव और प्रतिष्ठा का लोभ अन्योन्याश्रित है। मान के लोभ ने श्रेष्ठ मुनियों को भी खा डाला है अर्थात् उन्हें भी नष्ट कर दिया है। वे भी उसके कारण आध्यात्मिक उत्कर्ष से पतित हो गए हैं। मान का लोभ सबको खा जाता है अर्थात् नष्ट कर देता है।

राँमहिं थोरा[10] जानि करि, दुनियाँ आगैं दीन।
जीवाँ[11] कौं राजा कहै, माया के आधीन॥ १८॥

शब्दार्थ—जीवाँ = साधारण प्राणी।

व्याख्या—लोग अज्ञानवश सर्वशक्तिमान राम की महत्ता में विश्वास न कर, उनकी सामर्थ्य को सीमित समझकर, संसार के तथाकथित ऐश्वर्यवान जनों के सामने अपनी दीनता प्रकट करते हैं और उनसे सहायता-प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। मायाजन्य अज्ञान

---

१. हनु०—क्या कहौं, यु०—कहा कहूँ २. हनु०-भव जल, यु०-जो भले। ३ हनु०, यु०—के। ४ भा० प्र०—मौंनि, हनु०-यु०—मनुष। ५. ति०—त। ६. ना० प्र०-मौंनि तजी नहीं जाइ। ७. ना० प्र०-मुनियर। ८. ना० प्र०—मौंनि। ९. ना० गुप्त—कूँ। १०. ना० प्र०—थोड़ा जौंपि। ११. हनु०—यु०—जीवन।

के अधीन होकर वे उन जीवों को स्वामी मान बैठते हैं जो कि स्वयं माया के वश में क्षुद्र दास हैं।

रज बीरज की कली[1], तापर साजा[2] रूप।
राँम[3] नाम बिन बूड़िहै, कनक कामिनी[4] कूप ॥ १९ ॥

व्याख्या—बेचारा मानव है क्या ? स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य के संयोग की एक कलिका मात्र। उसके ऊपर से हाड़-मांस का सजाया हुआ रूप। उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ कि वह संसार के प्रलोभनों से बच सके। प्रभु-नाम के सहारे के बिना उसका कामिनी और कंचन रूपी कूप में डूब मरना अवश्यंभावी है।

अलंकार—रूपक।

माया तरुवर[5] त्रिविध का, साखा[6] दुख[7] संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीका[8] तनि[9] ताप ॥ २० ॥

शब्दार्थ—त्रिविध = तीन प्रकार का, त्रिगुणात्मक। सुपिनै = स्वप्न में भी। तनि = तन में, शरीर में।

व्याख्या—माया त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमस्) वृक्ष है। दु:ख और संताप इसकी शाखाएँ हैं। सामान्य वृक्षों में यह विशेषता होती है कि उसकी छाया में शीतलता प्राप्त होती है, किन्तु माया ऐसा विचित्र वृक्ष है कि इससे स्वप्न में भी शीतलता नहीं प्राप्त हो सकती है। यह सदा शोक और मोह का कारण बना रहता है। इसमें सत्त्व गुण दबा रहता है। अन्य वृक्षों से मीठा फल प्राप्त होता है, किन्तु इस वृक्ष का फल भी फीका और निस्सार होता है अर्थात् माया के वशीभूत होकर कोई भी जीव जीवन के माधुर्य का अनुभव नहीं कर सकता। इसके फल का स्वाद फ़ीका होता ही है, तन में ताप भी पैदा करता है।

अलंकार—सांगरूपक। दूसरे चरण में व्यतिरेक।

कबीरा माया डाकिनी[10], सब काहू[11] कौं खाइ।
दाँत उपारूँ[12] पापिनी, जे[13] संतों नियरे[14] जाइ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—डाकिनी = पिशाचिनी, राक्षसी। उपारूँ = उखाड़ लूँ। जे = यदि। नियरे = निकट।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया ऐसी भयंकर पिशाचिनी है जो सबको खा

---

१. ति०-कोथली। २. ना० प्र०-तापरि साज्या। ३. ति०-एक। ४. ना० प्र०-कौंमणी, गुप्त-कौंमनी। ५. ना० प्र०-तरबर। ६. वि०-सोक। ७. ति०-यु०-बिखै। ८. ना० प्र०-फीकौ। ९. ति०-यु०-वि०-तन। १०. ना० प्र०-डाकणीं। ११. ना० प्र०-किसही कौं। १२. ना० प्र०-उपाड़ौं पापणीं। १३. ति०-जे संतौं। १४. ना० प्र०-नेड़ी, वि०-यु०-जे संतां नीड़े।

जाती है अर्थात् सबका विनाश करती है। परन्तु यदि वह संत के निकट फटके तो मैं उस पापिनी का दाँत उखाड़ दूँगा अर्थात् उसको असमर्थ कर दूँगा।

अलंकार—रूपक।

नलनी[1] सायर घर किया, दव[2] लागी बहुतेन[3]।
जलही माहैं[4] जलि मुई, पूरब जनम लिखेन[5] ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—नलनी = कमलिनी (प्र० अ०) जीवात्मा। सायर = सागर (प्र० अ०) माया। दव = बड़वाग्नि। बहुतेन = ('तेन' तृतीया का बोधक) बहुत भारी। लिखेन = लेख के अनुसार।

व्याख्या—कमलिनी रूपी जीवात्मा ने माया रूपी सागर में निवास बनाया। उसने यही सोचा था कि इसमें हमें शीतलता प्राप्त होगी। उसको यह पता नहीं था कि सागर में बड़वानल है। उसके कारण भयंकर आग लग गई। जल में रहते हुए भी पूर्व-जन्म के कर्मों के लेखानुसार वह जल मरी अर्थात् उसका विनाश हो गया।

टिप्पणी—माया का सागर से सादृश्य बहुत व्यंजक है। सागर में क्षोभ होता रहता है, उसी प्रकार माया क्षोभ को उत्पन्न करती रहती है। नलिनी कोमल, श्वेत और शान्त होती है। इसीलिए उसकी तुलना जीवात्मा से की गई है। जलाशय में नलिनी की वृद्धि होती है, किन्तु माया ऐसा भयंकर जलाशय है कि आपाततः जल की प्रतीति होने पर भी उसके भीतर बड़वानल धधकता रहता है। यह माया की मोहक शक्ति का संकेत है जिसके कारण बेचारे जीव में विषय की तृष्णा जागृत होती है। यह तृष्णा ऐसी भयंकर आग है कि जल में रहते हुए भी बेचारी नलिनी रूपी जीवात्मा विनाश को प्राप्त होती है अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान खोकर विषयों में आसक्त रहती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास।

कबीर गुण की बादली, तीतरबानीं छाँहि[6]।
बाहरि रहे ते[7] ऊबरे, भींगे मंदिर माँहि[8] ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—तीतरबानीं = तीतरवर्णी, तीतर (पक्षी) के वर्णवाली अर्थात् मिश्रित रंगवाली।

व्याख्या—इस साखी में विरोधाभास, लक्षणा और व्यञ्जना का अद्भुत चमत्कार है। त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रजस्, तमस्,) माया की उपमा बदली से दी गई है, जिसकी तीतरबानी अर्थात् रंग-बिरंगी मिश्रित छाया होती है। जैसे माया बहुरंगी है, वैसी ही उसकी छाया भी बहुरंगी है।

---

१. हनु०—ललनी। २. ना० प्र०—दौं। ३. ना० प्र०—बहुतेंण। ४. हनु०—माहीं। ५. ना० प्र०—लिषेणि। ६. हनु०—तीतिरवाली छाँह। ७. हनु०—सो। ८. हनु०—माँह।

मन्दिर का लक्ष्यार्थ है—आश्रय स्थल, सुरक्षित स्थान। मनुष्य वर्षा से बचने के लिए सुरक्षित स्थान पर जाता है। परन्तु जिस माया की छाँह को जीव ने अज्ञानवश अपना आश्रयस्थल बना रखा है, उसमें ऐसा वैचित्र्य है कि उस माया रूपी बदली की वर्षा से बचने के बजाय वह और भींग जाता है अर्थात् जिस माया रूपी बदली की छाँह को जीव ने अपना आश्रय बनाया था, वही उसके पतन का कारण हो जाती है। माया के वश में विषय-भोग में लिप्त रहने से जीव वासना और आसक्ति से सिक्त होकर अधोगति को प्राप्त होता है। जिन लोगों ने उस छाँह को अपना आश्रय-स्थल नहीं बनाया, उससे दूर रहे अर्थात् उसके प्रभाव से पृथक् रहे, वही भींगने से बच गए अर्थात् विषय-वासना में आसक्त नहीं हुए।

अलंकार—रूपक, विरोधाभास।

कबीर माया मोहिनी[1], भइ अँधियारी[2] लोइ।
जे[3] सूते ते मुसि गए[4], रहे बस्तु[5] कौं रोइ॥ २४॥

शब्दार्थ—लोइ=लोक, लोग। मुसि गए = लुट गए। बस्तु=पूँजी।

व्याख्या – कबीर कहते हैं कि माया में विचित्र मोहक शक्ति है। उसके कारण लोक में अज्ञान का अंधकार छा जाता है। जो अज्ञानवश मोह-निद्रा में पड़ गए, वे अपने मूलधन अर्थात् आत्मस्वरूप के ज्ञान को खो बैठे और उस मूलधन के लिए जीवन-भर बिलखते रहे।

साँकर[6] हूँ तें सबल[7] है, माया इहि[8] संसार।
ते[9] क्यूँ छूटैं बापुरे[10], बाँधे[11] सिरजनहार॥ २५॥

शब्दार्थ—साँकर = जंजीर। सिरजनहार = स्रष्टा।

व्याख्या—इस संसार में माया जंजीर से भी अधिक दृढ़ बन्धन है। जब स्वयं स्रष्टा ने सबको माया रूपी बन्धन में बाँध रखा है तो बेचारे संसारी जीव (बिना गुरु की सहायता अथवा प्रभु-कृपा के) कैसे छूट सकते हैं?

दूसरे चरण का हनु०, वि० प्रतियों में पाठ इस प्रकार है—अपने बल छूटै नहीं, छुड़वै सिरजनहार।' इसका अर्थ होगा—वे अपनी सामर्थ्य से नहीं छूट सकते, जब प्रभु का अनुग्रह होता है, तभी वे माया से छूट सकते हैं।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. ना०प्र०--मोह की। २. ना० प्र०--भई अँधारी। ३. वि०--जो सोये सोमुसि गए। ४. ना० प्र०--लिए। ५. ना० प्र०--बसत कूँ, गु०--वि०--वस्तुको। ६. ना० प्र०--सकंल ही। ७. ना० प्र०--सब लहै। ८. वि०--या, हनु०--यहि। ९. हनु०--वि०--अपने वल छूटै नहीं, छुड़वै सिरजनहार। १०. ना० प्र०--बापुड़े। ११. ति०--जिनि बाँधे।

बाड़ि[१] चढ़ंती बेलि[२] ज्यूँ, उलझी[३] आसा फंध।
टूटै[४] पर छूटै नहीं, भई जो बाचाबंध[५] ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—बाड़ि = वाड़ पर, फसल की रक्षा के लिए काँटे-बाँस आदि के बनाये हुए घेरे को बाड़ कहते हैं। (दे०—वृहत् हिन्दी कोश, पृ० ९६२)। फंध = बन्धन। वाचाबंध = वचनवद्ध।

व्याख्या—माया के कारण मानव में उत्पन्न तृष्णा, वाड़ पर चढ़ी हुई वेलि के समान है। उसका फंदा या बंधन बाड़ के काँटे के समान है। जिस प्रकार वेलि को बाड़ के काँटे से छुड़ाने का यत्न करने पर, उसे सुलझाने का प्रयत्न करने पर, वह उसी से अधिकाधिक उलझती जाती है। वह टूट भले ही जाय, किन्तु छूट नहीं पाती। उसी प्रकार जीव तृष्णा के फंदे में ऐसा फँसा रहता है कि प्रयत्न करने पर, समझाने-बुझाने पर वह तृष्णा कुछ समय के लिए क्षीण भले हो जाय, किन्तु सर्वथा विनष्ट नहीं होती। वह जीव की अवचेतना में वासना के रूप में विद्यमान रहती है। जैसे कोई वचनबद्ध मनुष्य अपने वचन से अलग नहीं होता, वैसे ही जीव तृष्णा से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता।

अलंकार—उपमा।

सब आसन[६] आसा तणाँ[७], निवरति कोई नाहिं[८]।
निवरति कै निबहै नहीं[९], प्रवृत्ति[१०] परपँच मांहि ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—आसन = योगासन, हठयोग द्वारा प्रतिपादित बैठने और विभिन्न अंगों के व्यायाम की विधियाँ। तणाँ = राजस्थानी प्रयोग 'का' के अर्थ में। निवरत=निवृत्ति।

व्याख्या—कठिन योगासन लगानेवाले बड़े-बड़े योगी भी सिद्धि की आशा में लगे हुए हैं। ये आसन निवृत्ति या निरासक्ति की ओर ले जानेवाले नहीं हैं। जो प्रवृत्ति के प्रपंच में फँसे हुए हैं, उनसे निवृत्ति का निर्वाह नहीं हो सकता। प्रवृत्ति आसक्ति की ओर ले जाती है, चाहे वह आसक्ति सांसारिक विषयों के लिए हो या सिद्धि के लिए। निवृत्ति मुक्ति की ओर ले जाती है। जो किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति में फँसा हुआ है, भला वह निवृत्ति का निर्वाह कैसे कर सकेगा?

कबीर इस संसार का[११], झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता[१२] बधावना, तिहि घरि तिता अँदोह[१३] ॥ २८ ॥

१, हनु०--बाट। २. ति०--हनु०--बेलरी। ३. ति०--हनु०--उरझी। ४. ना० प्र०--तूटै पणि। ५. ना० प्र०—ज बाचा बंध। ६. ना० प्र०--आसण। ७. हनु०--तना। ८. ना० प्र०--निवर्तिकै कोइ नाँहि। ९. हनु०--निवृत्ति को जानै नहीं। १०. ना० प्र०--परवर्ति। ११. हनु०—वि०—या संसार की झूठी, यु०—या संसार को लाग्यो। १२ ना० प्र०—जिता बँधावणाँ, यु०—जेता बधवनाँ। १३. हनु०—वि०—यु०—घर तेता दोह।

शब्दार्थ—बधावना = बधावा, उत्सव। अँदोह (फा०) = अवसाद, दुख।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि इस संसार का मायाजन्य मोह व्यर्थ है। जिस घर में जितना उत्सव मनाया जाता है, उस घर में उतना ही अवसाद का भी अनुभव करना पड़ता है अर्थात् सुख और दुःख माया के दो छोर हैं। शाश्वत आनन्द माया के परे की वस्तु है।

अलंकार—दूसरी पंक्ति में विरोधाभास।

माया[1] हमसौं यों कहै[2], तू मति दे रे पूठि[3]।
और हमारे बसि पड़े[4], गया[5] कबीरा रूठि॥ २९॥

शब्दार्थ—पूठि = पीठ। रूठि = रुष्ट, विमुख।

व्याख्या—माया मुझसे कहती है कि तू मुझे पीठ मत दे अर्थात् मेरी उपेक्षा मत कर। अन्य सभी लोग मेरे वश में हैं। किन्तु यह सुनकर भी कबीर उससे विमुख ही रहा। उसके चक्कर में नहीं आया।

यदि ना० प्र० का पाठ 'और हमारा हम बलू' लिया जाय तो अर्थ होगा—अन्य लोग हमारे हमबोल हैं अर्थात् हमारे अनुवर्ती हैं। दोनों पाठों के भाव में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

अलंकार—मानवीकरण।

बगुली[6] नीर बिटालिया[7], सायर चढा[8] कलंक।
और पँखेरू पी[9] गए, हंस न बोरै[10] चंच॥ ३०॥

शब्दार्थ—बगुली = (प्र० अ०) माया। बिटालिया = गंदा कर दिया। सायर = सागर, भव-सागर। पँखेरू = पक्षी (प्र० अ०) सांसारिक लोग। हंस = (प्र० अ०) मुक्त आत्मा।

व्याख्या—कबीर ने इस साखी में यह बतलाया है कि माया रूपी बगुली ने संसार रूपी सागर के जल को अपनी चोंच से दूषित कर दिया। इसलिए सारा भव-सागर गंदला हो गया। सामान्य जीव रूपी पक्षी जो माया के वश में हैं, इस भव-सागर का जल पीते रहे अर्थात् विषयों में आसक्त रहे। केवल हंस रूपी मुक्तात्मा इस जल में चोंच तक नहीं डालते अर्थात् वे विषय-वासना से सदा विरत रहते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. हनु०—वि०—यु०—कबीर माया यौं कहे। २. ना० प्र०—कहूया। ३. ति०—देई पूठि, हनु०—वि०—यु०—देई पीठि। ४. ना० प्र०—और हमारा हम बलू, हनु०—यु०—और हमारे बस परा। ५. हनु०—यु०—रहा। ६. ना० प्र०—बुगली। ७. ति०—हनु०, यु०—बिटारया। ८. ना० प्र०—चढ्या। ९. हनु०—यु०—पीविया। १०. ना० प्र०—बोवै।

कबीर माया जिनि[1] मिलै, सौ बिरिया[2] दे बाँह।
नारद से मुनिवर गिले[3], कैसि भरोसो ताहि[4] ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—जिनि = मत। बिरिया = वार। गिले = खा गई, निगल गई। ताहि = उसका।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया चाहे सौ बार बाँह दे अर्थात् मिलने के लिए उत्सुक हो, वह तुझे वश में करने के लिए चाहे जितने प्रलोभन क्यों न दे, किन्तु उससे नहीं मिलना चाहिए। उसके फंदे में नहीं पड़ना चाहिए। उसने नारद जैसे श्रेष्ठ मुनि को भी निगल लिया अर्थात् नष्ट कर दिया। फिर उसका विश्वास कौन कर सकता है ?

माया की झलि[5] जग जरै[6], कनक कामिनी[7] लागि।
कहु धौं किहि बिधि राखिए[8], रूई पलेटी[9] आगि ॥ ३२ ॥
—३४६ ॥

शब्दार्थ—झलि = ज्वाला में। लागि = के कारण।

व्याख्या—कनक और कामिनी रूपी माया की ज्वाला में सारा संसार जल रहा है। कहो तो, वह रूई जो आग से लिपटी हुई है, भस्म होने से किस प्रकार बचाई जा सकती है ? माया के वशीभूत जीव आग से लिपटी हुई रूई के समान है। जीव जब तक माया के वश में हैं, तब तक उसका मुक्त होना सम्भव नहीं है। मुक्त होने के लिए उसे माया से ऊपर उठना होगा।

अलंकार—निदर्शना।

---

१. हनु०—जनि मिलो। २. ना० प्र०—सौ बरियाँ। ३. हनु०—ठगे। ४. ना० प्र०—किसो भरोसो त्याँह। ५. ना० प्र०—की झल, हनु०—यु०—के झक। ६. ना० प्र०—जल्या, हनु०—यु०—जलै। ७. ना० प्र०—कौंमणी। ८. हनु०—यु०—कहु संतो किमि राखिए (रखई)। ९. ति०—हनु०—यु०—लपेटी।

(१७) चाँणक को अंग

जीव बिलंब्बा जीव सौं, अलख न लखिया जाइ।
गोविंद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—चाँणक = (सं०-चाणक्य) ई० पूर्व चौथी शताब्दी के राजनीति के एक आचार्य, जो पाटलिपुत्र के सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु और मंत्री थे। ये परम चतुर थे। उन्हीं के आधार पर यह शब्द बना है। भाव है—चातुर्य, चतुराई। बिलंब्बा = सहारा लेना, रमा रहना। झल = ज्वाला।

व्याख्या—एक जीव का दूसरे जीव में ही लगाव बना रहता है। वह उसी में भूला रहता है। अलक्ष्य ब्रह्म देखा नहीं जाता। इसलिए उसकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। कोई उसकी खोज ही नहीं करता। किन्तु जब तक प्रभु नहीं मिलते, तब तक दुःख की ज्वाला नहीं बुझ सकती। उसके बुझाने का चाहे जितना प्रयत्न क्यों न किया जाय।

अलंकार—'बुझाइ बुझाइ' में पुनरुक्ति-प्रकाश।

यही[1] उदर कै कारनैं[2], जग जाँच्चौ[3] निस जाम।
स्वामीपनो[4] जु सिरि चढ्यो,[5] सर्‌यो न एको काम ॥ २ ॥

शब्दार्थ—जाँच्यौ = याचना करता रहा, माँगता फिरा। स्वामीपनों = स्वामित्व का भाव, अहं का भाव। सर्‌यो = सफल हुआ, सिद्ध हुआ। जाम = (सं० याम) प्रहर।

व्याख्या—इस उदर की पूर्ति के लिए बेचारा जीव दिन-रात संसार में सबसे याचना करता रहता है। याचक होते हुए भी उसका स्वामित्व का भाव, अहंता का भाव सिर पर चढ़ा रहता है। इसलिए उसका लौकिक अथवा पारलौकिक कोई भी काम सिद्ध नहीं होता।

स्वामी होना[6] सोहरा[7], दोहरा[8] होना दास।
गाड़र आनी ऊन को[9], बाँधी चरै कपास ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सोहरा = सरल। दोहरा = कठिन। दास = प्रभु का दास, भक्त। गाड़र = भेंड़।

---

१. ना० प्र०-इहाँ, हनु०—वि०—यु०—इस। २. ना०प्र०—कारणैं। ३ ना० प्र०—जाँचा। ४. ना० प्र०—स्वामी पणौं, ति०—स्वामीपना, हनु०—स्वामीपन। ५ ति०—चढ़ा। ६. ति०-सरा, ना० प्र०—सर्‌या, हनु०-सरे। ना० प्र०-हूँणा। ७. गुप्त-सोरहा। ८. ना० प्र०—दोह्रा हूँणा, गुप्त०-दोरहा। ९. ना० प्र०-आँणी ऊन कू।

व्याख्या—गद्दीधारी गुरु बन बैठना सरल है, किन्तु प्रभु का सच्चा भक्त बनना कठिन है। जो गुरुवा बन बैठता है, उसमें से अहं या स्वामित्व का भाव नहीं जाता। वह अनेक शिष्यों एवं गद्दी की सम्पत्ति में और अधिक स्वामित्व के भाव का बोध करने लगता है, जिससे उसके अहं का भाव और अधिक बढ़ जाता है। जैसे कोई गड़ेरिया भेंड़ को ऊन के लिए लाकर बाँधे, किन्तु ऊन मिलना तो दूर रहा, वह बँधी हुई भेंड़ निकट पड़ी हुई कपास की गाँठ को ही चर जाय, वैसी ही स्थिति उन लोगों की होती है जो कि साधु तो बनते हैं वैराग्य और मुक्ति के लिए, परन्तु अन्य लोगों के ऊपर अपना प्रभाव जमाने की प्रवृत्ति के कारण उनके सिर पर स्वामित्व का भाव सवार हो जाता है और वे लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं।

अलंकार—निदर्शना।

स्वामी हूता[1] सेंत[2] का, पैकाकार[3] पचास।
राम नाँम काँठै[4] रहा[5], करै सिखां[6] की आस॥ ४॥

शब्दार्थ—सेंत का = मुफ्त का, विना पूँजी लगाए हुए। पैकाकार = सेवक। काँठै रहा = किनारे रहा। सिखां = शिष्य। आस=तृष्णा।

व्याख्या—तथाकथित साधु विशेष साधना किये बिना केवल वेष-भूषा से स्वामी बन बैंठे और उनके पचासों शिष्य रूप में सेवक हो गए। रामनाम तो दूर रहा, उनके मन में शिष्यों में वृद्धि की तृष्णा बढ़ती गयी। प्रभु की प्राप्ति के लिए जिस अहंता को समाप्त करना आवश्यक है, वह और बढ़ती गयी तथा उसके कारण तृष्णा की वृद्धि होती गयी और उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति न हो सकी।

कबीर तष्टा[7] टोकनी[8], लीए[9] फिरै सुभाइ।
राम नाँम चीन्है[10] नहीं, पीतलि[11] ही कै चाइ॥ ५॥

शब्दार्थ—तष्टा = (फा०—तश्त>तश्ता>तष्टा) तसला। टोकनी = भिक्षा-पात्र। सुभाइ=स्वभाव।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि दिखावटी साधु अपने स्वभाव के अनुसार तसला और टोकनी (भिक्षा-पात्र) लिये घूमते रहते हैं। उनका रामनाम से कोई परिचय नहीं है। वे पीतल आदि धातुओं के बर्तनों और सिक्कों की लालसा में ही लगे रहते हैं। उनकी सारी चतुराई सांसारिक भोग तक ही सीमित रहती है।

हनु० वाली प्रति में इसका पाठ इस प्रकार है—

---

१. हनु०--होना। २. ना० प्र०—सीतका, गुप्त०--सीति का। ३. हनु०--वि०--पैसे केर। ४ हनु०--वि०—धन वेंचि के। ५. ना० प्र०--रह्या। ६. ना०प्र०—सिपाँ, हनु०--वि०—सीप। ७. हनु०—वि०—यु०—तृष्ना टोकना। ८. ना० प्र०—टोकणीं। ९. ति०—लीया, हनु०—वि०—लीया डोलै स्वाद, यु०—लीयै डोलैं साधु। १०. हनु०—वि०—यु०—जाना। ११. हनु०—वि०—यु०—जनम गँवाया बाद।

कबीर तृष्णा टोकना, लीया डोलै स्वाद ।
राम नाम जाना नहीं, जनम गँवाया बाद ॥

इसका अर्थ इस प्रकार होगा—

कबीर कहते हैं कि तृष्णा रूपी टोकनी लिये हुए दिखावटी साधु विषयों के स्वाद के लिए घूमते-फिरते हैं । राम-नाम से उनका कोई परिचय नहीं होता । उनका जन्म व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है ।

कलि का स्वाँमी लोभिया, पीतल[1] धरी खटाइ ।
राजदुवारै[2] यौं फिरै, ज्यौं हरहाई[3] गाइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—खटाइ = खटाई । हरहाई=नटखट ।

व्याख्या—कलियुग के दिखावटी साधु लोभी होते हैं । वे पीतल में रखी हुई खटाई के समान विकृत या विकारग्रस्त हो जाते हैं । जिस प्रकार स्वाद के वशीभूत होकर नटखट गाय खेतों में घुस जाती है, उसी प्रकार इस युग के स्वामी-महंत आदि राज-दरबारों में लोभ और सम्मान के लिए भटकते फिरते हैं ।

अलंकार—उपमा ।

कलि का स्वामी लोभिया, मनसा रहै[4] बंधाइ ।
देवै पैसा[5] व्याज कौं, लेखा करता जाइ[6] ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मनसा=(अरबी-मनशा) कामना, अभिलाषा । बंधाइ = बढ़ाइ, वृद्धि । लेखा=हिसाब-किताब, आय-व्यय का विवरण ।

व्याख्या -- कलियुग का संन्यासी अपनी चतुराई में लगा रहता है । वह लोभ के वशीभूत रहता है । उसकी कामना या अभिलाषा बढ़ती ही जाती है । वह लोगों को व्याज पर रुपये उधार देता है और उनका पूरा हिसाब-किताब रखता है । ऐसे स्वामियों और संसारी जीवों में क्या अंतर है ?

कबीर कलि खोटी[7] भई, मुनियर मिलै न कोइ[8] ।
कामी[9] लोभी मसखरा,[10] तिनका[11] आदर होइ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—मुनियर = मुनिवर । मसखरा = भोंड़ी बातों से दूसरों का विनोद करनेवाला ।

---

१. ना० प्र०—पीतलि धरी पटाइ, हनु०-वि०—पीतल धरै खटाय । २. ना० प्र०—राजदुवारौं । ३. ना० प्र०—ज्यूँ हरिहाई, हनु०—वि०—ज्यौं हरियाई । ४. ना० प्र०—धरी । ५. ना० प्र०—देहिं पईसा । ६. ना० प्र०—लेखाँ करताँ, वि०—यु०—लेख करत दिन जाय । ७. ति०—कलियुग आइया, हनु०—वि०—कलिजुग कठिन है । ८. हनु०—वि०—साधु न मानै कोय । ९. ना० प्र०—लालच । १०. ना० प्र०—मसकरा । ११. ना० प्र०—तिनकूँ ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि कलियुग इतना खोटा हो गया है कि खोजने पर भी कोई सच्चा मुनि या साधु नहीं मिलता। कामी, लोभी और मसखरे लोगों का ही इस युग में आदर होता है।

तुलनीय—जो कह झूठ मसखरी जाना।

कलजुग सोइ गुनवन्त बखाना॥

—मानस।

चारि[1] वेद पंडित पढ़ै, किया न हरि से हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढ़ूँढ़ै खेत॥ ९॥

शब्दार्थ—बालि=बाली।

व्याख्या—पंडित चारों वेदों का अध्ययन करके भी प्रभु से प्रेम करना नहीं जानता। उसे केवल वाक्य-ज्ञान होता है। वह वेदों के मर्म या सार का ग्रहण नहीं करता। वेद रूपी खेत में प्रेम और ज्ञान से युक्त बाल, जो सारतत्त्व है, उसे कबीर ने ग्रहण कर लिया और शब्दानुरागी पंडित केवल थोथे शब्दों में उसे खोजते रहे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

बाम्हन[2] गुरू[3] जगत का, साधू[4] का गुरु नाँहि।
उरझि पुरझि करि मरि रहा,[5] चारिउ वेदाँ[6] माँहि॥ १०॥

व्याख्या—ब्राह्मण संसार का गुरु भले ही हो, किन्तु वह साधु का गुरु नहीं हो सकता, क्योंकि स्वानुभूतिरहित साधारण जन कोरे मर्महीन शब्दों की चकाचौंध में भले ही आ जायँ, किन्तु साधु का आधार स्वानुभूति है। वह आत्मसाक्षात्कार को ही परम तथ्य मानता है। शब्द-शास्त्री कोरे पंडित उसके गुरु नहीं हो सकते। जो कोरे शब्द-शास्त्री हैं, वे वेदों के शब्दजाल में उलझ-पुलझकर मरते रहते हैं।

साकत सन[7] का जेवड़ा, भींगा सूँ कठठाइ।
दोइ अषिर गुरु बाहिरा, बाँधा[8] जमपुरि जाइ॥ ११॥

शब्दार्थ—साकत = शाक्त। जेवड़ा = रस्सी। कठठाइ = कड़ा होना। अषिर = अक्षर।

व्याख्या—शाक्त भी अपनी चतुराई से साधना को सांसारिक लाभ का साधन बनाता है। वह सन की रस्सी के समान है, जो भींगने से अधिक कठोर होती जाती है अर्थात् वह (शाक्त) वासना और लोभ से चिपककर और भी कठोर हृदय और सांसारिक हो

---

१. ना० प्र०—चारिउ वेद पढ़ाइ करि, हरि सूँ न लाया हेत। २. ना० प्र०—ब्राह्मण। ३. ति०—हनु०, यु०—गुरू है। ४. ति०—भगताँ, हनु०—साधुन, यु०—करम भरम का खाहिं। ५. ति०—कै मरि गया, हनु०—यु०—कै मरि गए। ६. हनु-यु०—चारों वेदों। ७. ना० प्र०—सापित सण। ८. ना० प्र०—बाँध्या।

जाता है। उसके भीतर से उच्च आदर्शों और भावों का रस सूख जाता है। वह कतिपय बाह्य चमत्कारों में पड़ा रहता है और राम-नाम के दो अक्षरों की दीक्षा तथा गुरु-कृपा से विरहित रहता है। वह लौकिक सुखों को भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु अपने पाप-कर्मों से बँधा हुआ वह यमपुर को अवश्य जायगा।

अलंकार—उपमा गर्भितरूपक।

पारोसी सो रूठना,[1] तिल तिल सुख की हानि[2]।
पंड़ित भया[3] सरावगी, पानी पीवै छानि[4]॥ १२॥

शब्दार्थ—सरावगी = श्रावक, जैन-साधु।

व्याख्या—पंडित जैन-साधु के समान अहिंसा की ढोल पीटते हैं और बाह्याचार में इस सीमा तक अहिंसा-व्रत का पालन करते हैं कि जल को भी इसलिए छानकर पीते हैं कि कहीं उसमें कीटाणु न चले जायँ। वे बाह्याचार में तो इतना बड़ा आडम्बर करते हैं, किन्तु वास्तविक व्यवहार में उनकी यह दशा है कि अपने पड़ोसी तक से रूठे रहते हैं। उनके प्रति हिंसात्मक व्यवहार करते हैं, जिससे वास्तविक सुख का क्षय होता है।

पंडित सेती कहि रहा[5], भीतरि भेदा[6] नाँहि।
औरां[7] कौं परमोधता, गया मुहरकाँ माँहि॥ १३॥

शब्दार्थ—परमोधता = प्रबोध। मुहरकाँ = (अ० मुहर्रिक) नेतागिरी, अगुआगिरी।

व्याख्या—पंडित को अनेक प्रकार से उपदेश दिया, किन्तु ठहरा तो वह पंडित—शब्दों का अनुरागी। उसके हृदय में उपदेश का मर्म प्रवेश न कर सका। परिणाम यह हुआ कि वह सदा शब्दजाल में ही पड़ा रहा। वह औरों को तो जगाने के लिए उपदेश देता रहा, किन्तु स्वयं मर्म को समझने की चेष्टा न की और न स्वयं उसे आचरण या व्यवहार में चरितार्थ करने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि वह केवल ऊपरी नेतागिरी में ही रह गया और उसी के कारण विनाश को प्राप्त हो गया।

चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर माँहि।
फिरि परमोधै[8] आँन कौं, आपन[9] समझै नाँहि॥ १४॥

शब्दार्थ—सूवै = शुक, सुग्गा, तोता। पंजर = पिंजड़ा। आँन = अन्य, दूसरा। आपन = स्वयं।

व्याख्या—इस साखी में विचित्र ध्वनि है। जो तोता 'राम-राम' कहना सीख लेता है, वह बहुत चतुर समझा जाता है। परन्तु वह पिंजड़े में ही बन्द रहता है। मुक्त आकाश

---

१. ना०प्र०—पाड़ोसी सू रूसणाँ। २. ना० प्र०—हाँणि। ३. ना० प्र०—भए। ४. ना० प्र०—पाँणी पीवें छाँणि। ५. ना० प्र०—रह्या। ६. ना० प्र०—भेद्या। ७. ना० प्र०—औरूँ। ८. ना० प्र०—प्रमोधै। ९. ना० प्र०—आपण।

में विचरनेवाला तोता 'राम-राम' तो नहीं कहता, किन्तु वह बन्धन से मुक्त रहता है। पिंजड़े में बन्द रहने का ध्वन्यार्थ है—बन्धन में फँसना। कबीर कहते हैं कि वह तोता केवल 'राम' शब्द का उच्चारण जानता है, किन्तु न तो उसके मर्म को जानता है और न राम के प्रति उसमें कोई लगाव ही होता है। परिणाम यह होता है कि 'राम-राम' रटते हुए भी वह बन्धन में ही रहता है। वह औरों को तो उपदेश देता है, किन्तु स्वयं उसके मर्म को नहीं जानता। 'राम' शब्द के उच्चारण से सद्गति नहीं हो सकती। राम के प्रति प्रेम से ही कल्याण हो सकता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

*रासि पराई राखतां,[1] खाया[2] घर का खेत।
औरों को परमोधता[3], मुख में पड़िया रेत[4] ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—रासि=अन्न का ढेर। राखतां = रखवाली करते हुए। परमोधता = उपदेश करता। मुख में पड़िया रेत = (मु०) मुँह में धूल पड़ना, अपमानित होना, विनाश को प्राप्त होना।

व्याख्या—जो ढोंगी पंडित दूसरों को उपदेश देते फिरते हैं, पर स्वयं भक्ति की साधना नहीं करते, वे उस मूर्ख किसान के समान हैं जो दूसरों के खेत या अन्न के ढेर की रखवाली करता रहता है, किन्तु अपने अन्न की राशि की चिन्ता नहीं करता। परिणाम यह होता है कि उसका खेत पशु चर जाते हैं और अन्ततः उसे हानि उठानी पड़ती है। उसी प्रकार उन पंडितों की दशा होती है जो दूसरों को मुक्ति का उपाय बताते फिरते हैं, परन्तु अपने पाश-बन्धन को काटने की चिन्ता नहीं करते और अन्त में अपमानित होकर विनाश को प्राप्त होते है।

अलंकार—अन्योक्ति।

तारा मंडल बैसि करि,[5] चंद[6] बड़ाई खाइ।
उदै भया जब सूर का, स्यूँ[7] ताराँ छिपि जाइ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—वैसि करि = बैठकर। सूर = सूर्य। स्यूँ = सहित।

व्याख्या—जिस प्रकार रात्रि में तारा-मण्डल के बीच चन्द्रमा बड़ाई भोगता है अर्थात् सभी नक्षत्रों से श्रेष्ठ समझा जाता है, किन्तु सूर्योदय होने पर वह तारा-मण्डली सहित प्रभाहीन होकर छिप जाता है, उसी प्रकार थोथे पंडित अपने शिष्यों के बीच में श्रेष्ठता को प्राप्त करते हैं, किन्तु सच्चे ज्ञानी साधक का सामना होते ही वे हतप्रभ हो जाते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

*टिप्पणी—तिवारी, हनु०, की प्रतियों में साखी के चरणों का क्रम उल्टा है। १. तिवारी—बिरानी राखतौं, हनु०—बिरानी राखते। २. हनु०—खाइन। ३. ना० प्र०—प्रमोधतौं, हनु०—औरन को उपदेसते। ४. तिवारी—मुहड़ें पड़िया रेत, हनु०—मुहड़े परि गई रेत। ५. हनु०—वि०—यु०—बैठि कै। ६. अन्य—चाँद। ७. अन्य—तब तारा।

देखन कौं सब कोइ भले,[१] जैसे सित का कोट[२] ।
रवि[३] कै उदै न दीसहीं, बँधै न जल की पोट[४] ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—सित = शीत, ओस, कोहरा, तुषार । कोट = दुर्ग, किला, राशि । पोट = पोटली, गठरी ।

व्याख्या—वेश-भूषा और शब्दाडम्बर से युक्त उपदेशक, साधु-संन्यासी उसी प्रकार देखने में भले लगते हैं जैसे कुहरे का दुर्ग । जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही वह नहीं दिखलाई पड़ता अर्थात् उसका अस्तित्व मिट जाता है और उस जल की कोई गठरी भी नहीं बाँधी जा सकती है, उसी प्रकार ज्ञान के उदय होने पर इन आडम्बरी संन्यासियों का प्रभाव समाप्त हो जाता है और उनका कोई भी उपयोग नहीं रह जाता है ।

अलंकार—उपमा ।

तीरथ करि करि जग मुआ[५], डूँघै[६] पानी न्हाइ ।
राँमहि[७] राम जपंतड़ाँ, काल घसीटा जाइ ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—डूँघै = (पं०-डूँगा) गहरा । जपंतड़ा = जपते हुए ।

व्याख्या—लोग तीर्थ-यात्रा करते-करते और गहरे जल में स्नान करते-करते मर गये । ऐसे लोग ऊपर से 'राम-राम' जपते रहे, किन्तु अन्त में काल उन्हें घसीट कर ले गया । वस्तुतः न तो तीर्थ-यात्रा से, न प्रसिद्ध नदियों में स्नान करने से और न यांत्रिक रूप से राम-नाम जपने से कोई जीव चरम लक्ष्य को पहुँच सकता है । ये सब बाह्याचार हैं । भक्ति-भावना के अभाव में सभी लोग जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं । उससे छुटकारा नहीं मिल पाता है ।

कासी काँठै घर करै, पीवै निरमल[८] नीर ।
मुकति नहीं हरि नाँव[९] बिनु, यौं कहै दास कबीर ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—काँठै = कंठ, किनारा ।

व्याख्या—लोग प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र काशी में गंगा के किनारे घर बनाकर रहते हैं और आजीवन गंगा का निर्मल जल पीते हुए मुक्ति की आशा करते हैं । भक्त कबीर कहते हैं कि यह भी वाह्याचार है । इस चतुराई से भी काम नहीं चलेगा । प्रभु-नाम की वास्तविक भक्ति के बिना मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती ।

अलंकार—विनोक्ति ।

---

१. ना० प्र०—देषण के सबको भले, हनु०—देखत को सब को भलो, यु०—वि०—देखन का सब कोय भला । २. ना० प्र०—जिसे सीत के कोट, यु०—जैसे सीत का कोट । ३. हनु०— यु०—देखत ही ढहि जायगा । ४. हनु०, यु०—बाँधि सकै नहिं पोट । ५. ना० प्र०—मुवा । ६. ति०—जूड़ै पानी । ७. ति०—राम नाम जाने बिना, काल गरासा जाइ । ८. ना० प्र०—निर्मल । ९. तिवारी०—नाउं ।

कबीर इस[1] संसार कौं[2], समझाऊँ[3] कै बार।
पूँछ जु[4] पकड़ैं भेड़ की, उतरा[5] चाहै पार॥ २०॥

शब्दार्थ—भेंड़ = गतानुगतिका या लकीर के फकीर का प्रतीक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं इस संसार के लोगों को कितनी बार समझाऊँ? वे भेड़ की पूँछ पकड़कर अर्थात् अज्ञानी गुरु का आश्रय लेकर भव-सागर पार करना चाहते हैं, जो कि असम्भव है।

कबीर मन फूला[6] फिरै, करता हूँ मैं[7] धरंम[8]।
कोटि[9] करम[10] सिरि ले चला[11], चेति न देखै भरंम[12]॥ २१॥

शब्दार्थ— फूला = प्रसन्न। धरंम = धर्म। भरंम = भ्रम।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीव मन में फूला नहीं समाता कि मैं धर्म कर रहा हूँ। वह केवल वाह्याचार और कर्मकाण्ड को धर्म समझता है। ऐसे तथाकथित धर्म के नाम पर वह हिंसा, पाषंड आदि नाना प्रकार के कुकर्म करता रहता है। इन कर्मों का फल उसे अवश्य भोगना होगा। परन्तु वह धर्माडम्बर के कारण सचेत होकर अपने भ्रम को देखता ही नहीं।

मोर तोर की जेवरी[13], गलि बंधा[14] संसार।
कांसि[15] कुडुंबा सुत कलित, दाझनि[16] बारंबार॥ २२॥
—३६८॥

शब्दार्थ—गलि = गले में। कांसि=एक प्रकार की लम्बी घास। कुडुंबा = कुटुम्ब। सुत = पुत्र। कलित = कलत्र, स्त्री। दाझनि = जलना।

व्याख्या—संसार के लोगों के गले में 'मोर तोर' की भावना की रस्सी पड़ी हुई है और वह भावना कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री आदि के रूप में व्यक्त होती है। परन्तु ये सम्बन्ध कांस नामक घास के समान बार-बार जलनेवाले हैं अर्थात् क्षणिक हैं। जिस प्रकार 'मेरापन' का भाव भ्रान्त है, उसी प्रकार अपने कुटुम्ब, वनिता, सुत आदि का भाव भी भ्रान्त है।

●

---

१. तिवारी—हनु०, गु०—या। २. हनु०, गु०—को। ३. तिवारी—गु०—समुझायौ। ४. ना० प्र०—ज। ५. ना० प्र०—उतर्या। ६. ना० प्र०—मन फूल्या, तिवारी—मनि फूला। ७. ति०—ज। ८. ना० प्र०— ध्रमं। ९. ति०—कोटि करम सिर परि चढ़ै, हनु०—कोटि कर्म जो शिर चढ़ै। १०. ना० प्र०—क्रम। ११. ना० प्र०—चल्या। १२. ना० प्र०—चेत न देखै भ्रमं, हनु०—जौ तन देखै मर्म। १३. ना० प्र०—जेवड़ी। १४. ना० प्र०—बलि बंध्या। १५. ना० प्र०—कौं सिकडूँ बाझुत कलित, गुप्त—काँहसि कँडूबा। १६. ना० प्र०—दाझण।

(१८) करनी बिना कथनी को अंग

कथनी कथी[1] तो क्या भया[2], जौ करनीं[3] नाँ ठहराइ।
कालबूत के[4] कोट ज्यौं[5], देखत[6] ही ढहि जाय॥ १॥

शब्दार्थ—कथनी = मुख से ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करना, उपदेश। करनी = जीवन में, व्यवहार में, क्रियाकलाप में ज्ञान को चरितार्थ करना। कालबूत = (फा०—कालबुद) वह कच्चा भराव जिस पर मेहराब बनाई जाती हैं, ढाँचा। कोट = ढेर।

व्याख्या—बड़े-बड़े सिद्धान्तों की बातें और लम्बे-लम्बे उपदेश आदि से क्या लाभ, यदि उन्हें कार्य रूप में परिणत करके जीवन में चरितार्थ न किया जाय। वे कालबूत के ढेर के समान हैं, जो क्षण-भर में ही नष्ट हो जाते हैं। जीवन में उनका कोई उपयोग नहीं।

अलंकार—उदाहरण।

जैसी मुख तैं[7] नीकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रम्ह नियरा[8] रहै, पल मैं करै निहाल॥ २॥

शब्दार्थ—नियरा=निकट। निहाल = पूर्णकाम,सन्तुष्ट।

व्याख्या—यदि कोई उपदेश के अनुरूप आचरण भी करे, कथनी और करनी में सामञ्जस्य स्थापित करे तो वह परब्रह्म के बिलकुल निकट हो जाय, जो कि उसे क्षण-भर में पूर्णकाम कर देगा।

जैसी मुख[9] तैं नीकसै, तैसी चालै नाँहि।
मानुख[10] नहीं ते स्वान गति, बाँधे[11] जमपुर जाँहि॥ ३॥

शब्दार्थ—स्वान = (सं०-श्वान) कुत्ता।

व्याख्या—जिन व्यक्तियों की कथनी-करनी में सामञ्जस्य नहीं है, वे वास्तव में मनुष्य नहीं हैं। उनकी गति उस कुत्ते के समान है जो भौंकता बहुत है, किन्तु करता कुछ नहीं। वे अपने कर्मों के द्वारा बँधे हुए कालग्रस्त होंगे।

अलंकार—अपह्नुति।

---

१. ना० प्र०—कथणीं कथी, हनु०, वि०—कथनी कथै। २. हनु०, वि०-यु०—हुआ. ३. ना० प्र०—जे करणीं, यु०– वि०-करनी ना, हनु०—करनी नहिं। ४. हनु०—वि०-यु०—का। ५. ना० प्र०—ज्यूँ। ६. ना० प्र०—देषतहीं। ७. हनु०-से। ८. ना० प्र०—नेड़ा। ९. ना० प्र०—मुष। १०. ना० प्र०—मानिष, हनु०-मनुष नहीं वह श्वान गत। ११. ना० प्र०—बाँध्या।

पद गाए मन हरखियाँ[1], साखी कहैं[2] अनन्द।
जौ तत नाउँ न जानियाँ, गल मैं परिया फंद[3] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—हरखियाँ = प्रसन्न होकर। जौ = यदि। तत = तत्त्व।

व्याख्या—बहुत से लोग मन की उमंग में भक्तिपूर्ण पदों को गाते हैं और बड़े आनन्द से अच्छी-अच्छी साखियों का पाठ करते हैं, किन्तु वे भी उसी कथनी की सीमा में हैं। यदि वे परमतत्त्व के रहस्य को नहीं जानते और जो कुछ गाते या सुनते हैं, उसे जीवन में उतारते नहीं, तो वे भी मोक्ष की ओर नहीं जा सकते, बंधन में ही पड़े रहते हैं। उनका संगीत और उपदेश एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना है।

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूँड।
जानैं[4] बूझै कछु नहीं, यों ही अंधा[5] रूँड ॥ ५ ॥
—३७३ ॥

शब्दार्थ—तूँड = (सं०—तुंड) मुख। रूँड=धड़। दीसे = दिखाई पड़ता है। करता दीसै कीरतन = कीर्तन करता हुआ दिखलाई पड़ता है।

व्याख्या—बहुत से कीर्तन करनेवाले मुख ऊँचा करके कीर्तन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु वे कीर्तन के मर्म को समझते नहीं। उनका इस प्रकार का कीर्तन ऐसे योद्धा के समान है जिसका सिर कट गया है और केवल धड़ रह गया है जिसको दिखलाई कुछ नहीं पड़ता। वह यों ही यन्त्रवत् इधर-उधर अस्त्र चलाता रहता है।

अलंकार—उपमा।

●

---

१. ना० प्र०—हरषियाँ। २. ना० प्र०—साषी कह्याँ। ३. ना० प्र०—सो तत नाँव न जाणियाँ, गल पै पड़िया फँध। ४. ना० प्र०—जाँणै। ५. ना० प्र०—आँधाँ।

(१९) कथनी बिना करनी को अंग

मैं जान्यौं[1] पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा तैं भल[2] जोग।
राँम नाँम सूँ प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग[3] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—तैं = से। पढ़िबा (राज०) = पढ़ने से। जोग = हृदय का लगाना। भल भल = भले ही, चाहे।

व्याख्या—मैं शास्त्र-पठन के विरुद्ध नहीं हूँ। मैं यह जानता हूँ कि शास्त्रज्ञान अच्छा है। किन्तु यदि वह केवल बौद्धिक स्तर पर रह गया, जीवन का अंग न बन सका, साधना में अवतरित न हो सका तो वह किस काम का ? पढ़ने से कहीं अधिक उपयोगी है—साधना। हे जीव ! राम-नाम से प्रेम कर। भले ही लोग तुम्हें अपढ़ समझकर तुम्हारी निन्दा करते रहें। अपढ़ राम का भक्त, पढ़े हुए, किन्तु भक्तिहीन, साधनाहीन व्यक्ति से कहीं अच्छा है।

कबिरा[4] पढ़िवा दूरि करि, पुस्तक देइ[5] बहाइ।
बावन अखिर[6] सोधि करि, ररै ममै चित लाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बहाइ = फेंक दे।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि शब्दजाल में मत पड़ो। पुस्तक को फेंक दो। इससे अध्यात्म-ज्ञान नहीं हो सकता। वर्णमाला के बावन अक्षरों को भली प्रकार से शोध करके 'र' और 'म' इन दो अक्षरों को ग्रहण करो। उनमें अपना हृदय लगाओ। राम की भक्ति करो। केवल इसी से अध्यात्म-ज्ञान हो सकेगा।

तुलनीय—

तुलसीदास ने भी कहा है—

एक छत्रु, एकु मुकुटमनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ ॥
(मानस—१।२०)

कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पड़ा[7] संसार।
पीर[8] न उपजी प्रीति सूँ, तौ क्यूँ करि करै पुकार ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—आथि = अस्त होना, समाप्त होना।

---

१. ना० प्र०—जान्यूँ। २. ना० प्र०—थैं भलो। ३. ति०—भगति न छाड़ौ राम की, भावे निदंउ लोग। ४. ति०—कबीर। ५. ति०—पुसतग देहु। ६. ना० प्र०—अषिर सोधि कै, गुप्त—अष्षर। ७. ना० प्र०—पढ्या। ८. ना० प्र०—पीड़।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि भक्तिविहीन शास्त्र का अध्ययन दूर करो। केवल वाक्य-ज्ञान में निपुण संसार अस्त होने के निकट है। यदि हृदय में प्रभु के प्रति सच्चे प्रेम की वेदना न हुई तो शुष्क शब्दों से प्रभु का पुकारना व्यर्थ है।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखर[1] पीव का,[2] पढ़ै सो[3] पंडित होइ॥४॥
—३७७॥

व्याख्या—केवल धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने से कोई सच्चा ज्ञानी नहीं हो जाता। ग्रन्थों को पढ़-पढ़कर संसार के प्राणी काल-कवलित होते चले गए। किन्तु कोई भी उनके द्वारां ज्ञानी न बन सका। जिसने प्रियतम के एक अक्षर को जान लिया है, वही वास्तविक ज्ञानी है।

टिप्पणी—यहाँ 'आखर' शब्द का बोधक है।

अलंकार—उल्लास।

---

१. ना० प्र०—अषिर। २. तिं०—प्रेम का। ३. ना० प्र०—सु।

(२०) कामी नर को अंग

कामिनि काली नागिनी,[१] तीनो[२] लोक मँझारि[३]।
रांम[४] सनेही ऊबरे, विषयी[५] खाये झारि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—मँझारि = बीच में। ऊबरे = बचे। झारि = पूर्ण रूप से।

व्याख्या—कामिनी तीनों लोकों (पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग) में काली नागिनी के समान है। उसने विषयासक्त लोगों को पूर्ण रूप से खा डाला है अर्थात् नष्ट कर दिया है। केवल राम के भक्त ही बच सके।

अलंकार—रूपक।

कामिनि[६] मीनीं[७] खाँड़[८] की, जे छेड़ौं[९] तौ खाइ।
जे[१०] हरि चरणाँ[११] राचिया, तिनके निकट[१२] न जाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मीनीं = (सं० मक्षिका) मधुमक्खी। खाँड़ = (ल०) शहद। राचिया= यह शब्द 'रचना' और 'रंजन' दोनों का तद्‌भव है। पहले का अर्थ है—रचना, दूसरे का अर्थ है—अनुरक्त। यहाँ दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

व्याख्या—कामिनी शहद की मधुमक्खी के समान है। जिस प्रकार मधुमक्खी को थोड़ा भी छेड़ा जाय तो वह कष्ट देती है, वैसे ही कामिनी के प्रति यदि थोड़ा भी अनुराग दिखाया जाय तो वह फँसाकर नष्ट कर देती है। किन्तु जो लोग भगवान के चरणों में अनुरक्त हैं, वह उनके पास नहीं फटकती। भाव यह है कि यदि कोई कामवश स्त्री के प्रति आकृष्ट होता है और उसके आकर्षण को यदि वह जान लेती है तो वह उसे अपने वश में करके सर्वथा विनष्ट कर देती है, परन्तु जो भगवान के भक्त हैं उनके हृदय में काम का संचार नहीं होता या काम की प्रबलता नहीं रह जाती। चित्त तो एक ही है, उसे चाहे काम में लगा दो, चाहे राम में।

तुलनीय—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
दोऊ कबहूँ ना मिलैं, रवि रजनी इक ठाम ॥
—कबीर

अलंकार—रूपक।

---

१. ना० प्र०—काँमणि काली नागणीं। २. ना० प्र०—तीन्यूँ, ति०—तीनिउं, यु०—तीन। ३. हनु० मझार, यु०—मंझार। ४. हनु०—यु०—नाम। ५. ति०—बिखई, यु०—विपिया। ६. ना० प्र०—काँमणि। ७. यु०—मीठी खाँड़ सी। ८. ना० प्र०—पाँणि। ९. यु०—छेरे तेहि। १०. यु०—जो। ११. यु०—चरने। १२. ना० प्र०—निकटि।

परनारी राता फिरैं,[1] चोरी बिढ़ता खाँहि[2] ।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि[3] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—राता = अनुरक्त । बिढ़ता = कमाई, बढ़ती । सरसा = हरे-भरे, आनन्द-पूर्वक । जाँहि = नष्ट हो जाते हैं ।

व्याख्या—जो पराई स्त्री में अनुरक्त रहते हैं अथवा जो चोरी की कमाई से अपना निर्वाह करते हैं, वे दोनों चार दिनों अर्थात् अल्पकाल के लिए भले ही फले-फूलें किन्तु अन्त में वे समूल नष्ट हो जाते हैं ।

टिप्पणी—इस साखी में 'सरस' शब्द में व्यञ्जनात्मक श्लेष है । परनारी में अनुरक्त व्यक्ति थोड़े दिनों के लिए रस (आनन्द) का अनुभव भले ही करें, किन्तु अंत में नष्ट हो जाते हैं । ऐसे ही चोरी की कमाई खानेवाले थोड़े दिनों के लिए भले ही सरस अथवा समृद्ध दिखाई दें, किन्तु अंत में उनका विनाश अवश्यंभावी है ।

परनारी पर सुन्दरी, बिरला बंचै कोइ ।
खाताँ मीठो खांड सी, अन्तकालि विष होइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बिरला = कोई । खाताँ = खाने में ।

व्याख्या—दूसरे की स्त्री अथवा दूसरे की सुन्दर बेटी या बहू के आकर्षण से कोई बिरले ही बचते हैं । वह ऐसी खाँड़ के समान है जो खाते या भोगते समय मधुर प्रतीत होती है, किन्तु अंतकाल में विषवत् सिद्ध होती है ।

अलंकार—उपमा ।

परनारी[4] कै राचनैं[5], औगुन है गुन नाँहिं[6] ।
खार समुंद मैं माछली,[7] केती[8] बहि बहि जाँहि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—औगुन = दोष । खार = खारी ।

व्याख्या—पराई स्त्री में अनुरक्त होने में सब दोष-ही-दोष हैं, अच्छाई कोई नहीं । जिस प्रकार न जाने कितनी मछलियाँ नदियों के प्रवाह में बहकर समुद्र के खारे जल में पहुँच जाती हैं, वैसे ही न जाने कितने लोग परनारी के मोह में पड़कर दुःखपूर्ण भव-सागर में निमग्न हो जाते हैं ।

अलंकार—निदर्शना ।

---

१. हनु०, वि०—यु०—रहै । २. हनु०, वि०-यु—बैठत खाय । ३. हनु०, वि०—यु०—अन्त समूला जाय । ४. अन्य—नारी केरे राचनैं । ५. ना० प्र०—राचणैं । ६. ना० प्र०—औगुण है गुण नाँहि । ७. ना० प्र०—षार समंद मैं मछला, हनु०-वि०-खार समुन्दर माछली । ८. ना० प्र०-केता ।

परनारी कौं राचनौं,[1] जस लहसुन की खानि[2]।
कोने बैठे खाइए,[3] परगट होइ निदानि[4] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—खानि = खाना। निदानि = अन्त में।

व्याख्या—पराई स्त्री के साथ भोग लहसुन के खाने के समान है। जैसे लहसुन को कितने ही कोने या एकान्त स्थान में बैठकर खाया जाय, किन्तु फिर भी उसकी गन्ध प्रकट हो जाती है, वैसे ही पराई स्त्री से कितना ही छिपकर भोग-विलास करें, अन्त में उसकी जानकारी हो ही जाती है।

यदि ना० प्र० का 'षूणें' पाठ लिया जाय, तब भी अर्थ में अन्तर नहीं आता। 'षूणें' का अर्थ है—शून्य या सूनसान।

अलंकार—उपमा।

नर नारी सब नरक है,[5] जब लग[6] देह सकाम।
कहैं कबीर ते राँम के,[7] जे सुमिरैं निहकाम[8] ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—निहकाम = निष्काम।

व्याख्या—जब तक देह में कामयुक्त तादात्म्य बना रहता है, तब तक चाहे नर हो या नारी, वह काम उसे नरक की ओर ले जाता है। अध्यात्म से विमुख होना और काम में रत होना ही नरक की ओर जाना है। जो निष्काम भाव से प्रभु का स्मरण करते हैं, वे प्रभु के द्वारा स्वीकृत हो जाते हैं या अपना लिये जाते हैं। इसमें एक व्यंजना यह है कि जब तक व्यक्ति सकाम है, तब तक वह सुमिरन करने पर भी प्रभु द्वारा अपनाया नहीं जा सकता।

सोरठा—नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबही हरै।
काँइ[9] गँवावै[10] देह, कारज[11] कोई ना सरै ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सेती = से। काँइ = क्यों। सरै = सिद्ध होना, फलदायक।

व्याख्या—नारी में अनुराग, बुद्धि और विवेक दोनों को हर लेता है। लोग व्यर्थ में इस अनुराग में अपने शरीर को क्यों नष्ट करते हैं, जबकि उससे कोई काम सिद्ध नहीं होता। इसमें सब हानि-ही-हानि है, लाभ कुछ भी नहीं।

तुलनीय—

बुधि बल सत्य सील सब मीना।
बंसी सम तिय कहहिं प्रबीना ॥
—तुलसी, मानस।

---

१. ना० प्र०—कौं राचणौं, अन्य—का राचना। २. ना० प्र०—जिसी ल्हसण की षांनि, अन्य—ज्यों लहसुन की खान। ३. ना० प्र०—षूणैं बैसि रषाइए, यु०—कोने वैठिकै खाइए। ४. ना० प्र०—दिवानि। ५. हनु०—नफर है, यु०—नर कहैं। ६. तिवारी०—लगि। ७. हनु०—ते राम का, यु०—सो राम, कां। ८. हनु०-यु०—जो सुमिरै निष्काम। ९. हनु०—काह, यु०—वृथा। १०. ना० प्र०—गमावै। ११. ना० प्र०—कारिज।

नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
बेगि छाँड़ि पछतायगा[1], ह्वैहै मूरति भंग[2] ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—रंग = रति।

व्याख्या—मानव में जितनी सहज प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें दो मुख्य हैं—आहार सहज प्रवृत्ति (Food Instinct) और काम सहज प्रवृत्ति (Sex Instinct)। पहली प्राण-संरक्षण के लिए है और दूसरी संतान-संरक्षण के लिए। प्रकृति ने इन दोनों प्रवृत्तियों को इन्हीं दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया है। जब इन उद्देश्यों को छोड़कर मानव आहार को स्वाद के लिए और नारी को रति के लिए ग्रहण करने लगता है, तब उसका विनाश होता है। इसी तथ्य को लक्ष्य करके कबीर ने इस साखी में कहा है कि यदि कोई नाना प्रकार के भोजन स्वाद-सुख के लिए खाता है और नारी का रंग अर्थात् रति के लिए उपयोग करता है तो उसका विनाश अवश्यंभावी है। कबीर कहते हैं कि ऐसे प्रेम को छोड़ दो, अन्यथा बाद में पछताओगे और तुम्हारा शरीर प्रणष्ट हो जायगा, तुम्हारा जीवन विनष्ट हो जायगा।

नारि नसावै तीनि गुन,[3] जेहि[4] नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज ग्यान मैं,[5] पैसि न सकई कोइ।[6]। १० ॥

व्याख्या—जो पुरुष नारी के संसर्ग में लिप्त रहता है, उसके तीन गुण—भक्ति, मुक्ति और ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति न तो भक्ति में प्रविष्ट हो सकता है, न मुक्ति में और न ज्ञान में।

एक कनक अरु कामिनीं[7], विष फल किया उपाय[8]।
देखत[9] ही ते विष[10] चढ़ै, चाखत ही मरि जाय[11] ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—उपाय = उत्पन्न।

व्याख्या—कनक (सोना और धतूरा) तथा कामिनी ये दोनों विष-फल के समान उत्पन्न किये गये हैं। इनके दर्शन मात्र से बिष चढ़ जाता है अर्थात् मोह का नशा छा जाता है और इनका स्वाद लेने से तो मनुष्य का विनाश हो हो जाता है।

अलंकार—'कनक' शब्द में श्लेष, दूसरी पक्ति में 'चपलातिशयोक्ति।

---

१. हनु०—पछताहुगे। २. हनु०—मूरति होइहै भंग। ३. ना० प्र०—तीन सुख। ४. ना० प्र०—जा, तिवारी०—जौ, हनु०—वि०—जो। ५. हनु०—भक्ति मुक्ति निज ध्यान में, यु०—भक्ति मुक्ति अरु ज्ञान में। ६. हनु०, वि०—पैठिन सकही कोय, यु०—पैठि न सक्कै कोय। ७. ना० प्र०—कांमनीं। ८. ना० प्र०—कीएउ पाइ, हनु०—विचार०—लिया उपाय। ९. ना० प्र०— देखै ही थैं विष चढ़ै। १०. तिवारी०—विख। ११. ना० प्र०—खाँये सू मरि जाइ।

एक कनक अरु कामिनीं[1], दोइ अगिन[2] की झाल।
देखे[3] ही तैं[4] परजरै, परसां[5] ह्वै पैमाल ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—झाल = लपट। परसां = स्पर्श करने से। परजरै = प्रज्वलित। पैमाल = (फा०-पायमाल) पाँव तले रौंदा हुआ, दुर्दशाग्रस्त।

व्याख्या—स्त्री और स्वर्ण दोनों आग की लपट के समान हैं जिनके देखने ही से शरीर प्रज्वलित हो जाता है अर्थात् आकर्षण की उष्णता जाग उठती है और स्पर्श करने से तो मनुष्य विनष्ट ही हो जाता है।

अलंकार—रूपक, चपलातिशयोक्ति, व्यतिरेक।

कबीर[6] भग की प्रीतड़ी,[7] केते गए गडंत।
केते औरौ जाँहिगे,[8] नरक[9] हसंत हसंत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—गडंत = कब्र में गाड़ दिए गए।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि स्त्री के प्रेम में फँसकर न जाने कितने लोग कब्र में गाड़ दिए गए तथा और न जाने कितने लोग हँसते-हँसते नरक में जायेंगे।

टिप्पणी—'हसंत हसंत' में विचित्र व्यञ्जना है। मनुष्य समझता है कि वह सुख भोग रहा है, आनंद उठा रहा है, किन्तु वह जा रहा है नरक की ओर। 'हसंत हसंत' सुख-बोध का प्रतीक है।

जोरू जूठनि[10] जगत की, भले बुरे का[11] बीच।
उत्तिम[12] ते अलगे रहैं, निकटि रहैं ते नीच[13] ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—बीच = अंतर। जोरू = स्त्री।

व्याख्या—स्त्री जगत् की जूठन के समान है। उसी के द्वारा भले-बुरे का अतंर ज्ञात होता है। जैसे उत्तम लोग जूठन से दूर रहते हैं, परन्तु नीच जूठन को ही अपनाते हैं, वैसे ही उत्तम लोग स्त्री के संसर्ग से दूर रहते हैं और जो नीच हैं वे उसके संसर्ग को ही जीवन का लक्ष्य समझते हैं।

अलंकार—रूपक।

---

१. ना० प्र०—कौंमनीं। २. ना० प्र०—दोऊ अगनि हनु०—यु०—दोऊ अग्नि। ३. हनु०—विचार०—देखत हीं ते परजरै,। ४. ना० प्र०—तन प्रजलै। ५. ना० प्र०—पररयां, हनु०—परसि करै। ६. हनु०, युगला०—कविरा। ७. यु०—प्रीतरी। ८. ना० प्र०—अजहूँ जायसी। ९. ना० प्र०—नरकि, यु०—नरके। १०. ना० प्र०—जूठणि, हनु०—जूठन · ११. यु०—विचार०—के। १२. ना०-प्र०—उत्यम, यु०— वि०—उत्तम सो अलगा रहै। १३. ति०—मिलि खेलें ते नीच, हनु०, यु०—वि०—मिलि खेलं सो नीच।

नारी कुंड नरक का,[१] बिरला थाँभै[२] बाग[३]।
कोइ[४] साधू जन ऊबरै[५], सब जग मूवा लाग[६] ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—थाँभै = रोकना। बाग = लगाम। मूवा = मर गया। लाग = लगकर।

व्याख्या—नारी नरक का कुण्ड है। कोई विरला व्यक्ति ही उस ओर जाने से नियन्त्रण रूपी लगाम लगा पाता है अर्थात् इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर पाता है। विरले संयमी पुरुष ही उससे बच पाते हैं, अन्यथा अधिकांश लोग उसके पीछे लगकर विनाश को प्राप्त होते हैं।

अलंकार—रूपक।

सुन्दरि तैं[७] सूली भली, बिरला बंचै[८] कोइ।
लोह[९] लिहाला अगनि[१०] मैं, जरि बरि[११] कोइला होइ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—लिहाला = डाला गया, पड़ा हुआ।

व्याख्या—सुन्दरी से शूली अच्छी है। शूली पर चढ़ा हुआ व्यक्ति शायद बच भी जाय, किन्तु नारी में आसक्त पुरुष विनष्ट होने से बच नहीं सकता। जैसे आग में डाला हुआ अत्यन्त पुष्ट लोहा भी जलकर खाक़ हो जाता है, वैसे ही शक्ति-सम्पन्न पुरुष भी नारी के चंगुल में फँसकर विनाश को प्राप्त होता है।

अलंकार—निदर्शना।

अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि बकसिहैं[१२], काँमी डाल न मूल ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—और = अन्य। गुनह = अपराध। बकसिहैं = क्षमा कर देंगे।

व्याख्या—अज्ञानांध मनुष्य श्रेय को नहीं जान पाता। इसलिए उसके संशय का शूल समाप्त नहीं होता। जब तक अज्ञान है, तब तक प्रभु के विषय में, परम श्रेय के विषय में उसको संशय बना रहता है। वह जो कुछ इन्द्रियों से अनुभव करता है, उसी को सत्य मान लेता है। परमात्मा, मोक्ष आदि के विषय में उसे संदेह बना रहता है। प्रभु एक बार चाहे अन्य अपराधों को क्षमा भी कर दे, किन्तु कामी को वह डाल और मूल सहित अर्थात् सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर देते हैं।

भगति बिगाड़ो काँमियाँ,[१३] इन्द्री केरे स्वादि।
हीरा खोया हाथ तैं[१४], जनम गँवाया[१५] बादि ॥ १८ ॥

---

१. हनु०, वि०-यु०-कुंडी नरक की। २. ना० प्र०-थंभैं। ३. तिवारी-यु०-बागि। ४. ना० प्र०-कोई। ५ हनु०, यु०—वि०-ऊबरा। ६. ति०—यु०—लागि। ७. ना० प्र०—थैं, हनु०, वि०—यु०—ते। ८. अन्य-बाँचै। ९. हनु०-लाहै अग्नि ज्यौं, यु०— वि०-लुहालै अगिनि मैं। १०. तिवारी०-आगि ज्यूँ। ११. ना० प्र०—जलि बलि। १२. ना० प्र०—बकससी। १३. यु०—भक्ति बिगारी कामियौं। १४. ना० प्र०-थैं; यु०-सो। १५. यु०—गँवायो।

शब्दार्थ—कांमियां = कामीजन । बादि = व्यर्थ में ।

व्याख्या—कामीजनों ने इन्द्रियों के स्वाद के वशीभूत होकर भक्ति को विकृत कर रखा है। वे भक्ति की ओट में लोगों पर प्रभाव जमाकर भोग-विलास का साधन एकत्र करते हैं। उन्होंने अपना जन्म तो नष्ट किया ही, यह लोक तो बिगाड़ा ही, हीरा के समान प्रकाशमान और स्वच्छ आत्मतत्त्व को भी खो दिया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

> कामी अमीं[1] न भावई, बिख ही[2] कौं ले सोधि।
> कुबुधि न जाई[3] जीव की, भावै स्यंभ प्रमोधि[4] ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—अमी = अमृत । भावई = प्रिय लगना, अच्छा लगना । सोधि=खोजकर । भावै = चाहे । स्यंभ = स्वयंभू, परमात्मा अथवा शंभु । प्रमोधि = प्रबोध, उपदेश ।

व्याख्या—कामी पुरुष को भक्ति रूपी अमृत अच्छा नहीं लगता। वह विषय-विष को ही खोजकर ग्रहण करता है। लोग अमृत की खोज में रहते हैं, वह विष को ही अमृत समझता है। बेचारे जीव की दुर्बुद्धि नहीं जाती, चाहे स्वयं प्रभु ही अथवा शिव हो उसे क्यों न उपदेश दें।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

> विषै विलंबी आतमाँ, ताका मजकण[5] खाया सोधि।
> ग्याँन अंकूर न ऊगई, भावै निज परमोध[6] ॥ २० ॥

शब्दार्थ—विलंबी = रमी हुई । मजकण = मध्यकण, दाने के बीच का सार ।

व्याख्या—जो जीवात्मा विषयों में रमा रहता है, उसकी वही दशा होती है जो उस अन्नकण की होती है जिसके सार भाग को घुन खा गए हैं। जैसे उस अन्न को बोने से अंकुर नहीं निकलता, उसी प्रकार उस अन्तःकरण में ज्ञान का अंकुर नहीं उग सकता जिसको विषय-वासना रूपी घुन ने चाल डाला है। ऐसे व्यक्ति में ज्ञान कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता, चाहे उसे स्वयं आत्मतत्त्व ही क्यों न प्रबुद्ध करे।

अलंकार—रूपक ।

> काम करम की कैंचुली,[7] पहिरि हुआ नर नाग।
> सिर फोरै[8] सूझै नहीं, कोइ आगिला अभाग[9] ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—आगिला = पूर्व जन्म का । अभाग = दुर्भाग्य ।

---

१. गु०—अमृत । २. ना० प्र०--विषयो, हनु०--विष को, यु०--विष कूँ गुप्त०--विष ई । ३. हनु०, यु०--भाजै । ४. ति०--भावै त्यौं परमोधि । ५. गुप्त—मनकण । ६. ना० प्र०--प्रमोध । ७. ना० प्र०—विषै कर्म की कंचुली, हनु०--कामी करम की कैंचुलि, यु०--कामी कर्म की काँचली । ८. ना० प्र०—फोड़ै । ९. यु०--हनु०--कोइ पूरबला भाग ।

व्याख्या——सर्प जब केंचुली से ढँक जाता है, तब उसे कुछ नहीं दिखलाई पड़ता। वह अंधा हो जाता है। उसी प्रकार जो व्यक्ति काम-प्रेरित कार्य की केंचुल से ढँक जाता है, वह सर्प के समान अंधा हो जाता है अर्थात् उसमें भद्र-अभद्र, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ का विवेक नहीं रह जाता है। चाहे वह लाख सिर पटके, किन्तु प्रबल काम के प्रभाव के कारण उसे सन्मार्ग नहीं सूझता। यह दुर्भाग्यावस्था किसी पूर्वजन्म के पाप का ही परिणाम है।

अलंकार—सांगरूपक।

कामी कदे न हरि भजै, जपै न केसौ जाप।
राँम कहे तैं जलि मरै, कोइ पूरबला[१] पाप॥ २२॥

शब्दार्थ—कदे = कदा, कभी भी। केसौ = केशव। जलि मरै = क्रोधाभिभूत होना। पूरबला = पूर्व जन्मका।

व्याख्या—कामी कभी भी प्रभु का भजन नहीं करता और न प्रभु का जप करता है। वह रामनाम के कहने या सुनने मात्र से जल-भुन उठता है। रामनाम के जप के प्रभाव से विषय-भोग की लालसा क्षीण होने लगती है। विषयी या कामी विषय-भोग को ही अपना जीवन समझता है। उसे यह भय बना रहता है कि रामनाम के जप से विषय-भोग का जीवन नष्ट होने लगेगा। अतः उसके अवचेतन मन में राम-नाम या भगवत् जप के प्रति सहज विरोध की भावना रहती है। उसकी यह प्रवृत्ति किसी पूर्वजन्म के पाप का परिणाम है।

काँमी लज्जा[२] ना करै, मन माँही अहलाद[३]।
नींद न माँगै सांथरा,[४] भूख[५] न माँगै स्वाद॥ २३॥

शब्दार्थ—अहलाद = प्रसन्नता। साँथरा = बिस्तर, चटाई, बिछौना।

व्याख्या—कामीजन को सामाजिक मर्यादा का ध्यान नहीं रहता। वह विषय-भोगजन्य पूर्वानुभूत आनन्द की स्मृति से प्रेरित होकर काम के वश में हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसे उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रह जाता है। जैसे निद्रा से आक्रान्त व्यक्ति किसी बिस्तर की अपेक्षा नहीं करता, वह कहीं भी सो जाता है तथा भूखा व्यक्ति स्वादिष्ट भोजन की अपेक्षा नहीं करता, उसे जो भी रूखा-सूखा मिल जाय उसे खा लेता है, वैसे ही कामी व्यक्ति उचित-अनुचित का ध्यान न रखते हुए केवल नारी का संसर्ग और उपभोग चाहता है।

अलंकार—दृष्टान्त।

---

१. गुप्त—पूरबिला। २. ना० प्र०—लज्या। ३. ना० प्र०—माँहै अहिलाद। ४. गु०—थाहरा। ५. ना० प्र०—भूष।

नारि पराई आपनी,[१] भुगतें[२] नरकहिं जाइ।
आगि आगि सब[3] एक है, देत हाथ जरि जाइ[४] ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—भुगतें = भोग करने से।

व्याख्या—काम का सहज भाव मनुष्य को सन्तानोत्पत्ति के लिए मिला है, भोग-तृप्ति के लिए नहीं। यदि वह भोग की लालसा से काम की तृप्ति करता है तो चाहे अपनी नारी हो या पराई, वह नरक में ही जाएगा। आग चाहे अपने घर की हो या पराए घर की, है तो आग ही। उसमें हाथ डालते ही व्यक्ति जल जाता है। उसी प्रकार जब हम भोग-वासना से नारी के प्रति आकृष्ट होते हैं, तब वह चाहे अपनी हो या पराई, हमारा विनाश अवश्यंभावी है।

यदि ना० प्र० का पाठ 'आगि आगि सबरौ कहैं, तामैं हाथ न वाहि' लिया जाय तो अर्थ होगा—आग को सभी आग ही कहते हैं। इसलिए उसमें हाथ न डाल। 'बाहि' का अर्थ है—डालना, ले जाना।

अलंकार—दृष्टान्त।

कबीर[५] कहता जात हौं,[६] चेतै[७] नहीं गँवार।
बैरागी गिरही कहा, काँमी वार न पार ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—गिरही = गृही, गृहस्थ। वार-पार = एक किनारा, दूसरा किनारा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं कितनी ही चेतावनी देता हूँ, किन्तु मूर्ख व्यक्ति चेतता नहीं। उसने चाहे संन्यास ले लिया हो अथवा वह गृहस्थ हो, यदि वह विषयी हो जाता है, काम में सदा लिप्त रहता है तो उसका न यहाँ ठिकाना है न वहाँ। उसकी न इस लोक में सद्गति है न परलोक में।

ग्यानी तौ नीडर भया, माँनै नाँही संक।
इन्द्री केरे बसि पड़ा[८], भूँजै[९] बिखै निसंक ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—नीडर=निडर, निर्भय। भूंजै=भोगता है।

व्याख्या—शास्त्र, पोथी-वाचक तथाकथित ज्ञानी तो और भयंकर दुःस्थिति में रहता है! उसे लोकमत का भय नहीं रहता। वह समझता है कि मुझे ज्ञानी समझकर लोग मेरे कर्मों में दोष नहीं निकालेंगे। इसलिए उसे लोकापवाद का भय नहीं रह जाता और वह इन्द्रियों के वश में होकर निश्चिन्त भाव से विषयों का सेवन करता रहता है।

---

१. ना० प्र०—आपणीं। २. ना० प्र०—भुगत्याँ। ३. ना० प्र०—सबरौ कहैं, यु०—सब एक सी। ४. ना० प्र०—तामैं हाथ न वाहि। ५. यु०—हनु०—कहता हूँ कहि जात हूँ। ६. ति०—हूँ। ७. यु०—समुझै, हनु०—मानै। ८. ना० प्र०—पड्या। ९. ना० प्र०—भूँचै विषै।

ग्याँनी मूल गँवाइया, आपै[1] भये करता।
तातैं[2] संसारी भला, मन में रहै डरता ॥ २७ ॥
—४०४ ॥

शब्दार्थ—आपै = स्वयं। तातैं = इससे। कर्त्ता = स्रष्टा, परमात्मा।

व्याख्या—तथाकथित पंडितमन्य ज्ञानी, जिसको 'सोहं' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, का मिथ्याभिमान हो जाता है, वह अपने मूल अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत हो जाता है और उसे विषयजन्य दोषों का ध्यान नहीं रह जाता है। वह विषय-भोग के वशीभूत हो जाता है। उससे तो संसारी पुरुष अच्छा है, क्योंकि वह अपने को कर्त्ता तो नहीं समझता है। उसके मन में लोकमत या ईश्वर का कुछ भय तो बना रहता है।

---

१. ना० प्र०—आपण। २. ना० प्र०—तायैं।

(२१) सहज को अंग

सहज = 'सहज' शब्द का अर्थ है—सह जायते इति सहजः अर्थात् जो स्वभावतः है। सहजावस्था वह है जिसमें आत्म-अनात्म, पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति, प्रज्ञा-उपाय, निवृत्ति-प्रवृत्ति समरस रहते हैं। जब जीव अनात्म की ओर उन्मुख हो जाता है और आत्म-स्वरूप से वियुक्त हो जाता है; प्रवृति की ओर, संसार की ओर, विषयों की ओर उन्मुख रहता है, तब असहजावस्था कहलाती है। सहज-साधना का लक्ष्य है—शिव-शक्ति, प्रवृत्ति-निवृत्ति, करुणा-उपाय को पुनः अपनी स्वाभाविक अवस्था-समरसता-में कर देना—कबीर के शब्दों में 'राम-रस' का अनुभव।

सहज-सहज सब कोइ[1] कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिहि[2] सहजै विषया[3] तजी[4], सहज कहीजै[5] सोइ॥ १॥

व्याख्या—सभी 'सहज सहज' कहते हैं, सहज की दुहाई देते हैं. परन्तु 'सहज' को पहचानता कोई नहीं। जो सत्पुरुष की स्थिति में रहता है, सरलता से विषयों को छोड़ देता है, उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता, वह स्वभावतः आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है। वस्तुतः उसी को 'सहज' कहना चाहिए।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश, यमक।

सहज-सहज सब कोइ[6] कहै, सहज न चीन्है[7] कोई।
पाँचौ[8] राखै पसरती[9], सहज कहीजै[10] सोइ॥ २॥

शब्दार्थ—पाँचौ=पाँच इन्द्रियाँ। राखै=वश में रखता है। पसरती=विषयों की ओर फैलती हुई।

व्याख्या—सहज का नाम तो सभी लेते हैं, किन्तु वस्तुतः 'सहज' को कोई जानता नहीं। जो विषयों की ओर प्रवृत्त होती हुई, पसरती हुई इन्द्रियों को वश में रखता है, उसी को 'सहज' कहना चहिए।

यदि 'परसती' पाठ लिया जाय तो भी अर्थ में कोई अंतर नहीं आता। इस पाठ में 'परसती' का अर्थ होगा—विषयों का स्पर्श करती हुई।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश, यमक।

---

१. ना० प्र०—सबकौ। २. ना० प्र—जिन्ह, हनु०—यु०—वि०—जा। ३. गुप्त—विषिया। ४. अन्य—तजै। ५. अन्य—कहावै। ६. ना० प्र०—सबकौ। ७. हनु०—जानै। ८. ना० प्र०—पाँचू। ९. ना० प्र०—परसती, गुप्त—परसता। १०. अन्य—कहावै।

सहजैं-सहजैं सब गए[1], सुत वित कामिनि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रहा[3], दास[4] कबीरा राम॥ ३॥

शब्दार्थ—सहजैं-सहजैं=सरलतापूर्वक। सुत=पुत्र। वित = सम्पत्ति। कामिनि=स्त्री।

व्याख्या—इस साखी में 'सहजैं-सहजैं' पारिभाषिक अर्थ में नहीं-प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'सहजैं' का अर्थ है—सरलतापूर्वक, स्वतः। साधना दो प्रकार की होती है—एक तो नाना प्रकार की यन्त्रणाओं से इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबाना और दूसरे प्रभु में इतना तीव्र अनुराग हो जाना कि विषयों का आकर्षण स्वतः छूट जाय। कबीरदास की साधना इसी दूसरे प्रकार की थी और उसी दृष्टि से वह कहते हैं कि मेरी पुत्र, धन, कामिनी और काम में आसक्ति सहज भाव से अर्थात् सरलतापूर्वक चली गई और मैं राम से एकरस हो गया। मैं तो इसी को 'सहज' कहता हूँ।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश।

सहज सहज सब कोइ[5] कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिहि[6] सहजै[7] साहिब मिलै, सहज कहीजै[8] सोइ॥ ४॥
—४०८॥

व्याख्या—'सहज' शब्द का प्रयोग सभी लोग करते हैं, किन्तु कोई उसे पहचानता नहीं। जिस साधना से सहज में, स्वभावतः, सरलता से प्रभु से एकाकार हो जाया जाय, उसी को वस्तुतः सहज कहना चाहिए।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश, यमक।

---

१. हनु०–वि०–यु०–गया। २. ना० प्र०–काँमणि, हनु०–वि०–यु०–काम निकाम। ३. ना० प्र०–रह्या। ४. ना० प्र०–दासि। ५. ना० प्र०–सबको। ६. ना० प्र०–जिन, हनु०–वि०–जा। ७. ना० प्र०–हरि जी। ८. अन्य– कहावै।

(२२) साँच को अंग

कबीर पूँजी साहु[१] की, तूँ जनि[२] खोवै ख्वार[३]।
खरी बिगूचनि होइगी,[४] लेखा देती बार ॥ १ ॥

शब्दार्थ—साहु = महाजन। ख्वार (फा०) = अपमानित, तिरस्कृत, दुर्दशाग्रस्त। बिगूचनि = असमंजस या अड़चन में पड़ना। लेखा = हिसाब।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! यह मानव जीवन प्रभु रूपी महाजन के द्वारा एक पूँजी के समान दिया गया है। तू इसको विषयासक्ति और कुकर्मों से बुरी तरह नष्ट न कर, अन्यथा प्रभु को हिसाब देते समय तुझे भारी अड़चन का सामना करना पड़ेगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

लेखा देनां[५] सोहरा, जे[६] दिल साँचा[७] होइ।
उस[८] चंगे[९] दीवान मैं, पला न पकड़ै[१०] कोइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सोहरा = शुद्ध, सरल, आसान। चंगे = खासा, अच्छा, निर्मल। दीवान= दरबार। पला पकड़ै = दामन पकड़ना।

व्याख्या—जिसका दिल सच्चा हो, उसके लिए हिसाब देना बहुत ही सरल है। जिसने सच्चाई के साथ जीवन व्यतीत किया है, उसका प्रभु के निर्मल एवं खुले दरबार में कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता अर्थात् उसका दामन पकड़कर कोई रोक नहीं सकता।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर चित्त चमंकिया, किया पयाना दूरि[११]।
कायथ[१२] कागद[१३] काढ़िया, दरगह[१४] लेखा पूरि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—चमंकिया = चौंकना। पयाना = प्रयाण। कायथ = कायस्थ, चित्रगुप्त, लिपिक। दरगह = (फा०—दरग़ाह) दरबार। पूर = पूर्ण, पूरा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब जीव ने दूर प्रयाण किया अर्थात् यमलोक गया और चित्रगुप्त ने कागज निकालकर पूरा लेखा-जोखा सामने रखा, तब जीव का चित्त अपने कर्मों का विवरण देखकर चौंक उठा।

---

१. ना० प्र०—साह। २. ना० प्र०—जिनि, हनु०—वि०—मति। ३. ना० प्र०—ष्वार। ४. हनु०—बिगूचन होयगी, वि०—बिगुरचन होयगी। ५. ना० प्र०—देणाँ। ६. ति०—हनु०—जौ। ७. ति०—सूची। ८. हनु०—साईं के दरबार में। ९. ति०—साँचै। १०. हनु०—पकरै। ११. हनु०—दूर। १२. ना० प्र०—काइथि। १३. हनु०— कागज। १४. ना० प्र०—तब दरिगह।

कायथ[1] कागद[2] काढ़िया, लेखा वार न पार[3]।
जब लग साँस[4] सरीर मैं, तब लग नाम[5] संभार ॥ ४ ॥

शब्दार्थ--सँभार = ध्यान रख।

व्याख्या--जब चित्रगुप्त तेरे कागज को निकालकर सामने रखेगा, तब तेरे असत् कर्मों का वार-पार नहीं मिलेगा। इसलिए जब तक तू जीवित है, तेरे शरीर में श्वास चल रहा है, तब तक अपनी चेतना में राम-नाम को सँभालकर निरन्तर रख अर्थात् वह तेरी चेतना से कभी अलग न होने पाये।

यह[6] सब झूठी बंदगी,[7] बिरिया पाँच[8] निवाज।
साँचै[9] मारै झूठ पढ़ि, काजी[10] करै अकाज ॥ ५ ॥

शब्दार्थ--वंदगी = वंदना, पूजा। बिरिया पाँच = पाँच बार।

व्याख्या--हे काजी! तू पाँच बार नमाज पढ़ता है। क्या तू कुरान की आयतों के अनुसार आचरण भी करता है? यदि तू केवल तोते के समान उन आयतों का पाठ-मात्र करता है तो तेरी यह वंदना झूठी है। यंत्रवत् वाचिक प्रार्थना से तू तत्त्व को नहीं पहचान सकता। शब्दों के जाल में फँसे रहने से सत्य की हत्या ही होगी और तू अपना ही अकाज करेगा अर्थात् जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तू वंदना करता है, उससे च्युत हो जाएगा। तू अपनी ही हानि करेगा।

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रम्ह हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं साँचा होइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ--हतै = हनन करता है। मसीति = मस्जिद। दरि = दरबार में।

व्याख्या--इस साखी के प्रथम चरण का अन्वय इस प्रकार होगा--'काजी स्वादि बसि हतै, तब ब्रम्ह दोय।' यहाँ 'ब्रह्म' 'हतै' का कर्म नहीं है, जैसा कि प्रायः टीकाकारों ने मान लिया है।

कबीर कहते हैं कि जब काजी स्वाद के वश में होकर, रसना की तृप्ति की लालसा में हलाल करता है, जीव का वध करता है, उस समय वह ब्रह्म को द्वैत की दृष्टि से देखता है अर्थात् वह स्वयं तथा जिस जीव का वध करता है, में भिन्न-भिन्न ब्रह्म मानता है। किन्तु मसजिद पर चढ़कर जब वह बाँग देता है--'ला इलाह इल्लिल्लाह, मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह' अर्थात् अल्लाह केवल एक है, तब वह ब्रह्म के एकत्व की घोषणा करता है। ईश्वर के दरबार में वह अपनी सच्चाई को कैसे स्पष्ट करेगा? वह इस

---

१. ना० प्र०--काइथि। २. हनु०--कागज। ३. ना० प्र०--तव लेखै वार न पार। ४. हनु०--श्वांस। ५. ना० प्र०--राम। ६. ना०प्र०--यहु। ७. ना० प्र०--वंदिगी। ८ ना० प्र०--बिरियाँ पँच। ९. हनु०--साँचहि मारै झपटि कर। १०. हनु०--जिव का।

द्वैत-भाव को कैसे छिपाएगा ? घोषणा में ब्रह्म एक, आचरण में ब्रह्म दो—कथनी-करनी का यह अंतर कैसे छिपेगा ?

> काजी मुल्लां भरमियां,[१] चला[२] दुनीं के साथि।
> दिल तैं[३] दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—दुनीं = संसार। दीन = धर्म। करद=बड़ी छुरी या कटार। बिसारिया= भूल गये।

व्याख्या—काजी और मुल्ला जो औरों को भ्रम से हटाकर धर्म का उपदेश देते रहते हैं, स्वयं भ्रम के शिकार हो गये। वे जब हाथ में छुरी लेकर हलाल करते हैं, तब वे जिसको उपदेश देते थे, उसी के साथ चलते रहते हैं अर्थात् उसके समान आचरण करने लगते हैं और धर्म को हृदय से भुला देते हैं।

> जोरी करि जिबहैं करैं,[४] कहते हैं ज[५] हलाल।
> जब दफतर देखैगा दई,[६] तब ह्वैगा कौन[७] हवाल ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—जोरी (फा०) = बलपूर्वक। जिबहै = (अ०—जबह) वध, हत्या हलाल (अ०) = विहित, जिसका खाना-पीना धर्म में वर्जित न हो। दफतर = लेखा, कर्मपत्री। दई = ईश्वर।

व्याख्या—लोग बेचारे पशु का बलपूर्वक वध करते हैं और कहते हैं कि यह कार्य धर्म-विहित है। जब ईश्वर के दफ्तर में लेखा-जोखा होगा, तब ऐसे लोगों की धर्मानुरूप वध की डींग समाप्त हो जायेगी। तब क्या दशा होगी ?

> जोर[८] किया सो जुलुम है, लेइ जवाब खुदाइ।
> खालिक दरि खूनी खड़ा,[९] मार[१०] मुँहैमुँह खाइ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—जोर = जबर्दस्ती, बलपूर्वक। जुलुम = अत्याचार। खालिक (अ०) = विधाता, स्रष्टा। दरि = दरवाजे पर। खूनी = हत्यारा।

व्याख्या—बलपूर्वक वध अन्याय है जो कि 'हलाल' आदि शब्दों की ओट में छिपाया नहीं जा सकता। ईश्वर के सामने इस अत्याचार का उत्तर देना पड़ेगा। जब तुम प्रभु के दरबार में खड़े होगे, उस समय यह नहीं माना जायगा कि तुमने हत्या धर्म-विहित की है। उस समय तुम हत्यारे समझे जाओगे और तुम्हें भरपूर दण्ड मिलेगा।

---

१. ना० प्र०—मुलां भ्रमियां। २. ना० प्र०—चल्या। ३. ना० प्र०—थैं। ४. ना० प्र०—जोरी कलिर जिहै करैं, ति०—जीव जु मारहिं जोर करि। ५. ति०—जु। ६. ति०—जब दफतरि लेखा माँगिहै। ७. ना० प्र०—कौंण। ८. ना० प्र०—जोरी कीया जुलम है, माँगै न्याव खुदाइ। ९. ति०—दफतरि लेखा नीकसैं। १०. ति०—मारि।

साँई सेती चोरियाँ, चोरों[1] सेती गुज्झ[2] ।
जानैगा रे[3] जीवड़ा,[4] मार[5] पड़ैगी तुज्झ[6] ॥ १० ॥

शब्दार्थ—सेंती = से । चोरियाँ = छिपाना । गुज्झ = घनिष्ठता, मित्रता ।

व्याख्या—हे जीव ! तू प्रभु से दुराव करता है और काम, क्रोधादि जीवन-सत्य के चोरों से गठबंधन करता है । इस आचरण का परिणाम तुझे तब समझ में आयेगा, जब इसके कारण तुझ पर ईश्वर के दरबार में मार पड़ेगी ।

सेख[7] सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ ।
जाकौ[8] दिल साबित[9] नहीं, ताकौ[10] कहाँ खुदाइ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सबूरी=(अ० सब्र) संतोष । बाहिरा = बाहर । हज (अ०)=मुसलमानों का काबे के दर्शन के लिए जाना । काबै (अ०) = काबा, मक्का नामक स्थान में एक शहर है, जहाँ एक इमारत है जिसे मुसलमान ईश्वर का घर समझकर दर्शनार्थ जाते हैं । साबित (अ०) = सच्चा, स्थिर, समग्र ।

व्याख्या—हे शेख ! तू संतोष से वंचित है, विषयों में फँसा है, तब बाह्याचार करने से अर्थात् काबे में हज के लिए जाने से क्या लाभ ? तू भीतर से विषयासक्त है और बाहर से ईश्वर का दर्शन करना चाहता है । तेरा हृदय ही विकृत है । उसमें समग्रता नहीं है । दिल में कुछ और है, बाहर दिखावा कुछ और है । फिर तुझे ईश्वर का दर्शन कैसे हो सकता है ?

खूब खाँड़[11] है खीचड़ी,[12] माँहि[13] पड़ै टुक लौंन[14] ।
पेड़ा[15] रोटी खाइ करि, गला कटावै कौन[16] ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—खाँड़ = मीठी । लौंन = नमक ।

व्याख्या—सादा भोजन खिचड़ी यदि उसमें थोड़ा-सा नमक पड़ा हो, काफी मीठा एवं तृप्तिकर है । उस सादे भोजन को छोड़कर भोगलिप्सा की दृष्टि से अधिक स्वादिष्ट पेड़ा-रोटी का भोजन खाकर अपना गला कौन कटावे अर्थात् कौन ऐसा मूढ़ होगा जो अपने विनाश की ओर अग्रसर होगा ?

इस साखी में इस तथ्य का संकेत है कि जीवन के लिए भोजन आदि जो नितान्त आवश्यक वस्तुएँ हैं, उनको उतना ही ग्रहण करना चाहिए, जितने से जीवन का निर्वाह हो जाए । यदि हम केवल स्वाद के लिए, भोग-लिप्सा की दृष्टि से प्रवृत्त होते हैं तो वासना के राज्य में पड़कर अपना विनाश ही करते हैं ।

---

१. ना० प्र०—चोराँ । २. ना० प्र०—गुझ । ३. ना० प्र०—जाणैंगा । ४. ति०—तब जानैंगा जीयरा । ५. ति०—जब मारि परैगी तुज्झ, हनु०—मार परेगा तूझ । ६. ना० प्र०—तुझ । ७. ना० प्र०—सेष । ८. ना० प्र०—जिनकी । ९. ना० प्र०—स्याबति । १०. ना० प्र०—तिनकौं । ११. ति०—खान । १२. ति०—खीचरी । १३. ति०—जे टुक बाहै लौंन । १४. ना० प्र०—लूँण । १५. ति०— हेरा रोटी कारनैं, गुप्त०—हेड़ा । १६. ना० प्र०—कौंण ।

पापी पूजा बैसि करि, भखैं[1] माँस मद दोइ।
तिनकी देखा[2] मुकति नहिं,[3] कोटि नरक फल होइ॥ १३॥

शब्दार्थ—बैसि करि = बैठकर।

व्याख्या—पापी लोग सामान्य ढंग से माँस-मदिरा का सेवन करते ही हैं, किन्तु दुःख इस बात का है कि वे पूजा में बैठकर भी देवी-देवता के नाम पर मांस-मदिरा का भक्षण करते हैं। ऐसे लोगों की कहीं मुक्ति नहीं देखी गई अर्थात् ऐसे लोग कभी मुक्त नहीं हो सकते। उन्हें अपने दुष्कर्मों के लिए करोड़ों नरक का फल भुगतना पड़ेगा।

टिप्पणी—शाक्त लोग पूजा में मांस-मदिरा आदि काली को चढ़ाते हैं।

सकल बरण एकत्र[4] ह्वै, सकति पूजि मिलि खाँहि।
हरि दासनि की भ्रान्ति करि, केवल जमपुर जाँहि॥ १४॥

शब्दार्थ—सकति=शक्ति।

व्याख्या—सामान्यतया विभिन्न वर्णों के लोग एक साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकते, किन्तु शक्ति की पूजा के नाम पर मांस-मदिरा के सेवन के लिए विभिन्न वर्णों के कट्टरपंथी लोग भी एक साथ मिलकर प्रसाद के आवरण में जी खोलकर मांस-मदिरा का सेवन करते हैं। वे लोगों में केवल हरि-भक्ति का भ्रम फैलाते हैं। हरि का भक्त कभी हरि के जीव की हत्या करके भोजन नहीं करेगा। ऐसे लोग निःसंदेह यमपुर जाएँगे।

कबीर लज्जा[5] लोक की, सुमिरै[6] नाहीं साँच।
जानि बूझि कंचन तजै, काठा[7] पकड़ै काँच॥ १५॥

शब्दार्थ—काठा=(सं०=कण्ठ) किनारा, सहारा, आश्रय।

व्याख्या—कितने लोग ऐसे हैं जो केवल लोक-लाज के कारण प्रभु का सुमिरन, जप किया करते हैं, सच्चे मन से भक्ति नहीं करते। ऐसे लोग जान-बूझकर प्रभु-प्रेम रूपी कंचन को छोड़कर केवल काँच का सहारा ले रहे हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

कबीर[8] जिनि जिनि[9] जानियाँ[10], करता केवल सार।
सो प्राणी काहे चलै, झूठे जग[11] की लार॥ १६॥

शब्दार्थ—लार (राज०)=साथ-साथ, पीछे। (उदा०—जन्म-जन्म के दूत तिरोवन को नहि लार लगाए—सूर।)

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जो लोग समझदार हैं वे यह जानते हैं कि केवल कर्त्ता (स्रष्टा) अर्थात् ब्रह्म ही जीवन का सार है। (यहाँ 'करता' में प्रथमाविभक्ति है।)

---

१. ना० प्र०—भखैं। २. ना० प्र०—दष्यां। ३. ना० प्र०—नहीं। ४. ना० प्र०—इकत्र। ५. ना० प्र०—लज्या। ६. ति०—यु०—वि०—बोलै। ७. वि०—यु०—क्यों तू पकरै काँच, हनु०—गाढ़ै। ८. यु०—जिन नर साँच पहचानियाँ। ९. हनु०—नरजानियाँ। १०. ना० प्र०—जाणियाँ। ११. अन्य— कुल।

ऐसे समझदार प्राणी झूठे जग के साथ क्यों चलेंगे अर्थात् वे निस्सार वस्तु के पीछे क्यों पड़ेंगे ?

'करता केवल सार' का एक अर्थ और हो सकता हैं—केवल सार शब्द ही स्रष्टा है, सारी सृष्टि उसी से होती है।

अलंकार—'सार' शब्द में श्लेष।

झूठे को[1] झूठा मिलै, दूनाँ[2] बधै सनेह।
झूठे को[3] साँचा मिलै, तब ही तूटै[4] नेह ॥ १७ ॥
—४२५ ॥

शब्दार्थ—बधै=बढ़ता हैं।

व्याख्या—संसार के मिथ्या बंधनों में लिप्त मनुष्य को जब वैसा ही दूसरा संसारी पुरुष मिलता है तो दोनों में दूना स्नेह बढ़ जाता है। यह स्नेह केवल मायाजनित अनुराग है। किन्तु मिथ्या वस्तु के अनुरागी व्यक्ति को यदि सद्गुरु मिल जाय तो मायाजनित स्नेह तथा विषयानुराग नष्ट हो जाता है।

१. ना० प्र०—कौं। २. हनु०—वि०—यु०—अधिका बढ़ै सनेह, ना० प्र०—दूणाँ। ३. ना० प्र०—कूँ। ४. हनु०—छूटै, यु०— वि०—टूटै।

(२३) भ्रम विधौंसण को अंग

पाहन[1] केरा पूतला, करि पूजै करतार।
इसी भरोसे जे रहे,[2] ते बूड़े[3] काली धार॥ १॥

शब्दार्थ—विधौंसण=विध्वंस, निवारण। पाहन=पत्थर। करि=मानकर। पूतला=मूर्ति।

व्याख्या—जो पत्थर की मूर्ति को स्रष्टा मानकर पूजा करते हैं और उसी के भरोसे रहते हैं, वे भवसागर की भयंकर कालीधार में डूबे हैं।

यह प्रहार 'बुतपरस्ती' पर है जो पत्थर को ही ईश्वर मानकर पूजा करते हैं। जो पत्थर को ईश्वर का प्रतीक मानकर ईश्वर की उपासना करते है, उन पर नहीं।

काजल केरी कोठरी,[4] मसि के कर्म[5] कपाट।
पाँहनि बोई[6] पिरथमी[7], पंडित पारी[8] बाट॥ २॥

शब्दार्थ—मसि=स्याही। बोई = बिछाई, फैलाई। बाट पारी (मु०)=बिगाड़ लिया, नष्ट कर डाला।

व्याख्या—यह संसार अंधकारमय काजल की कोठरी है और इस कोठरी में अपने कर्मों के कपाट भी मसिमय अर्थात् अंधकारमय हैं। एक तो कोठरी काली है, दूसरे कर्मों के किवाड़ भी अंधकारमय हैं अर्थात् इस कोठरी से निकलना कठिन है। इसके मार्ग में पत्थर बिछाए हुए हैं, चारों ओर पत्थर की मूर्तियाँ स्थापित हैं। ऐसी बुतपरस्ती से पंडित ने पूरे विनाश का ही पथ बना लिया है।

अलंकार—सांगरूपक।

पाहन कौं क्या पूजिए,[9] जो जनमि न देई ज्वाब[10]।
अंधा नर आसामुखी,[11] यौं ही खोवै आब॥ ३॥

शब्दार्थ—ज्वाब=जवाब, उत्तर। आशामुखी=आशोन्मुख। आब (फा०)=जल, नीर, मर्यादा।

व्याख्या—पत्थर की पूजा से क्या लाभ, जो जीवन-भर अनुनय-विनय का जवाब भी नहीं देता। अभिलाष-ग्रस्त व्यक्ति अंधा हो जाता है। वह व्यर्थ में अपनी मर्यादा खोता है।

---

१. ना० प्र०—पाँहण, हनु०—वि०—यु०—पाहन केरी पूतरी। २. यु०, वि०—मति रहो। ३. हनु०—सो बूड़ा, यु०, वि०—बूड़ो। ४. ति०—कागर केरी ओवरी, हनु०—कागज केरी कोठरी। ५. ति०—वि०—यु०—किए, हनु०—किया। ६. ति०— बोरी। ७. ना० प्र०—पृथमीं। ८. ना० प्र०—पाड़ी। ९. ना० प्र०—पाँहनि कूँ का पूजिए। १०. ना० प्र०—जे जनम न देई जाब, हनु०—वि०—यु०—जो नहिं देइ जबाब। ११. ना० प्र०—आँधा नर आसामुषी।

यदि 'आब' का शाब्दिक अर्थ 'जल' लिया जाय तो अर्थ होगा—वह व्यर्थ में जल को पत्थर पर गिराकर बर्बाद करता है।

अलंकार—'आव' शब्द में श्लेष।

हम भी पाहन पूजते, होते रन[1] के रोझ।
सतगुर की किरपा[2] भई, डारा सिर तैं बोझ[3] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—रन=अरण्य, वन। रोझ (देशज)=नीलगाय।

व्याख्या—यदि सत्गुरु की कृपा न हुई होती तो औरों की भाँति हम भी पत्थर पूजते और अरण्य की नीलगाय के समान पशुवत् व्यवहार करते होते। परन्तु मुझ पर सत्गुरु की कृपा हो गई और मैंने वाह्याचार रूपी बोझ को अपने सिर से उतारकर फेंक दिया।

जेता दीसै आतमा,[4] तेता सालिगराँम।
साधू[5] प्रतषि देव है, नहिं पाथर सूँ काँम ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सालिगराँम=शालग्राम, गण्डकी नदी में पाए जानेवाले पत्थर की बटिया, जिसकी लोग विष्णुरूप में पूजा करते हैं। प्रतषि=प्रत्यक्ष।

व्याख्या—मैं जितने भी आत्माओं को देखता हूँ, उतने ही शालग्राम अर्थात् विष्णु को देखता हूँ। मानव के भीतर जो ईश्वरांश आत्मा विद्यामान है, वस्तुतः वही पूजनीय है। प्रत्यक्ष देव तो वह संत है जिसने उस आत्मा से अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है। वही पूजनीय है। मेरी निष्ठा भी उसी में लगी हुई है। पत्थर से मेरा क्या प्रयोजन ?

सेवैं[6] सालिगराम कौं[7], मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सपनै[8] नहीं, दिन दिन अधिकी लाइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—लाइ=आग।

व्याख्या—शालग्राम की पूजा से जीव के मन की भ्रान्ति दूर नहीं होती। उसको तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो पाता, केवल एक यान्त्रिक बाह्याचार होता रहता है। ऐसे पूजक को स्वप्न में भी शान्ति का अनुभव नहीं होता और संसार की ज्वाला उसमें दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है।

अलंकार—विशेषोक्ति।

सेवैं[9] सालिगराँम कौं[10], माया सेती हेत।
बोढ़ैं काला कापड़ा,[11] नाँव[12] धरावैं सेत ॥ ७ ॥

---

१. हनु०—वि०—यु०—वन। २. ना० प्र०—कृपा। ३. ना० प्र०—डार्‌या सिर थैं बोझ, अन्य—डारा सिर का बोझ। ४. ना० प्र०- जेती देषौं आत्मा- यु०—कबिरा जेता आतमा। ५. बोलनहार। पूजिए, नहिं पाहन सो काम। ६. हनु०—वि०—पूजै। ७. ना० प्र०—कूँ, अन्य—को। ८. ना० प्र०—सुपिनैं। ९. हनु०—सेवा सालिग्राम की। १०. वि०—को। ११. हनु, वि०—पहिरै काली कामली। १२. हनु०, वि०—नाम।

व्याख्या—प्रायः लोग शालग्राम की पूजा करते हैं, किन्तु उनके हृदय में प्रभु के प्रति प्रेम नहीं रहता, माया में मन लगा रहता है। इस वाह्याचार या यान्त्रिक पूजा से क्या लाभ हो सकता है ? यहाँ 'काला कापड़ा' अज्ञान का प्रतीक है और 'सेत' ज्ञान का प्रतीक है। तात्पर्य है कि ऐसे लोग माया या अज्ञान के अंधकार में पड़े हुए हैं, किन्तु बाह्याचार से, शालग्राम की पूजा आदि से अपने को ज्ञानी कहलाना चाहते हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जप तप दीसै[1] थोथरा, तीरथ व्रत बेसास[2]।
सूवै सैंबल सेविया,[3] यौं जग चला[4] निरास ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—थोथरा=निस्सार, थोथा। वेसास = विश्वास। सैंवल = सेमर। सूवै=तोता, शुक।

व्याख्या—जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि में विश्वास निस्सार प्रतीत होता है। जैसे शुक सेंमल के फल में रस की भ्रान्ति से आकृष्ट होकर उसका भोग करना चाहता है, किन्तु उसे नैराश्य ही हाथ लगता है, उसी प्रकार जप, तप आदि के द्वारा मुक्ति की आशा लगाकर लोग आश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। जप, तप से संसार के प्राणी मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाते, उनको केवल नैराश्य की प्राप्ति होती है।

अलंकार—उदाहरण, भ्रान्तिमान्।

तीरथ व्रत विष बेलड़ी,[5] सब[6] जग मेल्या[7] छाइ।
कबीर मूल निकंदिया, कौंन[8] हलाहल खाइ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—वेलड़ी = लता। मेल्या छाइ = आच्छादित, छा डाला है। मूल निकंदिया= जड़ काट दी। हलाहल = विष।

व्याख्या—तीर्थ, व्रत आदि केवल विष की बल्लरियाँ हैं, जिन्होंने सारे जगत् को आच्छादित कर रखा है। कबीर ने यह समझकर कि यह विष कौन खाए, इन सब "की जड़ ही काट दी है। ये वाह्याडम्बर विष इसलिए हैं, क्योंकि ये केवल धर्म का दम्भ पैदा करते हैं। इनसे न तत्त्व-ज्ञान होता है और न तत्त्व का साक्षात्कार, प्रत्युत् उनके आकर्षण से मनुष्य दिन-रात उन्हीं में लगा रहता है। अतः ये साधना में विष के समान हैं। इसलिए कबीर इन बाह्याडम्बरों के चक्कर में कभी नहीं पड़े। वह प्रारम्भ से ही तत्त्व की खोज में लगे रहे हैं।

अलंकार—रूपक।

---

१. वि०–दीखैं। २. हनु०, वि०—बिस्वास। ३. हनु० वि०–सुआ सेंमल सेइया। ४. ना० प्र०–चल्या। ५. ना० प्र०–तीरथ व्रत सब बेलड़ी, गु०–तीरथे व्रत सब वेलड़ी। ६. हनु०—राखा सब जग छाइ। ७. तिवारी–मेल्हा। ८. ना० प्र०–कौंण।

मन मथुरा[1] दिल द्वारिका, काया कासी जांनि[2] ।
दस द्वारे का देहरा,[3] तामें जोति पिछांनि[4] ॥ १० ॥

शब्दार्थ—देहरा = (देवहरा>देवघर<देवगृह) देवालय, मंदिर । पिछांनि = पहचानो ।

व्याख्या—लोग व्यर्थ में तीर्थ और देवालय में देव-दर्शन के लिए जाते हैं ! वह तो तुम्हारे ही पास है । इस मन को मथुरा, दिल को द्वारिका और काया को काशी समझो । दस द्वारोंवाला देवालय रूपी शरीर तुम्हारे पास है । इसमें जो आत्म-ज्योति है, उसे पहचानो और उसी की उपासना करो, बाहर व्यर्थ भटकते फिरते हो ।

यदि 'दसवाँ द्वार' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—दशम द्वार अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र ही वास्तविक देवालय है । परन्तु कबीर का तात्पर्य पूरे शरीर को देवालय समझने का प्रतीत होता है ।

अलंकार—रूपक ।

कबीर दुनियाँ देहुरै[5], सीस नवावन[6] जाइ ।
हिरदै[7] भीतरि हरि बसै, (तूँ) ताही सौं लौ[8] लाइ ॥ ११ ॥
—४३६ ॥

शब्दार्थ—लौ = प्रेम, ध्यान ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि संसार के लोग मंदिर में भगवान के सामने नत-मस्तक होते हैं । हे साधक ! तुम्हारे हृदय के भीतर ही आत्मरूप में हरि विद्यमान हैं । उसे बाहर क्यों खोजते फिरते हो ? उसी से अपना लौ लगाओ । उसी में सुरति लगाओ ।

१. ग्रु०—मक्का । २. ना० प्र०–जांणि । ३. ना० प्र०—दसवाँ द्वारा देहुरा, ग्रु०—दश द्वार का देहरा । ४. ना० प्र०–पिछांणि । ५. हनु०, ग्रु०—देहरै । ६. ना० प्र०—नवाँवण, हनु०—नमावन, ग्रु०–नवावैं । ७. ना० प्र०–हिरदा, हनु०—हृदये माँही । ८. ना० प्र०—ल्यौ ।

(२४) भेष को अंग

कर सेती[१] माला जपै, हिरदै बहै डंडूल[२]।
पग तौ पाला[३] मैं गिला[४], भाजन[५] लागी सूल[६] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सेती = से। डंडूल = वात्याचक्र, बवण्डर, द्वन्द्व। पाला=तुषार। गिला=गल गया। भाजन = भागने से। सूल = काँटा।

व्याख्या—जो व्यक्ति केवल बाह्याडम्बर के लिए हाथ से माला जपता रहता है, किन्तु उसके हृदय में वासनाओं का बवण्डर चलता रहता है, उसकी दशा उस व्यक्ति के समान है जो पाले में पैर रखता है तो पैर ठंढ से गलने लगता है और जब वहाँ से भागने की चेष्टा करता है तब उसके चारों ओर लगे काँटे चुभने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति न तो ठंढक का सुख पा सकता है और न सूखी जमीन की सुविधा। यहाँ संकेत इस बात का है कि ऐसा व्यक्ति दीन और दुनिया दोनों से जाता है। उससे भला तो वह हैं जो दुनियादारी में लगा है, किन्तु बाह्याडम्बर नहीं करता। लोग उसे संसारी व्यक्ति समझते हैं, किन्तु जो भगवत प्रेम का आडम्बर करता है, उसको प्रभु का प्रेम नहीं मिल सकता। वह प्रभु-प्रेम से वंचित रहता ही है, हृदय में निहित वासनाओं के कारण वह समाज के उत्तम सुखों को भी नहीं प्राप्त कर सकता।

कर[७] पकरैं अँगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ ओर[८]।
जाहि फिरायाँ हरि मिलै[९], सो भौ काठ कठोर[१०] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—फिरायाँ = घुमाने से।

व्याख्या—पाषंडी साधक हाथ में माला पकड़े हुए अँगुलियों पर मनके गिनता रहता है, किन्तु उसका मन चारों ओर विषयों में भटकता रहता है। जिस मन को संसार की ओर से घुमाने से, उससे विमुख कर ईश्वरोन्मुख करने से, प्रभु से मिलन हो सकता है, उस मन में प्रेम-भक्ति की सरसता है ही नहीं। वह तो काठ के समान कठोर और जड़ हो गया है। ऐसे व्यक्ति को प्रभु की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

माला फेरै मनमुखी[११], तातैं[१२] कछू न होइ।
मन माला कौं[१३] फेरता, घट उजियारा होइ[१४] ॥ ३ ॥

---

१. हनु०—सो तो। २. हनु०—हृदया डोलमडोल। ३. हनु०—पालन मैं गला। ४. ना० प्र०—गिल्या। ५. ना० प्र०—भाजण। ६. हनु०—शोल। ७. हनु०, यु०—क्रिया करैं। ८. ना० प्र०—चोर। ९. हनु०, यु०—जिहिं फेरे साँई मिलै। १०. ना० प्र०—सो भया काठ की ठौर। ११. ना० प्र०—पहरे मनमुषी। १२. ना० प्र०—तायैं। १३. हनु०—के फेरते। १४. ना० प्र०—जुग उजियारा सोइ, हनु०—जगत उजला होय।

शब्दार्थ— मनमुखी = मन के संकेत पर चलनेवाला। तातैं = उससे।

व्याख्या—जो व्यक्ति विषयासक्त मन के संकेत पर चलता है, उसके माला फेरने से कोई लाभ नहीं। जो मन रूपी माला को घुमाता है अर्थात् मन को विषयों से विमुख कर ईश्वरोन्मुख करता है, उसका हृदय प्रकाशित हो जाता है।

टिप्पणी—(१) इस साखी के पहले चरण में 'फेरै' शब्द अभिधार्थ में प्रयुक्त हुआ है और दूसरे चरण के 'फेरतां' में लक्षणा है। इसका अर्थ है—मन को संसार से घुमाकर ईश्वर में लगाना।

(२)यदि 'जुग उजियारा सोइ' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—उसके दोनों लोक-इहलोक और परलोक-प्रकाशित हो जाएँगे, बन जाएँगे।

> माला फेरै मनमुखी[1], बहुतक[2] फिरैं अचेत।
> गाँगी रोलै बहि गया, हरि सौं किया न हेत[3] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बहुतक=बहुत से। अचेत = अज्ञानी। गाँगी=गंगा सम्बन्धी, गंगा के। रोलै=(१) रेला, बहाव, प्रवाह। (२) रोर, जनरव। हेत = प्रेम।

व्याख्या—जगत् में बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनका मन विषयासक्त रहता है, वे उसी के संकेत पर चलते हैं, किन्तु बाहर से माला घुमाते रहते हैं। ऐसे अनेक अज्ञानी और ढोंगी, व्यक्ति घूमते रहते हैं जिनको प्रभु से प्रेम नहीं है। उनका ऊपरी आडम्बर से उद्धार नहीं हो सकता। उनकी दशा गंगा के प्रवाह में बह जानेवाले व्यक्ति के समान ही होती है अर्थात् वे विनाश को प्राप्त होते हैं।

'रोलै' का अर्थ जनरव भी होता है। यदि यह अर्थ लिया जाय तो भाव होगा—जिनको प्रभु से प्रेम नहीं है उनका गंगा तट पर किया गया सारा जप, वहाँ के जनरव में विलीन हो जाता है। उनको उसका कोई लाभ नहीं मिलता है।

अलंकार—'रोलै' शब्द में श्लेष।

> कबीर माला काठ को, कहि समुझावै तोहि।
> मन न फिरावै आपनाँ,[4] कहा फिरावै मोहि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कहि = कह कर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे काष्ठजापक ! तुझे काठ की माला यह कहकर उपदेश दे रही है कि तू अपने को संसार से फिराता नहीं, मुझे व्यर्थ में फिराता है। केवल मेरे फिराने से कोई लाभ न होगा, जब तक तू अपने मन को विषयों से विमुख कर, ईश्वरोन्मुख न करे।

अलंकार—'फिरावै' शब्द में यमक।

---

१. ना० प्र०—पहरे मनमुषी, हनु०-फेरै मनखुसी। २. ना० प्र०--बहुतैं। ३. ना० प्र०—हरि सूँ नाहीं हेत। ४. ना० प्र०—आपणाँ।

कबीर माला मनहि[१] की, और संसारी भेख[२]।
माला पहर्‌याँ[३] हरि मिलै, तौ[४] अरहट कै गलि देख[५] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अरहट = (सं० अरघट्ट), रहट, जलपात्रों की वह माला जिससे कुएँ से पानी निकाला जाता है। गलि = गले में।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सच्ची माला तो मन की है, उसी को बार-बार प्रभु के प्रेम में फेरना चाहिए। गले में पड़ी हुई माला सांसारिक दिखावा मात्र है। यदि ऐसी माला को धारण करने से प्रभु मिल सकते हैं तो ऐसी बहुत बड़ी माला रहट के गले में दिखलाई देगी, तो फिर उसे प्रभु अवश्य मिल जाना चाहिए।

माला[६] पहर्‌याँ कछु नहीं, डारि[७]मुवा गल भारि।
बाहरि ढोल्या हींगलू[८], भीतरि[९] भरी भँगारि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—ढोल्या=वहन किया है। हींगलू=ईंगुर का, लाल रंग का। भँगारि=कूड़ा-करकट, मल।

व्याख्या—गले में माला लटकाने से कोई लाभ नहीं। उसको लटकाकर संसारी लोग केवल व्यर्थ का भार ही वहन करते हैं। पाखंडी साधु बाहर से लाल रंग का गेरुआ वस्त्र धारण किये रहते हैं, किन्तु उनके भीतर दूषित वासनाओं का कूड़ा-करकट भरा हुआ है।

माला पहर्‌याँ[१०] कछु नहीं, काती मन कै[११] साथि।
जब लग हरि प्रगटै[१२]नहीं, तब लग पड़ता हाथि[१३] ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—काती = कर्त्तरी, कैंची।

व्याख्या—गले में माला डाल लेने से क्या लाभ ? जब तक मन में कतरनी चलती रहती है अर्थात् मन धोखाधड़ी से भरा रहता है, तब तक माला आदि से, बाहरी वेष बनाने से कोई लाभ नहीं। जब तक हृदय में प्रभु की ओर वास्तविक प्रेम नहीं जग जाता, तभी तक माला जपने की यांत्रिक क्रिया होती रहती है।

माला पहर्‌याँ कछु नहीं[१४], गाँठि[१५] हिरदै[१६] की खोइ।
हरि चरनौं[१७] चित राखिए, तौ अमरापुर होइ[१८] ॥ ९ ॥

---

१. ना० प्र०—मन की। २. ना० प्र०—भेप। ३ ना० प्र०—पहन्याँ, तिवारी—पहिरे, यु०—फेरे। ४. यु०—हरहट के गल देख। ५. ना० प्र०—देप। ६. तिवारी, हनु०—साधू भया तौ क्या भया, माया मेली (पहिरी) चारि, वि०, यु०—माला फेरे कछु नहीं। ७. ना० प्र०—रुल्य मुवा इहि भारि। ८ हनु०—बाहर भेष बनाइया, वि० यु०—ऊपर ढोला हींगला, तिवारी—बाहरि ढोला हींगला। ९. वि०—भीतर भरा। १० ना० प्र०—पहन्याँ, तिवारी, हनु०—फेरे। ११. हनु०—के। १२. हनु०—परसें। १३. तिवारी, गुत—पतड़ा हाथि, हनु०—थोथी बात। १४. हनु०, वि०—माला फेरे क्या भया, यु०—माला फेर कहा भयो, तिवारी—माला फेरे कछु नहीं। १५. हनु०, वि०—गाँठि न हिय की खोय। .१६. ना० प्र०—हिरदा। १७. ना० प्र०—चरनूँ। १८. तिवारी, वि०, यु०—जोय।

व्याख्या—माला धारण करने से कोई लाभ नहीं। हृदय में जो चित्-जड़ ग्रंथि पड़ी हुई है, उसको तोड़ो। प्रभु के चरणों में चित्त लगाने से वह स्वतः नष्ट हो जाएगी। यदि तुम ऐसा करते हो तो अमृतत्व के पात्र बनोगे।

> माला पहर्‌याँ कछु नहीं[1], भगति न आई हाथि।
> माथौ[2] मुंछ मुड़ाइ करि[3], चला[4] जगत[5] के साथि ॥ १० ॥

शब्दार्थ—माथौ = सिर।

व्याख्या—यदि हृदय में भक्ति का संचार न हुआ तो केवल माला धारण करने से क्या लाभ? सिर और मूँछ मुड़ाकर तुम वैरागी का वेष बनाते हो, किन्तु तुम्हारा सारा व्यवहार संसारी पुरुष जैसा है। यह तो केवल पाषण्ड है। आध्यात्मिकता की वास्तविकता से तुम कोसों दूर हो।

> साँई सेती साँच चलि, औरौं सौं[6] सुध भाइ।
> भावै लंबे[7] केस करि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सुध भाइ = शुद्ध भाव। भावै = चाहे। घुरड़ि = घुटाकर।

व्याख्या—कबीर ने 'भेष को अंग' में आदि से अंत तक बाहरी दिखावा के ऊपर प्रहार किया है। इस संदर्भ में जब वह कहते हैं कि "साँई सेती साँच चलि' तो उसका भाव यही है कि तेरे हृदय में प्रभु के प्रति लगन है नहीं, तू केवल बाहरी दिखावा करके, प्रभु के प्रति असत्य का व्यवहार करता है। तू प्रभु के प्रति सत्य का व्यवहार कर। उसके प्रति हृदय में भक्ति और अनुराग रख और जगत् के प्राणियों के प्रति भी शुद्ध भाव रख अर्थात् उनके प्रति धोखाधड़ी का आचरण न कर। यदि तेरी आन्तरिक स्थिति शुद्ध होती है तो बाह्य वेष से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। फिर चाहे तू लम्बे-लम्बे केश बढ़ा ले, चाहे उन्हें घुटाकर सिर को सफाचट करा ले।

> केसन[8] कहा बिगारिया[9], जे मूड़े सौ बार[10]।
> मन कौं काहे न मूड़िए[11], जामैं विषै[12] विकार ॥ १२ ॥

व्याख्या—बालों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ रखा है, जो तुम बार-बार सिर मुँड़ाकर उन्हें साफ करते हो। जिस मन में विषय-विकार भरा हुआ है, जो विषयों में अनुराग के कारण अशुद्ध हो गया है, उसको क्यों नहीं मुड़वाते अर्थात् उसे क्यों नहीं स्वच्छ करते। केवल बालों के मुँड़वाने से कुछ न बनेगा।

---

१. तिवारी—माला फेरे क्या भया, हनु०—माला तिलक लगाय के। २. तिवारी, हनु०-दाढ़ी। ३. तिवारी-कै। ४. ना० प्र०-चल्या। ५. हनु०-चले दुनी। ६. ना० प्र०-सूँ। ७. तिवारी-लांबे। ८. ना० प्र०—केसौं। ९. ना० प्र०—बिगाड़िया। १०. विं०—मूँड़ा सौ सौ बार। ११. हनु०, वि०, यु०-मन को क्यों नहिं मूँड़िए। १२. तिवारी—विखै, हनु०, वि०-विषया।

मन मैवासी[1] मूँड़ि[2] ले, केसहिं[3] मूड़े काँइ।
जो कछु[4] किया सु मन किया, केस किया कछु नाँहि[5]॥ १३॥

शब्दार्थ—मैवासी = गढ़पति, किलेदार, नायक।

व्याख्या—इस शरीर रूपी दुर्ग के अहंकार-पूर्ण अधिपति मन को तू मूँड़ ले अर्थात् उसके अहंकार को तू समाप्त कर, जिससे इस शरीर पर उसके वास्तविक अधिकारी आत्मा का अधिकार हो सके। बालों को मुँड़ाने से क्या लाभ ? तुम्हारे भीतर जो कुछ विकार हैं, वे मन के कारण हैं, केश से नहीं। इसलिए तुम्हारे आध्यात्मिक जीवन को मन ने बिगाड़ा है, केशों ने नहीं। वासनाओं में भटकानेवाला मन है, इसलिए उसे साफ करो। बेचारे बालों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ रखा है, जो उनके मुँड़वाने में तुम लगे रहते हो।

मूँड़ मुड़ावत दिन गए[6], अजहूँ न मिलिया राँम।
राँम नाँम कहु[7] क्या करै, जे[8] मन के औरै काम॥ १४॥

व्याख्या—सिर घुटवाते-घुटवाते जीवन समाप्त हो गया, किन्तु आज तक प्रभु से मिलन न हुआ। तुम जिह्वा से रामनाम का जप करते हो, किन्तु मन दूसरी ओर लगा हुआ है अर्थात् विषयों में रम रहा है। रामनाम जपने की शर्त तो तुम पूरी नहीं करते हो अर्थात् विषयों से विमुख होकर, ईश्वरोन्मुख होकर नाम-जप करो, तभी प्रभु से मिलन होगा। यदि तुम्हारा मन विषयों में रम रहा है, तब राम-नाम का जप केवल आंगिक क्रिया है, उसका कोई फल नहीं मिलनेवाला है।

स्वाँग पहिरि सोहरा[9] भया, खाया[10] पीया खूँदि[11]।
जिहि सेरी साधू गया[12], सो तो राखी[13] मूँदि॥ १५॥

शब्दार्थ—सोहरा=शोहरत, ख्याति। खूँदि=कूद-कूदकर। सेरी=मार्ग, गली।

व्याख्या—ऊपरी वेष बनाकर तूने बहुत बड़े साधु होने की ख्याति प्राप्त कर ली है, किन्तु तुमने खाया-पिया खूब छककर है अर्थात् खूब विषय-भोग किया है। जिस गली से साधु जाते हैं अर्थात् साधना का जो सच्चा मार्ग है, उसे तुमने अवरुद्ध कर रखा है। फिर तेरे स्वांग से क्या लाभ ?

यु० प्रति में 'सोहदा' पाठ है। इसका अर्थ होगा—वेष बनाकर तू छैला बनकर घूमता रहा।

बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं बबेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक॥ १६॥

---

१. गुप्त—मसवासी। २. हनु०, वि०—मूँड़िए। ३. ना० प्र०—केसौं। ४. ना० प्र०—जे कुछ। ५. ना० प्र०—केसौं कीया नाँहि। ६. यु०, वि०—गया। ७. यु० वि०—कहो। ८. यु०, वि०—'जे' नहीं है। ९. ना० प्र०—सोरहा, यु०—सोहदा। १०. यु०, हनु०, वि०—दुनिया खाई खूँदि। ११. ना० प्र०—षूँदि। १२. ना० प्र०—नीकले। १३. ना० प्र०—मेल्ही।

शब्दार्थ—छापा=ठप्पा। ववेक=विवेक, ज्ञान। दगघ्या=पीड़ित किया।

व्याख्या—यदि तूने विवेक नहीं प्राप्त किया, सत्-असत् के अन्तर को नहीं पहचाना तो केवल वैष्णव मत में दीक्षित हो जाने से क्या लाभ? तू मत्थे पर तिलक और बाहु-वस्त्रादि में रामनाम का छापा लगाकर अनेक भोले-भाले लोगों को ठगता रहा और अपने कुकर्मों से पीड़ित करता रहा।

> तन कौं[1] जोगी सब करै, मन कौं बिरला कोइ[2]।
> सब[3] सिधि[4] सहजै पाइए, जे[5] मन जोगी होइ॥ १७॥

शब्दार्थ—जे=यदि।

व्याख्या—गेरुआ वस्त्रादि धारण कर, तिलक लगाकर शरीर से तो अनेक लोग अपने को योगी के रूप में प्रदर्शित करते हैं, किन्तु विरले ही ऐसे होते हैं जो वास्तव में मन को योगी बना सकें। यदि मन से योगी बना जाय तो सभी सिद्धियाँ सरलता से प्राप्त हो सकती हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर 'सब सिधि' का भाव है—परमार्थ की सफलता, रिद्धि-सिद्धि नहीं।

> कबीर यहु तौ[6] एक है, परदा[7] दीया भेष।
> भरम करम सब दूरि[8] करि, सबहीं माँहि अलेष॥ १८॥

शब्दार्थ—अलेष = अलक्ष्य, ब्रह्म, परमात्मा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि घट-घट में एक ही प्रभु का बास है, किन्तु बाहरी रूप ने परदा डाल रखा है अर्थात् रूप में वैभिन्य के कारण उसके एकत्व की प्रतीति नहीं हो पाती। तू अज्ञान और भेद उत्पन्न करनेवाले कर्मों को दूर करके, सभी के भीतर विद्यमान उस अदृश्य एक प्रभु को देख।

> भरम न भागा[9] जीव का, बहुतक[10] धरिया भेष।
> सतगुर परचै बाहिरा[11], अंतरि[12] रहा अलेष॥ १९॥

शब्दार्थ—बाहिरा = (सं० बाह्य) बिना, बगैर।

व्याख्या—साधकों ने नाना प्रकार के वेष धारण किये, किन्तु बाह्यरूपान्तरण से प्रभु का मिलन नहीं हो सकता। इससे जीव में विद्यमान अज्ञान नहीं जा सकता। सत्गुरु से प्रभु का परिचय पाये बिना, भीतर विद्यमान परमतत्त्व अलक्ष्य ही रहता है।

अलंकार—विनोक्ति।

---

१. हनु०, वि०, यु०—को। २. हनु०, वि०—मन को धरै न कोय। ३. वि०, यु०—सहजै सब सिधि पाइए। ४. हनु०—सुख। ५. हनु०, वि०, यु०—जो। ६. हनु०, वि०, यु०—वह तो। ७. ना० प्र०—पड़दा। ८. वि०, हनु०—दूर। ९. हनु, वि०, यु०—भागै। १०. ना० प्र०—अनंतहि। ११. हनु०, वि०, यु०—मिलिया बाहिरे। १२. यु०—अन्तर रहिगा लेख, तिवारी—अंतरि रहि गई रेख।

जगत जहंदम राचिया, झूठे कुल की लाज।
तन बिनसे कुल बिनसिहै, गहै न राम जहाज[1] ॥ २० ॥

शब्दार्थ—जहंदम = (फा० जहन्नुम) नरक, दु:ख एवं कष्ट की जगह। राचिया= बनाया।

व्याख्या—जगत् के प्राणियों ने व्यर्थ में कुल की मर्यादा को अधिक महत्त्व देकर अपने लिए दुःख एवं कष्ट पैदा कर रखा है। केवल कुल की श्रेष्ठता से किसी को प्रभु नहीं मिलता। कुल का सम्बन्ध शरीर से है, आत्मा से नहीं, मन से नहीं। तन के नष्ट हो जाने पर कुल-विशेषता अपने आप समाप्त हो जाती है। जब तक राम रूपी जहाज को नहीं पकड़ता, तब तक केवल कुल की श्रेष्ठता से कोई भवसागर नहीं पार कर सकता। इसलिए राम की शरण क्यों नहीं जाते ?

अलंकार—रूपक। 'गहै न राम जहाज' में वक्रोक्ति।

पष[2] ले बूड़ी पिरथवी[3], झूठी[4] कुल की लार।
अलख[5] बिसार्‌यौ[6] भेष मैं, बूड़े काली धार[7] ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—पष = पक्ष। लार = परम्परा, लीक।

व्याख्या—संसार के लोग भिन्न-भिन्न पन्थों और वादों का पक्ष लेकर तथा कुल की झूठी और नाशवान परम्पराओं के पीछे पड़े रहते हैं। इससे वे केवल विनाश को प्राप्त होते हैं। उन्होंने वेष को ही महत्त्व दे रखा है और अलक्ष्य परब्रह्म को भुला दिया है। वेष तो प्रत्यक्ष है, इसलिए वे समझते हैं कि इसी में विशेषता है और अप्रत्यक्ष, अलक्ष्य परमतत्त्व में अनुराग करने की चेष्टा नहीं करते। इसीलिए वे कलुषित पाप की धारा में विनष्ट हो जाते हैं।

चतुराई हरि नाँ मिलै, यह[8] बाताँ की बात।
एक निस्प्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ[9] ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—निस्प्रेही = निष्काम। निरधार = निराश्रय, निरावलम्ब। गाहक = ग्रहण करनेवाला।

व्याख्या—सौ बातों की एक बात यह है कि प्रभु पाण्डित्य से, शास्त्रों के नैपुण्य से, बौद्धिक व्यायाम से नहीं प्राप्त हो सकता। जिसको शास्त्र-ज्ञान का सहारा नहीं है, परन्तु जो सर्वथा निष्काम है, प्रभु उसी को ग्रहण करते हैं, उसी को अपनाते हैं।

टिप्पणी—'गोपीनाथ' में बड़ी सुन्दर व्यञ्जना है। गोपियाँ सरल और निश्छल स्वभाव की, शास्त्र-ज्ञान से अपरिचित नारियाँ थीं, किन्तु कृष्ण में उनका सहज अनुराग

---

१. ना० प्र०—गह्यौ न राँम जिहाज। २. तिवारी–पख, हनु, वि, यु०—पहिले। ३. ना० प्र०—पृथमीं, तिवारी–पिरथमी। ४. अन्य—झूठे। ५. ना० प्र०—अलप। ६. गुप्त—बिसार्‌या लेख। ७. वि०—बूड़ि काल की धार। ८. ना० प्र०—वे, हनु–यह बातों। ९. अन्य–दीनानाथ।

थीं। इसीलिए कृष्ण ने उन्हें अपनाया। ठीक इसी प्रकार जिन्हें पाण्डित्य का भरोसा नहीं है, किन्तु फिर भी प्रभु में अनुराग रखते हैं हैं, वे उनके द्वारा स्वीकृत होते हैं।

रसखानि ने भी कहा है :—

सेस महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड, अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछियाँ भरि छाछ पै नाच नचावैं।

नवसत साजे कामिनी[1], तन मन रही सँजोइ।
पिय[2] के मन भावै नहीं, पटम किए[3] क्या होइ॥ २३॥

शब्दार्थ—नवसत (९ + ७)=सोलह। पटम = दिखावा, छदम्।

—काहे को एतो पटम रचत
हो मन रूखे मुँह चिकने वैन।
—घनानन्द

व्याख्या—कामिनी चाहे सोलहो शृंगार कर ले और तन-मन को सजाकर प्रिय को आकृष्ट करने की चेष्टा करे, किन्तु यदि वह प्रिय के मन को प्रसन्न न कर सकी तो बाहरी दिखावे से क्या लाभ ? प्रिय उस पर तभी रीझेगा, जब उसके मन में सच्चा प्रेम हो, केवल शृंगार और हेला से प्रिय आकृष्ट नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार यदि साधक के हृदय में सच्ची भक्ति नहीं है तो माला धारण तथा त्रिपुंड आदि बाहरी वेष व्यर्थ हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

जब लग पिउ[4] परचा नहीं, कन्या क्वाँरी जाँनि[5]।
हथलेवा हौंसैं लिया, मुसकल पड़ी पिछाँनि[6]॥ २४॥

शब्दार्थ—हथलेवा = पाणिग्रहण। हौंसैं = उल्लासपूर्वक। पिछाँनि=पीछे, बाद में।

व्याख्या—जीव एक कुमारी कन्या के समान हैं। जैसे कोई अविवाहिता कन्या बड़े उल्लास से पति का पाणिग्रहण स्वीकार कर ले, परन्तु उससे परिचय न हो, उसे यह जानकारी न हो कि पति के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करना होगा तो आगे चलकर उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि वह केवल उससे हाव-भाव और ऊपरी शृंगार पर रीझनेवाला नहीं है। उसका प्रेम पूर्ण समर्पण से ही मिल सकता है। ठीक यही दशा जीव की होती है। वह बड़े उत्साह से साधना के मार्ग में अग्रसर होता है, किन्तु उसे यह पता नहीं है कि हम जिस प्रभु को पाना चाहते हैं, उसकी प्राप्ति के

---

१. तिवारी—साजै सुन्दरी, हनु०—साजी सुन्दरी। २. ना० प्र०—पीव के मनि, गु०—पिय के मन मानै नहीं। ३. ना० प्र०—कीए। ४. ना० प्र०—पीव। ५. ना० प्र०—कँवारी जाँणि। ६. ना० प्र०—पिछाँणि।

लिए राग-द्वेष और आपा का सर्वथा त्याग करना पड़ेगा। जब यह सब त्याग करने का अवसर आता है, तब वह इस मार्ग की कठिनाई का अनुभव करने लगता है। जो जीव सब कुछ त्यागकर पूर्ण आत्म-समर्पण के लिए तैयार नहीं है, उसने यह जाना ही नहीं कि जिस प्रभु के प्रति अनुराग करने चले हैं, उसकी माँग क्या है? इस माँग की जानकारी होने पर उसे कठिनाई का अनुभव होता हैं। तब वह सोचता है कि मैंने व्यर्थ ही इस मार्ग पर कदम रखा।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर हरि की भगति का, मन में खरा उलास[1]।
मैवासा भाँजै नहीं[2], होन[3] चहै निज दास॥ २५॥

शब्दार्थ—मैवासा = स्वामित्व, 'मैं' का भाव। भाँजै = भग्न होना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रायः लोगों के मन में प्रभु का भक्त बनने का उल्लास होता है। एक अभिलाषा जगती है कि हम भी प्रभु के भक्तों में सम्मिलित हो जायँ, किन्तु 'अहं भाव' भग्न नहीं होता। बिना अहंभाव नष्ट हुए कोई प्रभु का वास्तविक भक्त नहीं बन सकता।

टिप्पणी—'मैवासा' शब्द में श्लेष है। 'मैवास' का अर्थ है—दुर्ग, किला। इसका दूसरा अर्थ है—'मैं' या 'अहं' का वास। जब तक यह दुर्ग नहीं टूटता, तब तक प्रभु से मिलन नहीं हो सकता।

यदि 'मैवासा भाजै नहीं' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—अहंभाव दूर नहीं होता।

मैवासा मोई किया, दुरजन[4] काढ़े दूरि।
राज पियारे राँम का, नगर बसा[5] भरपूरि॥ २६॥
—४६२॥

शब्दार्थ—मोई = विनष्ट।

व्याख्या—जीव ने अहं का दुर्ग खड़ा कर रखा है। उसमें प्रभु का प्रवेश कैसे सम्भव है? अतः इस दुर्ग को नष्ट करके अपने भीतर निवास करनेवाले काम, क्रोध, राग-द्वेष आदि दुर्जनों को निकाल भगाना होगा, तभी अन्तःकरण रूपी नगर में प्रिय राम का राज्य होगा और यह नगर सत्कर्मों और सद्वासनाओं से परिपूर्ण होगा।

अलंकार—'मैवासा' में श्लेष है, रूपकातिशयोक्ति।

---

१. ना० प्र०—परा उल्हास, तिवारी, हनु०—बहुत हुलास। २. तिवारी—मन मनसा भाजै नहीं। ३. ना० प्र०—हूँण मतै, तिवारी—होन चहत है दास। ४. ना० प्र०—दुरिजन। ५. ना० प्र०—बस्या।

(२५) कुसंगति को अंग

निरमल[१] बूँद अकास की, परि[२]गई भूमि[३] विकार।
मूल बिनंठा माँनवी[४], बिनु संगति भठछार[५] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—मूल = पूर्ण रूप से। विनंठा=विनष्ट हुआ। माँनवी = मनुष्य। भठछार= भट्ठे की राख।

व्याख्या—आकाश की निर्मल बूँद पृथ्वी पर गिरकर विकृत (मलिन) हो जाती है, ठीक उसी प्रकार मानव ब्रह्म से वियुक्त होकर माया में आकर विकृत हो जाता है, अविद्या से ग्रस्त हो जाता है। अतः वह पूर्ण रूप से विनाश को प्राप्त होता है। मूलतत्त्व से वियुक्त होकर सत्संगति के अभाव में मानव-जीवन भट्ठे की राख के समान निस्सार हो जाता है।

तुलनीय—

भूमि परत भा डावर पानी।
जिमि जीवहिं माया लपटानी ॥
—तुलसी

मूरिख संग न कीजिए[६], लोहा जल[७] न तिराइ।
कदली सीप भुवंग मुख[८], एक बूँद तिहुँ[९] भाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—तिराइ = तैरना। कदली = केला। भुवंग = सर्प। भाइ=भाव, प्रकार।

व्याख्या—मूर्ख का साथ नहीं करना चाहिए। वह लोहे के समान जड़ है। जैसे लोहे के आश्रय से कोई नदी को पार नहीं कर सकता, वैसे ही मूर्ख की संगति से भव-सागर नहीं पार किया जा सकता। संसर्ग का विचित्र परिणाम होता है। एक ही स्वाति नक्षत्र की बूँद कदली के संसर्ग में कपूर, सीप के संसर्ग में मोती और सर्प के मुख में पड़ने से विष में परिणत हो जाती है। बूँद एक ही है, किन्तु संसर्ग की भिन्नता से परिणाम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

अलंकार—दृष्टान्त।

हरिजन सेती रूसनाँ,[१०] संसारी सौं[११] हेत।
ते नर कदे[१२] न नीपजैं, ज्यौं[१३] कालर का खेत ॥ ३ ॥

---

१. हनु०, यु०—उज्वल। २. ना० प्र०—पड़ि ३. ना० प्र०—भोमि। ४. तिवारी, हनु०—मानंई। ५. हनु०, यु०—भवछार। ६. हनु०, वि, यु०—कबिरा कुसंग न कीजिए। ७. ना० प्र०—जलि। ८. ना० प्र०—भवंग मुषी, वि०—भुजंग मुख। ९. हनु०, वि०—तिर। १०. ना० प्र०—रूसणाँ, वि०, यु०—रूठना। ११. ना० प्र०—सूँ, तिवारी—सौं। १२. वि०, हनु०—कबहुँ। १३. ना० प्र०—ज्यूँ।

शब्दार्थ—कदे = कभी भी। नीपजैं = फलना-फूलना, विकसित होना, उत्थान। कालर = (सं०-कल्लर) नोनी मिट्टी, रेत, ऊसर।

व्याख्या—जो प्रभु-भक्तों से रोष करते हैं, उनसे विमुख रहते हैं, सत्संग से दूर रहते हैं और विषयी लोगों से अनुराग रखते हैं, कुसंग के सम्पर्क में रहते हैं, उनका कभी भी उत्थान नहीं हो सकता। उनके भीतर तत्त्वज्ञान और भक्ति के अंकुर उसी प्रकार नहीं जम सकते, जिस प्रकार ऊसर खेत में कोई बीज नहीं उग सकता।

अलंकार—उपमा

मारी मरूँ[१] कुसंग को, केला काँठै बेरि[२]।
वह हालै वह चीरई[३], साकत[४] संग निबेरि[५] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—काँठै = कंठ, किनारा, निकट,। साकत = शाक्त। निबेरि=निवारण करो।

व्याख्या—मैं कुसंग के कारण उसी प्रकार विनाश को प्राप्त हो रहा हूँ, जिस प्रकार बेर के निकट लगा केला नष्ट होता है। जब काँटोंवाला बेर वायु-प्रकम्प से हिलता है, तब अपने निकट के केले के पत्तों को चीर डालता है, उसी प्रकार दुष्ट पुरुष अपने दुर्गुणों से सम्पर्क में आए हुए व्यक्ति को दूषित कर देता है। इसलिए जीवों को चाहिए कि वे शाक्तों की संगति से दूर रहें।

टिप्पणी—(i) दुर्जन के दुर्गुण का सादृश्य बेर के काँटे से व्यक्त किया गया है।

(ii) शाक्त से कबीर का तात्पर्य वामपंथी शाक्तों से है जो माँस-मदिरा का सेवन करते थे और देवी के सन्मुख पशुओं का वध करते थे। उन्हें दुर्जनों का प्रतीक माना है।

अलंकार—निदर्शना।

मेर[६] निसानी[७] मीच की, कुसंगति ही[८] है काल।
कबीर कहैं रे प्राँणियाँ[९], बानी[१०] ब्रह्म सँभाल ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मेर=मेरापन, ममत्व। निसानी = चिह्न। मीच = मृत्यु।

व्याख्या—अहं और ममत्व (मैं और मेरा) का भाव ही मृत्यु की निशानी है अर्थात् आध्यात्मिक विनाश का लक्षण है। और कुसंग ही काल या विनाशक है अर्थात् आध्यात्मिक जीवन को नष्ट कर देता है। कबीर कहते हैं कि हे जीवो ! सत्गुरु की वाणी या सदुपदेश के द्वारा तुम ज्ञान का आश्रय लो अथवा भजन द्वारा प्रभु का स्मरण करो।

माषी गुड़ मैं गड़ि रही, पंष रही लपटाइ।
ताली पीटै सिरि धुनैं, मीठै बोई माइ ॥ ६ ॥

---

१. तिवारी—मरौं, हनु०, यु०—मरै। २. हनु०, यु०—ज्यों केला ढिग बेर ३. ना० प्र०—वो हाल वो चीरिये, तिवारी—वा हालै वा चीरिअे। ४. ना० प्र०—साषित। ५. ना० प्र०—न बेरि, हनु०, यु०,—निवेर, गुप्त—नबेरि। ६. यु०—मेरे। ७. ना० प्र०—नीसाँणी। ८. ना० प्र०—ही। ९. यु०—सुनु प्रानियां। १०. ना० प्र०—बाँणी।

शब्दार्थ—बोई=फँस जाना, समा जाना । माइ=सखी ।

व्याख्या—मिठास के लोभ से बेचारी मक्खी गुड़ की ओर आकृष्ट होकर जब उसमें गिरती है तो उसका पंख गुड़ में चिपक जाता है। वह उस गुड़ से अलग नहीं हो पाती। वह हाथ मलने लगती है और सिर धुनने लगती है अर्थात् पश्चात्ताप करती है और कहती कि हे सखी ! मिठास के आकर्षण से मैं इस गुड़ में बुरी तरह फँस गई। ठीक इसी प्रकार जीव, विषयों के माधुर्य से आकृष्ट होकर जब उनका भोग करता है तो वह उनमें इतना फँस जाता है कि उनसे निकलना उसके लिए असम्भव हो जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति ।

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ[1], जे करनी[2] ऊँच न होइ ।
सुबरन कलस सुरा भरा[3], साधू निन्द्या सोइ[4] ॥ ७ ॥
—४६९ ॥

शब्दार्थ—सुबरन=स्वर्ण । सुरा=शराब ।

व्याख्या—ऊँचे कुल में जन्म लेने से क्या लाभ हो सकता है, यदि कर्म ऊँचा न हो। जैसे कलश तो स्वर्ण का हो, किन्तु उसके भीतर मदिरा भरी हो तो सज्जनों द्वारा वह निन्द्य ही होता है, वैसे ही शरीर से चाहे कोई ऊँचे कुल में जन्मा हो, किन्तु यदि उसके भीतर दुर्गुण भरे हैं तो वह सज्जनों द्वारा निन्द्य ही होगा।

अलंकार—दृष्टान्त ।

---

१. हनु०—कहा जन्मिया, यु०—कहा जनमिया। २. ना० प्र०—करणीं। ३. ना० प्र०—सोवंनं कलस सुरै भर्‌या, हनु०, यु—कनक कलस मद सो भरा। ४. हनु०, यु०—साधुन निंदा सोइ।

(२६) संगति को अंग

देखा देखी पाकड़ै[1], जाइ अपरचै छूटि।
बिरला कोई ठाहरै, सतगुर साँमी[2] मूठि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—पाकड़ै=पकड़ता है। अपरचै=लक्ष्य का पूर्ण परिचय न होने से। साँमी=सम्मुख। मूँठि = मूँठ भरकर।

व्याख्या—निष्ठारहित व्यक्ति औरों की देखा-देखी सत्संग पकड़ता है। परन्तु लक्ष्य का पूर्ण परिचय न होने के कारण, वह आगे चल नहीं पाता। उसकी साधना छूट जाती है। साधना का मार्ग अत्यन्त कठिन है। इसमें वही टिक पाता है, जिसके भीतर अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण निष्ठा हो। जब सत्गुरु सामने से मूँठ भरकर उपदेश का बाण मारता है, तब उस मार्ग पर विरला व्यक्ति ही टिक पाता है अर्थात् गुरु जिस त्याग और साधना की अपेक्षा करता है, उसमें कठिनाई अनुभव के करने कारण बहुत से लोग भाग खड़े होते हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

देखा देखी भगति का[3], कदे न चढ़ई रंग।
विपति पड़े यौं छाड़िहै, ज्यों कँचुली भुवंग[4] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—कदे=कभी भी।

व्याख्या जिसमें पूर्ण निष्ठा नहीं है, अनुकरण मात्र से भक्ति-मार्ग पर चल पड़ा हैं, उसकी भक्ति कभी सुदृढ़ नहीं हो सकती। साधना की कठिनाई से वह उसे उसी प्रकार छोड़ देता है, जैसे सर्प केंचुली छोड़ देता है।

अलंकार—उपमा।

करिए तौ करि जानिये[5], सारीखा[6] सौं संग।
लीर लीर लोई भई[7], तऊ न छाड़ै रंग ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सारीखा = (१) सरीखा, सदृश, (२) (अ०—सालिक) वह साधक जो बिना गृहस्थाश्रम छोड़े, भगवत्-साक्षात्कार की साधना करता है। लीर लीर = चिथड़े-चिथड़े। लोई = एक प्रकार का कम्बल।

व्याख्या—प्रायः 'सारीखा' शब्द का अर्थ 'सदृश या समान' लिया गया है। इस दृष्टि से इस साखी का अर्थ होगा—यदि संग करना ही है तो अपने समान या सदृश का साथ

---

१. तिवारी—पकड़िया। २. तिवारी—साम्हीं। ३. ना० प्र०—है। ४. ना० प्र०—बिपति पड्या यूँ छाड़सी, ज्यूँ कंचुली भवंग। ५. ना० प्र०—जाँणिए। ६. ना० प्र०—सारीषा सूँ। ७. ना० प्र०—थई।

करो, तभी ठीक रहेगा। किन्तु जिस प्रसंग में कबीर ने यह साखी कही है, उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि 'सारीखा' अरबी के 'सालिक' का विकृत रूप है। इस दृष्टि से इसका अर्थ होगा—यदि संग करना है तो साधक का साथ करके देखो। दूसरी पंक्ति का अर्थ स्पष्ट है। इसका भाव है कि ऊनी कम्बल (लोई) चाहे धज्जी-धज्जी बिखर जायं, फिर भी वह अपना रंग नहीं छोड़ता। उसी प्रकार सच्चा सत्संग करनेवाले व्यक्ति के सामने चाहे जितनी कठिनाइयाँ आएँ, उसके हृदय से भक्ति का रंग नहीं जाता।

अलंकार—दृष्टान्त।

यहु मन दीजै तास कौं, सुठि सेवग भल होइ[1]।
सिर ऊपरि आरा सहै[2], तऊ न दूजा होइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सुठि = सुष्ठु, अच्छा। सेवग = सेवक, भक्त।

व्याख्या—इस मन को उसी को सौंपना चाहिए, जो प्रभु का सच्चा भक्त हो। यदि उसके सिर पर आरा भी चलाया जाय तो भी वह भक्ति से विचलित न होगा।

पाहन[3] टाँकि न तोलिए, हाड़ि न कीजै बेह।
माया राता माँनवी, तिन सौं[4] किसा सनेह ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—तोलिए = परखिए। हाड़ि = मिट्टी की हँड़िया। बेह = छेद। राता = अनुरक्त। माँनवी = मनुष्य। किसा=कैसा।

व्याख्या—पत्थर को छेनी से काटकर मत परखिए, वह तत्काल टूट जाएगा और मिट्टी की हँड़िया में छेद न करो, वह तत्काल फूट जाएगी। वैसे ही माया में अनुरक्त व्यक्ति जरा-सी कठिनाई के प्रहार से स्नेह के बंधन को तोड़ देता है और पृथक् हो जाता है। उससे स्नेह कैसा ?

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

कबीर तासौं[5] प्रीति करि, जो निरबाहै ओरि[6]।
बनिता बिबिध न राचिए, देखत[7] लागै खोरि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—ओरि=अन्त तक। खोरि=दोष।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि उसी से प्रेम करना चाहिए जो अन्त तक उसका निर्वाह करे। अनेक स्त्रियों से प्रेम नहीं करना चाहिए। ऐसा मनुष्य जो अनेक स्त्रियों की ओर देखता है, दोष का भागी होता है, उसी प्रकार जीव को एक प्रभु से ही प्रेम करना चाहिए, अनेक देवी-देवताओं से प्रेम करने से कोई लाभ नहीं।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. तिवारी—जो सुठि सेवग होइ। २. ना० प्र०—आरास है। ३. ना० प्र०—पाँहण। ४. ना० प्र०—सूँ। ५. ना० प्र०—तांसू। ६. ना० प्र०—ओड़ि। ७. ना० प्र०—देषत लागै षोड़ि।

कबीर मन पंछी भया, भावै तहवाँ जाइ[1]।
जो जैसी संगति करै, सो तैसा[2] फल खाइ ॥ ७ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मन पक्षी के समान है, उसे जहाँ अच्छा लगता है, वहीं उड़कर पहुँचता है। जो मनुष्य जैसी संगति करता है, वह वैसा ही फल भोगता है। उसका मन जिसमें रुचि लेता है, वह उसी की संगति करता है और उसी के अनुरूप फल पाता है।

अलंकार—निदर्शना।

काजल केरी कोठड़ी,[3], तैसा[4] यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पैसि कै निकसनहार[5] ॥ ८ ॥
—४७७ ॥

व्याख्या—यह संसार काजल की कोठरी के समान है। इसमें प्रवेश करने पर लांछन लगना स्वाभाविक है। वह प्रभु-भक्त धन्य है जो ऐसे संसार में प्रवेश कर निष्कलंक निकल आता है।

अलंकार—उदाहरण।

१. ना० प्र०—कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ, यु०—कबिरा मन पक्षी भया, मन माने तँह जाइ, तिवारी—कबीर मन पंखी भया, उड़ि उड़ि दह दिसि जाइ। २. ना० प्र०—तैसे। ३. तिवारी-ओबरी। ४. तिवारी—ऐसा। ५. ना० प्र०—रे निकसणहार।

(२७) असाधु को अंग

कबीर भेष अतीत का, करतूति[१] करै अपराध।
बाहरि दीसै साधु गति, माँहै महा[२] असाध॥ १॥

शब्दार्थ—अतीत=विषयातीत, इन्द्रियातीत, साधु। करतूति = कार्य। माँहै=भीतर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि कुछ लोग विषयातीत विरक्तों का-सा वेष बनाये रहते हैं, परन्तु उनके कार्य दोषपूर्ण होते हैं। वे बाहर से साधुओं जैसे दीखते हैं, किन्तु भीतर से अर्थात् अन्तःकरण से वे महान् असाधु ही हैं।

उज्जल देखि न धीजिए, बग ज्यौं[३] माँडै ध्यान।
घोरे[४] बैठि चपेटसी, यौं[५] ले बूड़ैं ग्याँन॥ २॥

शब्दार्थ—धीजिए=विश्वास करना। माँड़ै = लगता है। घोरे=समीप, निकट।

व्याख्या—केवल उज्ज्वल वेष देखकर किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए। बगुला भी श्वेत वर्ण का होता है, किन्तु भीतर से वह मछली पर ही ध्यान लगाए रहता है। ऐसे ही दिखावटी साधु तुम्हारे पास बैठकर तुम्हें उसी प्रकार धर दबोचेंगे जैसे बगुला मछली को पकड़ लेता है। इस प्रकार वे तुम्हारे समस्त ज्ञान को ले डूबेंगे।

तुलनीय—

को न कुसंगति पाइ नसाई।
रहइ न नीच मते चतुराई॥

अलंकार—उपमा।

जेता मीठा बोलनां[६], तेता साधु[७] न जान।
पहिले[८] थाह दिखाइ करि, ऊँड़ै[९] देसी आन[१०]॥ ३॥
—४८०॥

शब्दार्थ—बोलनां=बोलनेवाले। ऊँड़ै=गहरा।

व्याख्या—संसार में जितने मिष्टभाषी हैं, उनमें से सभी को साधु मत समझो। वे लोग उसी प्रकार विनाश-पथ की ओर ले जाते हैं, जैसे कोई पहले उथले पानी में विश्वास जमाकर, फिर गहरे पानी में ले जाकर डुबो दे। ये लोग थोड़ी-सी ज्ञान की रटी-रटाई बातें करके और यह विश्वास दिलाकर कि हम साधना-पथ पर ले जाकर परमलक्ष्य की प्राप्ति करा देंगे, शिष्य को अपने वश में कर लेते हैं और अन्त में उसे ज्ञानाभास की विचित्र उलझन में डाल देते हैं।

---

१. हनु०–अधिक। २. हनु०–अन्तर बड़ा, यु०–माँही बड़ा। ३. ना० प्र०–ज्यूँ। ४. हनु०–धीरे। ५. ना० प्र०–यूँ। ६. ना०प्र०–बोलणाँ, हनु०, यु०–बोलवा। ७. ना० प्र०–साध न जाँणि। ८. ना० प्र०–पहली। ९. हनु०–औंड़े। १०. ना० प्र०–आँणि।

(२८) साधु को अंग

कबीर संगति साधु की, कदे न निरफल होइ[1] ।
चंदन[2] होसी बाँवना, नीम[3] न कहसी कोइ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निरफल = निष्फल, व्यर्थ । बाँवना=छोटा ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि साधु की संगति कभी व्यर्थ नहीं जाती है । साधु बाहरी आकार-प्रकार में चाहे जितना साधारण प्रतीत होता हो, किन्तु अन्तरिक आध्यात्मिकता के कारण उसकी संगति से लाभ होगा ही । जैसे चंदन का वृक्ष चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, फिर भी उसकी सुगन्ध चतुर्दिक् फैलती रहती है और उसे कोई नीम नही कह सकता है ।

अलंकर—निदर्शना ।

कबीर संगति साधु की, बेगि करीजै जाइ[4] ।
दुरमति दूरि गवांइसी[5], देसी सुमति बताइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—दुरमति=दुर्बुद्धि । देसी=देगा ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि साधु की संगति तत्काल करो । वह तुम्हारी दुर्बुद्धि को निकाल फेंकेगा और तुम्हें सुबुद्धि प्रदान करेगा ।

मथुरा जावै[6] द्वारिका, भावै[7] जावै[8] जगनाथ ।
साधु संगति हरि भगति[9] बिनु, कछू न आवै हाथ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—भावै = चाहे ।

व्याख्या—कोई चाहे जितनी तीर्थयात्रा करे, मथुरा जाए चाहे द्वारिका अथवा जगन्नाथपुरी, किन्तु साधु की संगति और हरि-भक्ति के बिना कुछ भी लाभ नहीं हो सकता ।

अलंकार—विनोक्ति ।

मेरे[10] संगी दोइ जनां[11], एक[12] वैष्णों[13] एक रांम ।
वो है दाता मुकुति का, वो सुमिरावै नांम[14] ॥ ४ ॥

---

१. यु०—कबहुँ न निष्फल होइ, हनु०—निष्फल कभी न होइ । २. हनु०, यु०—होसी चंदन । ३. ना० प्र०—नींव । ४. तिवारी, हनु०, यु०—नित प्रति कीजै जाइ । ५. तिवारी, हनु०, यु०—बहावसी । ६. हनु०, यु०—जाओ, तिवारी—जाउ भावै । ७. हनु०—हरिद्वार । ८. तिवारी—जाउ । ९. हनु०, यु०—भजन । १०. हनु०, यु०—मेरा संगो दो जना । ११. ना० प्र०—जणाँ । १२. हनु०, यु० —इक वैष्णव इक राम । १३. तिवारी—वैष्नौं । १४. हनु० यु०— वे दाता हैं मुक्ति के, वे सुमिरावैं नाम ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरे दो ही साथी हैं—एक राम या प्रभु और दूसरा वैष्णव अर्थात् प्रभु-भक्त। प्रभु मुक्ति के प्रदाता हैं और प्रभु-भक्त उनका नाम-स्मरण कराता रहता है।

कबीर बन बन मैं फिरा, कारन अपनें[1] राँम।
राम सरीखे[2] जन मिले, तिन सारे सब काँम ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सरीखे=सदृश। जन=भक्त। सारे=सम्पन्न किया।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं अपने राम के लिए वन-वन में भटकता रहा। उस यात्रा में मुझे राम के भक्त मिल गये, जो राम-गुण सम्पन्न थे। उन्होंने मेरा सब काम बना दिया।

कबीर सोई दिन भला,[3] जा दिन संत मिलाँहि[4]।
अंक भरे भरि भेंटिए[5], पाप सरीरौं[6] जाँहि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—सरीरौं = शरीर से। भरे भरि=भर-भरकर।

व्याख्या—कबीर का कथन है कि वही दिन श्रेष्ठ है जिस दिन कोई सच्चा संत मिल जाता है। उसका आलिंगन करने से शरीर के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

कबीर चंदन का बिड़ा,[7] बेढ्या[8] आक पलास।
आप सरीखे करि लिए,[9] जे होते उन पास ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—बिड़ा = विटप, वृक्ष। बेढ्या=घिरा हुआ। आक = मदार। पलास=ढाक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यदि चंदन का वृक्ष मदार और ढाक से घिरा हुआ हो तो वह अपनी सुगन्ध को उनमें संक्रान्त कर देता है। जो उसके पास होते हैं, उन सबको अपने समान बना लेता है, उसी प्रकार संत-जन के निकट जो संसारी व्यक्ति होते हैं, वे भी उनके संसर्ग से साधु बन जाते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति, तद्गुण।

कबीर खाँई कोट की, पानी पिए[10] न कोइ।
जाइ मिलै[11] जब गंग मैं, तब सब गंगोदिक होइ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—कोट = दुर्ग। गंगोदिक=गंगोदक, गंगाजल।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि दुर्ग की खाई का पानी दूषित माना जाता है, अतएव उसका पानी कोई नहीं पीता। परन्तु वही जब बहकर गंगा में मिल जाता है, तब वह गंगा-

---

१. ना० प्र०—कारणि अपणैं, हनु०, यु०—कारण अपने। २. हनु०, यु०—सरीखा। ३. यु०—कबीर सो दिन निर्मला। ४. हनु०, यु०—मिलाय। ५. ना० प्र०—भेंटिया। ६. तिवारी—सरीरउ, हनु०, यु०—देह कां जाय। ७. तिवारी—कै बिड़े, हनु०—संग से, यु०—कै विषै. ८. ना० प्र०—बैठ्या, तिवारी, हनु०—बेधे ढाक, यु०—बेधा आक। ९. हनु०, यु०—सरीखा करि लिया। १०. ना० प्र०—पाँणी पिवै। ११. तिवारी, यु०—परै, तिवारी—लै।

जल के समान पवित्र हो जाता है और सभी लोग उसका पान करते हैं। ठीक इसी प्रकार जब तुच्छ जीव संतों के संसर्ग में आते हैं, तब उनमें शुद्धता आ जाती है और सभी लोग उनका आदरपूर्वक स्वागत करते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

जाँनि बूझि साँचहि[१] तजै, करै झूठ सौं[२] नेहु।
ताकी संगति राम्र जी, सुपिने हू जनि[३] देहु॥ ९॥

व्याख्या—कबीर का कथन है कि हे प्रभु! जो जान-बूझकर सत्य का त्याग करते हैं और झूठ से स्नेह करते हैं ऐसे लोगों की संगति स्वप्न में भी मत दो।

सो०—कबीर तासु मिलाइ, जासु हियाली तू बसै।
नहिं तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै॥ १०॥

शब्दार्थ—हियाली = हृदय में। नहिं तर=अन्यथा। गंजन=दुःख।

व्याख्या—कबीर का कथन है कि हे प्रभु! जिसके हृदय में तू अभिव्यक्त हो गया है, उससे मुझे मिला दे अन्यथा मुझे शीघ्र ही इस संसार से उठा ले। दुर्जनों के बीच में नित्यप्रति की वेदना को कौन सहता रहे?

केती[४] लहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ[५]।
बलिहारी ता दास की, उलटी माँहि समाइ[६]॥ ११॥

शब्दार्थ—कत = कितनी।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीवन-समुद्र के प्रवाह में न जाने कितने जीव डूबते-उतराते रहते हैं। इसका प्रवाह विषयों की ओर हो रहा है। वही जीव धन्य है जो इस प्रवाह के साथ विषयों की ओर नहीं बहता, प्रत्युत उनसे विपरीत प्रभु की ओर मुड़ता है और उसी में समा जाता है। प्रायः सभी जीव पराङ्मुखी होते हैं, वही धन्य हैं जो प्रत्यङ्-मुखी होकर सत्य के सुन्दर मुख को अपने भीतर देख लेते हैं।

तुलनीय—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः।
तस्मात् पराङ् पश्यति नात्मरात्मन्॥
कश्चिद् धीरः आवृत्त चक्षुः।
आत्मानमैक्षत अमृतत्वमिच्छन्॥ ४।१॥ कठोपनिषद्

अर्थात्—प्रभु ने इन्द्रियों को बाहर की ओर बनाया है। इसलिए जीव बाहर की ओर ही देखता है, भीतर की ओर नहीं। कोई विरला ही धीरपुरुष जो अमृतत्व का स्वाद लेना चाहता है, आँखें उलटकर आत्मा को देखता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. ति०–साँची, हनु०–साँचै। २. ना० प्र०–सूँ, हनु०—सो। ३. ना० प्र०—ही जनि, हनु०—जन जनि। ४. तिवारी–कबीर। ५. तिवारी—केती आवैं जांहि। ६. तिवारी—उलटि समावै माँहि।

काजल केरी कोठरी[1], काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, जा रहै राँम की ओट[2] ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—ओट = सहारा, आश्रय। दास = भक्त।

व्याख्या—यह संसार काजल की कोठरी के समान है। इसकी चारदीवारी भी काजल की ही है अर्थात् चारों ओर अज्ञान की कालिमा छाई हुई है। इस अज्ञान के घेरे में भी जो राम की शरण लेते हैं; प्रभु के प्रति जिनके हृदय में भक्ति जागृत होती है, वे धन्य हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

भगति हजारी कापड़ा, तामैं मल न समाइ।
साकत[3] काली कामरी[4], भावै तहाँ बिछाइ ॥ १३ ॥
—४९३ ॥

शब्दार्थ—हजारी कापड़ा = बहुमूल्य झीना श्वेत वस्त्र।

व्याख्या—भक्ति उस बहुमूल्य, झीने, श्वेत वस्त्र के समान है, जो थोड़ी-सी भी गन्दगी नहीं सहन कर सकता। उसमें थोड़ा-सा भी मल व्यक्त हो जाता है। शाक्त-साधना काले कम्बल के समान है, जिसे चाहे जहाँ बिछाइए, उसमें चाहे जितनी गन्दगी लग जाय, उसका पता नहीं चलता।

अलंकार—रूपक।

१. ना० प्र०—कोठड़ी। २. गु०—रहै राम की ओट। ३. ना० प्र०—साषित। ४. ना० प्र०—काँबली।

(२९) साध साषीभूत को अंग

साधारण जीव में चेतना ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान की त्रिपुटी में ही कार्य करती रहती है। जीव के भीतर जो प्रत्यगात्मा है, वह इन तीनों का साक्षी है। सुषुप्ति अवस्था में जब अन्तःकरण की वृत्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, उस अवस्था की भी चेतनता प्रत्यगात्मा में विद्यमान रहती है। वही प्रत्यगात्मा 'साक्षी' है। साधारण जीव को साक्षी का भान नहीं होता। जो योगी प्रत्यगात्मा से युक्त हो जाता है, वही 'साक्षीभूत साधु' है। कहा भी गया है:—

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहंकारादि अभावेऽपि स्वयं भाति पूर्ववत्॥

अर्थात् साक्षी ज्ञाता, ज्ञेय (विषय) और ज्ञान, तीनों को प्रकाशित करता है और इन तीनों के अभाव में भी वह स्वयं पूर्ववत् प्रकाशमान् बना रहता है।

निरबैरी निहकांमता[1], साँई[2] सेती नेह।
विषया[3] सों न्यारा रहै, संतनि का अंग एह[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निरबैरी = जो किसी से शत्रुता न रखता हो। निहकांमता = निष्काम रहना। साँई = स्वामी, ईश्वर। सेंती = से। अंग = लक्षण।

व्याख्या—किसी से वैर भाव न रखना, निष्काम रहना, प्रभु से स्नेह करना और विषयों से विरत रहना—यही सन्तों के लक्षण हैं।

संत न छाड़ै संतई[5], जे[6] कोटिक मिलैं असंत।
चँदन भुवंगम बेढ़िया[7], तउ सीतलता न तजंत ॥ २ ॥

शब्दार्थ—जे=यदि। भुवंगम = सर्प। वेढ़िया = वेष्टित रहना।

व्याख्या—सन्त अपनी साधुता को नहीं छोड़ता, चाहे वह करोड़ों दुर्जनों से क्यों न घिरा रहे जैसे चंदन सर्प से वेष्टित होने पर भी अपनी शीतलता को नहीं छोड़ता।

अलंकार दृष्टान्त।

कबीर हरि का भांवता, दूरै तैं[8] दीसंत।
तन खीनां[9] मन उनमनाँ, जग[10] रूठड़ा फिरंत ॥ ३ ॥

---

१. ग्रु०—नि'कामता। २. विं०—स्वामी। ३. ना० प्र०—विषियां सूँ, तिवारी—बिखया सौं। ४. ग्रु०, त्रि०—साधुन का मत एह। ५. त्रि०—संतता। ६. तिवारी—जो। ७. ना० प्र०—भुवंगा बंटिया, तिवारी—मलय भुवंगम वेढ़ियो, ग्रु० त्रि—मलय भुवंगम वेधिया। ८. ना० प्र०—थैं। ९ ना० प्र०—षीणाँ। १०. तिवारी—जगि।

शब्दार्थ— भांवता=प्रिय । दीसन्त=पहचान में आ जाता है । खीनाँ = क्षीण, कृश । उनमनाँ=जिसका मन प्रभु में लगा हुआ हो । रूठड़ा = विरक्त ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु का भक्त दूर से ही देखने से पहचान लिया जाता है । वह शरीर से कृश, मन से प्रभु में अनुरक्त और संसार से विरत हुआ घूमता फिरता है ।

कबीर हरि का भांवता, झीना पिंजर[1] तास ।
रैनि[2] न आवै नींदड़ी, अंगि न चढ़ई मास[3] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—झीना = क्षीण । पिंजर = शरीर ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु-भक्त के ये विशेष लक्षण हैं—विरह-ताप से उसका शरीर क्षीण रहता है, उसे रात-भर नींद नहीं आती और उसके शरीर के अंगों पर मांस नहीं चढ़ने पाता अर्थात् प्रभु की विरह-वेदना में वह सदैव क्षीण दिखाई देता है ।

अनरते[4] सुख सोवना[5], रातै[6] नींद न आई ।
ज्यौं[7] जल टूटै माछरी[8], यूँ बेलंत बिहाइ[9] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ— अनरते=जिनमें प्रेम नहीं है । रातै=अनुरक्त । टूटै=अलग होना । बेलंत= छटपटाते हुए । बिहाइ=बीतता है ।

व्याख्या—जिनके भीतर प्रभु में अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ है, वे संसार में माया-निद्रा में सुख से सोया करते हैं । परन्तु जिनके भीतर प्रभु के प्रति अनुराग जग गया है, उन्हें नींद नहीं आती । जैसे जल से वियुक्त मछली छटपटाती है, वैसे ही प्रभु के वियोग में तड़पते हुए उनका जीवन व्यतीत होता है ।

अलंकार—उदाहरण ।

जिनहुं क्छिू जांनां नहीं,[10] तिन्ह सुख नींदड़ी[11] बिहाइ ।
मैं रे[12] अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी[13] बलाइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बिहाइ = बीतता है । अबूझी = अज्ञेय, अबोध्य । बूझिया = जानने चला । बलाइ = विपत्ति ।

व्याख्या—जो ईश्वर के विषय में कुछ नहीं जानते वे आराम से माया-निद्रा में सोते हैं । मैं उस अज्ञेय को जानने के चक्कर में पड़ा तो विपत्ति में पड़ गया । जानने का साधन मन और बुद्धि ही है और मन-बुद्धि द्वारा वह जाना नहीं जा सकता । इसीलिए एक ऐसी कठिनाई उपस्थित होती है जिसका कोई हल निकलना सम्भव नहीं ।

अलंकार—'अबूझी बूझिया' में विरोधाभास ।

---

१. ना० प्र०—झीणाँ पंजर । २. ना० प्र०—रैणि, गु०—नैन न आवै नींदरी । ३. गु०—देह न तनकी माँस । ४. ना० प्र०—अणरता । ५. ना० प्र०—सोवणां । ६. गुप्त-रत्तै । ७. ना० प्र०—ज्यूँ । ८. ना० प्र०—मंछली । ९. गु०—तलफत रैन विललाय । १०. ना० प्र०—जिन्य कुछ जाण्यौं नहीं । ११. तिवारी—नींद । १२. ना० प्र०—मैंर । १३. तिवारी—परी ।

जांन[1] भगत का नित मरन[2], अनजाने[3] का राज।
सर अपसर[4] समझै नहीं, पेट भरन सौं[5] काज ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सर अपसर = ऊँच-नीच, भला-बुरा।

व्याख्या—ज्ञानी भक्त का तो नित्य मरण है, क्योंकि वह वियोग की वेदना से पीड़ित रहता है। अज्ञानी मौज में रहता है। उसे ऊँच-नीच, भले-बुरे के विवेक से कोई मतलब नहीं; वह केवल भौतिक जीवन व्यतीत करता रहता है।

जा घट जान विजान है,[6] तिहि घटि आवटनां घनां[7]।
बिन खाँडे[8] संग्राम है, नित उठि मन सौं जूझनां[9] ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—जान विजान = ज्ञान-विज्ञान। आवटनां = उथल-पुथल, ऊहापोह। घनां=अत्यधिक। खाँडे = खड्ग, तलवार। जूझना=युद्ध करना।

व्याख्या—जिसके हृदय में विवेक उत्पन्न हो गया है, उसे चैन कहाँ? उसके भीतर निरंतर मानसिक ऊहापोह बना रहता है। यद्यपि वह कोई तलवार नहीं धारण करता तथापि वह नित्य मन से युद्ध करता रहता है। उसे मन विषयों की ओर प्रवृत्त करना चाहता है और वह प्रभु की ओर प्रवृत्त होना चाहता है। उसमें यह संग्राम निरंतर चलता रहता है।

अलंकार—विभावना।

राम वियोगी तन[10] विकल, ताहि न चीन्है कोइ[11]।
तंबोली[12] के पान ज्यौं,[13] दिन दिन पीला होइ ॥ ९ ॥

व्याख्या—भक्त राम के वियोग में व्यथित रहता है। उसकी व्यथा को कोई पहचानता नहीं। अपनी विरह-वेदना के कारण, वह दिन-प्रति-दिन वैसे ही पीला होता जाता है, जैसे तम्बोली का पान अपने मूल से छिन्न होने पर हरा नहीं रहता, पीला होता जाता है।

अलंकार—उदाहरण।

पीलक[14] दौड़ी साँइयाँ, लोग्र कहैं पिंड रोग[15]।
छाँनै लंघन[16] नित करै,[17] राम पियारे जोग ॥ १० ॥

---

१. ना० प्र०—जाँण। २. ना० प्र०—मरण। ३. ना० प्र०—अणजांणे। ४. ना० प्र०—अवसर। ५. ना० प्र०—भरण सूँ। ६. ना० प्र०—जिहि घटि जाँण विनाँण है। ७. ना प्र०—आवटणाँ घणाँ। ८. ना० प्र०—षंडं। ९. ना० प्र०—झूझणाँ। १०. ति०—यु०—विकल तन। ११. ति०—इन्ह दुखवौ मति कोइ। १२. ति०—छूवत ही मरि जाइंगे, तालावेली होइ। १३. ना० प्र०—ज्यूँ। १४. यु०—पील कँदौरी। १५. यु०—कवल कहे इस रोग। १६. ना० प्र०—लँघण। १७. यु०—करूँ।

शब्दार्थ--पीलक = पीलापन। पिंड रोग = पांडु रोग। छांनै = प्रच्छन्न रूप में। जोग = मिलन।

व्याख्या--प्रभु के विरह के कारण सारे शरीर में पीलापन दौड़ गया है। लोग समझते हैं कि इसे पीलिया रोग हो गया है। अपने प्रिय से मिलने के लिए वह छिपकर नित्य लंघन करता है, इसी कारण क्षीण होता जाता है।

अलंकार--भ्रान्तिमान।

काम मिलावै राम कौं[1], जो कोई जानै राखि[2]।
कबीर बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलै साखि[3] ॥ ११ ॥

शब्दार्थ--काम = प्रेमाभक्ति। राखि = सुरक्षित। साखि = साक्षी।

व्याख्या--यदि कोई काम पर उपयुक्त नियन्त्रण कर अनासक्त भोग को जानता है तो 'काम' भगवत्-प्राप्ति का साधन बन जाता है। गोपियों की भक्ति इसी प्रकार की थी। शुकदेवजी इसके साक्षी हैं। श्रीमद्भागवत में गोपियों की माधुर्य भक्ति का वर्णन किया गया है। इसमें बेचारे कबीर का क्या दोष? जब कबीर इसका प्रतिपादन करते हैं तो वह किसी अपसिद्धान्त की बात नहीं करते।

तुलनीय--कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय मोहि लागहु राम ॥
--तुलसी।

कांमिनि[4] अंग बिरकत[5] भया, रत भया[6] हरि नांइ।
साखी[7] गोरखनाथ ज्यौं[8], अमर भये कलि माँहि ॥ १२ ॥

शब्दार्थ--बिरकत = विरक्त। रत = अनुरक्त।

व्याख्या--काम एक शक्ति है। यदि वह विषयों तथा नारी की ओर प्रवृत्त होता है तो मानव संसारी बन जाता है। यदि उसे उलटकर प्रभु में लगाया जाय तो मानव भक्त बन जाता है। जब काम नारी से विरक्त हो जाता है और प्रभु में रत हो जाता है तो मानव प्रभु के मिलन का अनुभव करता है। गोरखनाथ इस प्रकार की भक्ति के साक्षी हैं। वह अपनी इसी अनुरक्ति के कारण कलियुग में अमर हो गए।

टिप्पणी--गोरखनाथ कौल मार्ग के अनुयायी थे। इस मार्ग में काम द्वारा प्रवृत्त वीर्य के पतन को नीचे गिरने से रोककर वज्रौली क्रिया द्वारा ऊपर चढ़ाया जाता है। इस प्रकार काम, जो संसार और नारी की ओर प्रवृत्त होता रहता है, उसे प्रभु को ओर उन्मुख कर देने से वही शक्ति मानव को ऊपर उठा देती है। गोरखनाथ का साक्ष्य इसी बात के लिए दिया गया है।

---

१. ना० प्र०--कूँ। २. ना० प्र०--जे कोई जाँणै राषि। ३. ना० प्र०--साषि। ४. ना० प्र०--कांमणि। ५. ति०--अरत भए। ६. ति०--भए। ७. ना० प्र०--साषी। ८. ना० प्र०--ज्यूँ।

जदि[1] बिषै पियारी प्रीति सौं[2], तब अन्तर हरि नाँहि।
जब अंतर हरि जी बसै, तब बिषया[3] सों चित नाँहि॥ १३ ॥

शब्दार्थ—जदि = यदि। प्रीति=प्रभु के प्रति अनुराग।

व्याख्या—यदि प्रभु के प्रति अनुराग से बढ़कर विषयों के प्रति लगाव होता है, तो हृदय में प्रभु निवास नहीं करते। जब प्रभु के प्रति अनुराग अधिक होता है, तब हृदय राम से व्याप्त होने लगता है और मन विषयों में नहीं लगता। चित्त से विषयों के प्रति आकर्षण स्वयं नष्ट हो जाता है।

जिहि[4] घट मैं संसै[5] बसै, तिहि[6] घटि राम न जोइ[7]।
राम सनेही दास बिचि,[8] तिना[9] न संचर होइ[10] ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—संसै = संशय। जोइ=खोजो। तिना = तृण। संचर = संचार।

व्याख्या—जिसके हृदय में संशय निवास करता है, उसमें प्रभु को खोजने का प्रयास व्यर्थ है। गीता में कहा गया है— संशयात्मा विनश्यति अर्थात् संशयालु विनाश को प्राप्त होता है। यदि हृदय संशय से युक्त है तो उसमें राम के लिए स्थान कहाँ? राम और उसके प्रेमीभक्त के बीच में तृण तक के रहने का अवकाश नहीं। संशय की तो बात ही दूर है। उसका हृदय राम-प्रेम से भरा रहता है।

स्वारथ को सब[11] कोइ सगा, जग सगला ही जांनि[12]।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांनि[13] ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—सगला = सकल। पिछांनि = पहचानो।

व्याख्या—संसारी जीवों का यही स्वभाव है कि सभी लोग स्वार्थवश प्रेम करते हैं। सम्पूर्ण जगत् का यही नियम है। जो बिना स्वार्थ के आदर करता है, यह जान लो कि उसके भीतर प्रभु के लिए प्रीति है। तभी वह सबको प्रभु-भक्त समझकर, उनका आदर करता है।

तुलसीदास ने भी कहा है—

उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध॥

जिहि हिरदै हरि आइया,[14] सो क्यों[15] छाँनाँ होइ।
जतन जतन करि दाबिए, तऊ उजाला[16] होइ ॥ १६ ॥

---

१. ति०—में 'जदि' नहीं है। २. ना० प्र०–सूं। ३. ति०—बिखिया सौं। ४. यु०–वि०–जा। ५. ना० प्र०–संसौ, यु०–संशय। ६. यु०—वि०–ता घट। ७. यु०—वि०– होय। ८. यु०–वि०–साधु बिच। ९. ना० प्र०—तिणों। १०. यु०—वि०—जोय। ११. ना० प्र०—सबको। १२. ना० प्र०—सब सगलाही जाँणि। १३. ना० प्र०—पिछांणि। १४. यु०—वि—जा घट में साँई बसै। १५. ना० प्र०–क्यूँ। १६. यु०—वि०–तौ उजियारा।

शब्दार्थ—छाँनाँ = छिपा, छन्न।

व्याख्या—जिसके हृदय में प्रभु प्रकट हो गए हैं, वह छिपाया नहीं जा सकता। चाहे लाख प्रयत्न करके उसे छिपाएँ, तब भी वह प्रकाश प्रकट हो ही जाता है।

फाटै दीदै मैं फिरूँ[1], नजरि न आवै कोइ।
जिहि घटि[2] मेरा साँइया, सो क्यों[3] छाना होइ॥ १७॥

शब्दार्थ—फाटै = फाड़-फाड़कर। दीदै = नेत्रों से। छाना = छन्न, छिपा।

व्याख्या—मैं आँखें फाड़-फाड़कर हरि-भक्त को देखने के लिए घूमता फिरता हूँ, परन्तु कोई सच्चा भक्त दिखलाई नहीं पड़ता। माला धारण करनेवाले और त्रिपुंड लगानेवाले तथाकथित साधु तो अनेक दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु हरि-भक्त का दर्शन दुर्लभ है। जिसके हृदय में मेरे प्रभु विद्यमान हों, क्या भला वह छिपा रह सकता है? उसकी पहचान स्वतः हो जाएगी।

सब घटि[4] मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोय।
भाग तिन्हौं का हे सखी,[5] जिहि[6] घटि परगट होइ॥ १८॥

व्याख्या—प्रभु सभी के अन्तःकरण में विद्यमान हैं। कोई भी हृदयरूपी शय्या सूनी नहीं है। किन्तु हे सखी! वे बहुत भाग्यशाली हैं, जिनके हृदय में उनकी स्थिति अभिव्यक्त हो जाय अर्थात् जिनके और प्रभु के बीच आपा का पर्दा भग्न हो जाय।

पावक रूपी राम है, घटि घटि रहा समाइ[7]।
चित चकमक लागै नहीं, तार्थं[8] धूवाँ ह्वै ह्वै जाइ॥ १९॥

शब्दार्थ—पावक = अग्नि। चकमक = एक प्रकार का पत्थर जिस पर आघात करने से आग निकलती है।

व्याख्या—प्रभु अग्नि के समान प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में परिव्याप्त हैं। किन्तु उनको प्रत्यक्ष करने के लिए चित्तरूपी चकमक का संस्पर्श आवश्यक है। चित्त के संस्पर्श के बिना, यत्न करने पर भी अग्नि का प्रकाश नहीं हो पाता, केवल धुआँ छाया रहता है अर्थात् प्रेम के बिना उस प्रभु का प्रकाश नहीं हो पाता, केवल अज्ञान का अंधकार छाया रहता है।

अलंकार—सांगरूपक।

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ।
कै[9] जागै विषई[10] विष भरा, कै दास बंदगी होइ॥ २०॥

---

१. ना० प्र०—फिरौं। २. यु०—जा घट। ३. ना० प्र०—क्यूँ। ४. यु०—वि०—घट। ५. यु०—वि०—बलिहारी वा घाट (घट्ट) की। ६. यु०—वि०—जा। ७. यु०—सब घट रहा समाइ। ८. यु०—प्रति में तार्थं नहीं है। ९. यु०—कै जागै विषया भरा, दास बन्दगी सोइ। १०. ति०—बिखई बिख भरा।

शब्दार्थ—खालिक = सृष्टिकर्त्ता । बन्दगी = प्रणत ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीवों में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। किन्तु अन्तःकरण में विद्यमान भागवती चेतना सदा जाग्रत रहती है। उसमें स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ नहीं होतीं। और कोई ऐसा नहीं है, जो सदा जाग्रत रहे। संसारी जीवों में या तो विषयी नित्य जागते रहते हैं अर्थात् विषयरूपी विष से भरे हुए काम में प्रवृत्त रहते हैं अथवा वे भक्त जागते रहते हैं जिनका चित्त प्रभु-चरण में सदा अनुरक्त रहता है। उनके भीतर प्रभु-मिलन की आग सदा बनी रहती है।

टिप्पणी—'जागै, जागै' में यमक अलंकार।

कबीर चाला[1] जाइ था, आगैं मिला[2] खुदाइ।
मीराँ मुझ सौं यौं कहा[3], किनि[4] फुरमाई गाइ॥ २१॥
—५१४॥

शब्दार्थ—मीराँ = स्वामी। फुरमाई = कहा। गाइ = गाकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं अपनी धुन में मस्त चला जा रहा था। इतने में मुझसे प्रभु मिले अर्थात् मुझे दैवी प्रेरणा हुई। मेरे स्वामी ने मुझसे कहा कि तुमने जो कुछ साक्षात्कार किया है, उसे गाकर अर्थात् पद्यबद्ध करके क्यों नहीं प्रचारित करते? प्रभु-प्रेरणा से ही मैं अपनी अनुभूतियों को काव्य का रूप दे रहा हूँ।

●

---

१. ना० प्र०—चाल्या। २. ना० प्र०—मिल्या। ३. ना० प्र०—कह्या। ४. ति०—तुझं कीन्हिं।

(३०) साधु महिमा को अंग

चन्दन की कुटकी भली, नाँ बँबूर अंबराँउँ[१]।
बैश्नौं[२] की छपरी भली, ना साकत बड़ गाँउँ[३] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कुटकी = छोटा टुकड़ा। अंबराँउँ=बाग।

व्याख्या—चन्दन का एक छोटा-सा टुकड़ा, बबूल के पूरे बाग की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है। ऐसे ही प्रभु-भक्त वैष्णव की एक सामान्य झोपड़ी शाक्तों के बड़े गाँव से अधिक श्रेष्ठ है।

तुलनीय—

संतन की झुगिया भली, भठि कुसती गाँव।
आगि लगी तिह धउलहर, जह्न नाहीं हरि का नाव ॥ १५ ॥
—गुरु ग्रन्थसाहब।

अलंकार—दृष्टान्त।

पुर पट्टन[४] सूबस बसै, आनँद ठाँवै ठाँव[५]।
राँम सनेही बाहिरा, ऊजँड़ मेरे भाव[६] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पट्टन = नगर। सूबस = सुन्दर बसा हुआ। ठाँवै ठाँव = स्थान-स्थान पर। बाहिरा = रहित, बिना। भाव=दृष्टि में।

व्याख्या—पुर और नगर सुन्दर रूप से बसा हुआ हो और उसमें स्थान-स्थान पर आनन्द मनाया जा रहा हो, किन्तु यदि उसमें राम-भक्त का निवास नहीं है, तो वह मेरे विचार से उजड़े हुए स्थान के समान है।

अलंकार—विनोक्ति।

जिहि[७] घरि साधु न पूजिए, हरि की सेवा नाँहि।
ते घट मरहट सारिखे,[८] भूत बसैं ता माँहि[९] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—मरहट = मरघट, श्मशान। सारिखे = सदृश।

व्याख्या—जिस घर में संतों का सम्मान नहीं होता और भगवान की पूजा नहीं होती, वह श्मशान के समान है और उसमें रहनेवाले भूत के सदृश हैं अर्थात् जीवित ही मृत के समान हैं।

---

१. ति०—नां बवूर लखराँव, वि०–ना वाबुल वनराव, यु०—कहत मवूल वनराव। २. ति०—यु०–वि०–साधुन। ३. वि०–ना साकुट को गाँव, यु०—बुरो असाधु को गाँव। ४. ना० प्र०–पाटण। ५ ना० प्र०–ठाएँ ठाँइ। ६. ना० प्र०—भाइ। ७. वि०–यु०–जा घर साधु न सेवहीं, पारब्रह्म पति नाँहि। ८. ना० प्र०–मड़हट सा॰षे। ९. ना० प्र०–तिन माँहि, वि०—ता ठाँहि।

अलंकार—उपमा।

हैं[१] गै वाहन सघन घन, छत्र धुजा[२] फहराइ।
ता सुख तें भिख्या[३] भली, हरि सुमिरत दिन जाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—हैं=हय, घोड़ा। गै=गज, हाथी। वाहन=सवारी। सघन घन=अधिक संख्या में।

व्याख्या—यदि किसी के पास सवारी के लिए बहुत से घोड़े और हाथी हों, सिर पर छत्र हो और उसके मकान पर ध्वजा फहराती हो, फिर भी यदि वहाँ भक्ति का वातावरण नहीं है तो उस सुख की अपेक्षा भिक्षा माँगकर प्रभु के स्मरण में जीवन-निर्वाह करना कहीं श्रेयस्कर है।

हैं[४] गै वाहन सघन घन, छत्रपती की नारि।
तास पटंतर नाँ तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पटंतर = तुलना, समता।

व्याख्या—यदि कोई बहुत ही धन-धान्य से परिपूर्ण हो, उसके पास बड़ी संख्या में अश्व-गज आदि वाहन हों और वह छत्रपति की स्त्री हो तो भी वह प्रभु-भक्त की पनिहारिन की तुलना में नहीं ठहर सकती अर्थात् उससे उसकी समता नहीं की जा सकती।

अलंकार—व्यतिरेक।

क्यों[५] नृप नारी निंदिए[६], क्यों[७] पनिहारी को माँन।
वा माँग सँवारै पीव कौं[८], वा नित उठि सुमिरै राँम ॥ ६ ॥

व्याख्या—प्रभु-भक्त की पनिहारिन की अपेक्षा राजा की भी पत्नी को क्षुद्र क्यों समझा जाता है? कारण यह है कि रानी केवल अपने पति को प्रसन्न करने के लिए शृंगार करती है और पनिहारिन नित्य प्रातः उठकर भगवत् स्मरण करती है।

कबीर[९] धनि ते[१०] सुन्दरी, जिनि[११] जाया बैस्नौं पूत।
राँम[१२] सुमिरि निरभै हुआ[१३], सब जग गया अऊत[१४] ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—अऊत = अपूत।

---

१. ना० प्र०—है गै गैवर, यु०—हैवर गैवर। २. ना० प्र०—धजां। ३. ना० प्र०—थैं भिष्या, यु०—भिक्षुक भला। ४. ना० प्र०—है गै गैवर, यु०-वि०-हैवर गैवर। ५. ना० प्र०-क्यूँ। ६. ना० प्र०—नींदये। ७. ना० प्र०—क्यूँ। ८. ना० प्र०—कौ। ९. वि०—यु०-धन्य सो माता सुन्दरी। १०. ति०-सो। ११. वि०—जाया साधू पूत। १२. वि०—नाम। १३. अन्य—भया। १४. वि०—यु०—अरु सब गया अबूत।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि वह स्त्री धन्य है जिसने हरि-भक्त पुत्र को जन्म दिया है। वह राम के नाम का स्मरण करके निर्भय हो जाता है। उसके अतिरिक्त सारे संसार को निस्संतान ही समझना चाहिए।

तुलनीय—पुत्रवती जुवती जग सोई,
रघुबर भगत जासु सुत होई।
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी,
राम बिमुख सुत ते बड़िहानी ॥
—तुलसी।

कबीर कुल सोई[1] भला, जिहि[2] कुल उपजै दास।
जिनि[3] कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक[4] पलास ॥ ८ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिस कुल में प्रभु-भक्त जन्म ले, वही कुल सर्वोत्तम है। जिस कुल में कोई प्रभु-भक्त न उत्पन्न हो, वह मदार और ढाक के समान निस्सार है।

अलंकार—उपमा।

साकत बांह्मन[5] मति मिलै, बैसनौं मिलै चंडाल।
अंकमाल दै भेटिए, माँनौं मिले गोपाल ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—अंकमाल=आलिंगन।

व्याख्या—शाक्त चाहे ब्राह्मण ही क्यों न हो, उससे मिलना अच्छा नहीं है और प्रभु-भक्त वैष्णव चांडाल से भी अँकवार भरकर (आलिंगन-बद्ध होकर) मिलने से ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रभु गोपाल से ही मिल रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

राँम जपत दालिद भला, टूटी घर की छाँनि।
ऊँचे मन्दिर जालि दे, जहँ[6] भगति न सारँगपाँनि ॥ १० ॥

शब्दार्थ—दालिद=दारिद्रय। छाँनि=छप्पर, छाजन। जालि दे=जला दे। सारँगपाँनि=धनुषधारी विष्णु, धनुर्धर प्रभु।

व्याख्या—राम के जप में, प्रभु की भक्ति में चाहे दारिद्रय भी हो और मकान का छाजन भी टूटा हुआ हो तो भी वह अभिनन्दनीय है। जहाँ प्रभु की भक्ति नहीं है, ऐसे ऊँचे प्रासाद भी जला देने योग्य हैं।

कबीर भया है केतकी, भँवर भए सब दास।
जहँ जहँ[7] भगति कबीर की, तहँ तहँ[8] राँम निवास ॥ ११ ॥
—५२५ ॥

---

१. ना० प्र०—तौ सो, यु०—सोही। २. यु०—जा। ३. यु०—जा। ४. ति०—ढाक। ५. ना० प्र०—साषत बाँभण। ६. ना० प्र०—जहाँ। ७. ना० प्र०—जहाँ जहाँ। ८. ना० प्र०—तहाँ तहाँ।

शब्दार्थ—केतकी=एक छोटा पौधा जिसमें सुगंधित पुष्प होता है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु का सच्चा भक्त केतकी पुष्प के समान है और प्रभु के सभी सेवक भ्रमर के समान हैं। जहाँ-जहाँ कबीर की जैसी सच्ची भक्ति है, वहाँ प्रभु का निवास रहता है और प्रभु के सारे भक्त उस पर भ्रमर के समान मँडराते रहते हैं।

अलंकार—रूपक।

(३१) मधि को अंग

'मधि को अंग' में कबीर उस पद की ओर संकेत कर रहे हैं जिसे गीता में 'द्वन्द्वातीत' कहा है—

> निर्मानमोहा जितसंग दोषा
> अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
> द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
> र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ (१५।५)

अर्थात् जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिजन्य दोष जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में निरन्तर स्थिति है, जिनकी कामना नष्ट हो गयी है, जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से वियुक्त हैं, ऐसे ज्ञानीजन उस परमपद को प्राप्त होते हैं ।

इसी अवस्था को नाथ सम्प्रदाय और कबीर में 'सहजावस्था' कहा गया है । इसमें सभी द्वन्द्व अवशोषित हो जाते हैं । इसी को 'सामरस्य' की अवस्था भी कहते हैं । इसी में 'उन्मनी' का अनुभव होता है ।

'मधि' का दूसरा योगपरक अर्थ है—इड़ा और पिंगला के मध्य सुषुम्ना का मार्ग—मध्य मार्ग ।

> कबीर[1] मधि अंग जे को रहै, तौ तिरत न लागै बार ।
> दुइ-दुइ अंग सूँ लाग करि, डूबत है संसार ॥ १ ॥

शब्दार्थ—जे को=जो कोई । मधि=मध्यमार्ग, द्वन्द्वातीत । दुइ दुइ = द्वन्द्व ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जो मध्य मार्ग का अनुसरण करता है, उसे भव-सागर पार करते देर नहीं लगती । जो द्वन्द्व के चक्कर में रहता है, वही संसार में डूबता है । द्वन्द्व का तात्पर्य है—सुख-दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि ।

> कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि ।
> यहु सीतल वहु तपति है,[2] दोऊ कहिए आगि ॥ २ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि दुविधा को छोड़कर, अतिवादी दृष्टियों को त्यागकर मध्यम मार्ग में लग जाना चाहिए । अत्यधिक शीतलता और अत्यधिक ताप दोनों अग्नि के समान विनाशक हैं । इसलिए मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है ।

---

१. यु०—वि०—मध्य अंग लागा रहै, तरत न लागै बार ।
दो दो अंग सो लागता, यौं बूड़ा संसार ॥ १ ॥

२. यु०—वि०—वा शीतल वा तपत है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ 'एक अंग' से तात्पर्य है—मध्यम मार्ग।

(२) लौकिक जन में वायु चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी के द्वारा गतिशील रहती है। सुषुम्ना इन दोनों के बीच में है। उसका दूसरा नाम ही है—मध्यनाड़ी अथवा ब्रह्म नाड़ी। यहाँ 'सीतल' से चन्द्रनाड़ी का संकेत है और 'तपति' से सूर्य नाड़ी का। कबीर कहते हैं कि कहने के लिए एक नाड़ी शीतल है और दूसरी ऊष्ण। किन्तु आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से दोनों ही आग के समान हैं। संकल्प-विकल्पात्मक मन तब तक लय को प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक वायु का संचार 'मध्य नाड़ी' से न हो और जब तक संकल्प-विकल्पात्मक मन का लय नहीं हो जाता, तब तक सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

> अनल आकासाँ[1] घर किया, मद्धि[2] निरन्तर बास।
> बसुधा व्योम बिरकत रहै,[3] बिना[4] ठौर बिस्वास ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अनल=एक पक्षी (विस्तार के लिए देखिए १३।९)। आकासाँ=अन्तरिक्ष में। बिरकत=विरक्त।

व्याख्या—अनल पक्षी अन्तरिक्ष में अपना नीड़ बनाता है और आकाश तथा पृथ्वी, भूर्लोक और स्वर्लोक के बीच में ही निरन्तर वास करता है। वह पृथ्वी और आकाश दोनों से दूर रहता है। यद्यपि अन्तरिक्ष में कोई प्रत्यक्ष आश्रय नहीं है, तथापि अपने अडिग विश्वास से वह वहाँ स्थित रहता है। ठीक इसी प्रकार साधक को द्वन्द्वों से अलग रहकर 'सहज-समरस' अवस्था में स्थित रहना चाहिए, जो मानव द्वारा कल्पित निश्चित स्थानों से अतीत है।

यदि 'बिन ठाहर बिस्वास' पाठ लिया जाय तो भी अर्थ में अन्तर नहीं आता। 'ठाहर' का अर्थ है—स्थल।

> बासुरि[5] गमि ना रैनि[6] गमि, नाँ सुपिनंतर[7] गंम।
> कबीर तहाँ बिलंबिया, जहाँ छाँह[8] नहिं घंम[9] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बासुरि=दिन। रैनि = रात। सुपिनंतर=स्वप्न में भी। बिलंबिया = स्थित। घंम = घाम, धूप।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं उस द्वन्द्वातीत अवस्था में स्थित हूँ जहाँ न दिन की पहुँच है, न रात की, जो स्वप्नों में भी नहीं जाना जा सकता और न जहाँ छाया है, न धूप।

वासर-रैन, धूप-छाँह आदि द्वन्द्व के उदाहरण हैं।

---

१. गु०—वि—अकासे। २. ना० प्र०—मधि, गु०—मध्य। ३. ति०—गुप्त-वास विगता रहै। ४ ना० प्र०-बिनठा हर, ति० गु०—बिन ठाहर। ५. गु०, वि०—वासर गम नहिं रैन गम, नहि सपनेतर गाम। ६. ना० प्र०—रैणि। ७. ना० प्र०—सुपनैं तरगंम। ८. ना० प्र०—छाँहड़ी न। ९. गु० वि०—घाम।

जिहि पैंडै[१] पंडित गए, दुनियाँ[२] परी[३] बहीर।
औघट घाटी गुर[४] कही, तिंहि चढ़ि रहा[५] कबीर ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पैंडै = मार्ग। बहीर = जनसमूह, भीड़ (दे०—संक्षिप्त शब्दसागर, पृ० ७१९)। औघट = विकट मार्ग। घाटी = पर्वतों के बीच का सँकरा मार्ग।

व्याख्या—जिस मार्ग से शास्त्रज्ञानी पंडित लोग गये हैं और जिस परम्परा के मार्ग पर संसार की भीड़ चलती रहती है, कबीर उस मार्ग पर नहीं चले। उस परमतत्त्व का मार्ग अत्यन्त दुर्गम (अवघट्ट) है। वह दुर्गम, कठिन और सँकरा मार्ग गुरु ने बतलाया और कबीर ने उसी मार्ग द्वारा परमतत्त्व तक आरोहण किया।

टिप्पणी—'औघट घाटी' में जिस विकट मार्ग का संकेत किया गया है, उसका वर्णन कबीर ने निम्न साखी में भी किया है:—

घट माँहैं औघट लहा, औघट माँहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ॥
(५।९)

सुरग[६] नरक तैं मैं रहा, सतगुर के परसादि[७]।
चरन कँवल की मौंज मैं, रहौं[८] अंति अरु आदि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—रहा = विलग रहा, पृथक् रहा। अंति अरु आदि = निरन्तर।

व्याख्या—सत्गुरु की कृपा से मैं स्वर्ग-नरक दोनों से दूर हूँ। ये दोनों भोग के स्थान हैं। इनमें जन्म-मरण का चक्कर लगा रहता है। मैं तो निरन्तर प्रभु के चरण-कमल के आनन्द में निमग्न रहता हूँ।

अलंकार—'चरन कँवल' में रूपक।

हिन्दू मूये[९] राँम कहि, मूसलमान खुदाइ।
कहै[१०] कबीर सो जीवता, दुइं[११] मैं कदे न जाइ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मूये = मर गये। कदे = कभी भी।

व्याख्या—हिन्दू लोग परमतत्त्व के लिए 'राम-राम' रटते हुए और मुसलमान परमतत्त्व को 'खुदा' में सीमित करके नष्ट हो गये। कबीर कहते हैं कि वास्तव में वही जीवित हैं जो राम और खुदा के भेद में कभी नहीं पड़ता, जो इन दोनों में व्याप्त अद्वैत-तत्त्व को देखता है। जीवन की सार्थकता इस भेद-बुद्धि से ऊपर उठना है।

---

१. ति०—मारगि। २. ति०—तेई गई। ३. गुप्त—पई। ४. ति०—राँम की। ५. ना० प्र०—रह्या। ६. ना० प्र०—स्रग नृक थैं हूँ रह्या, गुप्त०—सरग नरक थैं हूँ रह्या, यु०—वि०—नरक स्वर्ग ते मैं रहा। ७. ना० प्र०— प्रसादि। ८. ना० प्र०—रहिस्यूँ अंतिरु आदि,. यु०—वि० रहसी अन्त रु आदि। ९. ति०, वि०, यु०—मूवा। १०. यु०—कह। ११. ति०—जो दुहुँ कै निकटि न जाइ, यु०, वि०—दोउ के संग न जाइ।

१५

दुखिया सूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी राँम के, जिनि सुख-दुख मेल्हे दूरि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—झूरि = संतप्त, चिन्तित। मेल्हे = फेंक दिया।

व्याख्या—दुःखी व्यक्ति दुःख के कारण पीड़ित रहता है और सुखी अधिक सुख की खोज में संतप्त रहता है। कबीर कहते हैं कि राम के भक्त, जिन्होंने दुःख-सुख के द्वन्द्व का परित्याग कर दिया है; सदा आनन्द में रहते हैं।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
राँम सनेही यूँ मिलै, दोनउं[1] बरन गँवाइ[2] ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—बरन = रंग। भाइ (से भाव) = प्रकार, ढंग।

व्याख्या—इस साखी में कबीर ने आध्यात्मिक जीवन की एक उच्च स्थिति का संकेत किया है। हल्दी पीली होती है और चूना श्वेत रंग का होता है। परन्तु जब दोनों एक में मिलते हैं, तब एक नया लाल रंग बन जाता है। इसी प्रकार जब राम और उनके भक्त मिलते हैं, तब न तो भक्त का आपा रह जाता है और न ब्रह्म का निर्गुणत्व। भक्त एक नई स्थिति में परिणत हो जाता है, जहाँ न तो वह पूर्णरूपेण मनुष्य है और न पूर्ण ब्रह्म। वह रूपान्तरित हो जाता है और भागवती स्थिति में जीवन व्यतीत करता है। वह एक God-man भागवत पुरुष हो जाता है।

अलंकार—निदर्शना।

काबा फिर[3] कासी भया, राँमहि[4] भया रहीम।
मोट[5] चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥ १० ॥

शब्दार्थ—चून = चूनी, आटा। जीम = (सं०—जेमनम् = जिम्=भोजन करना) भोजन।

व्याख्या—सम्प्रदाय के आग्रहों को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाने पर काबा काशी हो जाता है और राम रहीम बन जाते हैं। सम्प्रदायों की रूढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं। भेदों का मोटा आटा अभेद का मैदा बन जाता है। हे कबीर! तू इस अभेद रूपी मैदे का भोजन कर, स्थूल भेदों के चक्कर में न पड़।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

धरती[6] अरु असमान बिचि, दोइ[7] तूँबड़ा अबध।
षट दरसन संसै[8] पड़ा, अरु[9] चौरासी सिध[10] ॥ ११ ॥
—५३६ ॥

---

१. ना० प्र०—द्न्यू। २. गुप्त—गमाइ। ३. ति०—फिरि। ४. ना० प्र०—राँम, यु०, वि०—राम जु (जो)। ५. गुप्त—मोठ। ६. ति०—सुरग पताल के बीच मैं, यु०—वि०—धरती और अकास में। ७. ति०—दोइ तुमरिया बद्ध, यु०—वि०—दो तूँबरी अबद्ध। ८. ति०, यु०, वि०—धोखै पड़े। ९ यु०, वि०—औ। १०. ति०—सिद्ध।

शब्दार्थ---दोइ तूँबड़ा = दो तुंबा–सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी, इड़ा-पिंगला। अवध = (i) अवधि, अवकाश, 'मधि सुनि' अर्थात् ब्रह्म नाड़ी। (ii) अवध्य, अविनाश्य। षड़दरसन=न्याय, वैशेषिक, सांख्य,योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा।

व्याख्या—(i) यदि 'अवध' का अर्थ अवधि या अवकाश लिया जाय तो अर्थ इस प्रकार होगा—पृथ्वी और आकाश रूपी दो तुंबों के बीच एक विस्तृत अवकाश है। इसी प्रकार इस शरीर में सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा और पिंगला नाड़ी रूपी दो तुम्बों के बीच में एक अवकाश है, जिसे कबीर ने 'मधि सुनि' कहा है। उसे लोग नहीं जानते। वही ब्रह्म नाड़ी है। उसको न जानने के कारण छहों दर्शन और चौरासी सिद्ध संशय में पड़े रहते हैं।

तुलनीय—चंद सूर दोइ तूँबा करिहूँ, चित चेतनि की डाँड़ी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि विधि त्रिष्णा षाँड़ी।।
—कबीर ग्रन्थावली—पद सं० १९६।

(ii) यदि 'अवध' का अर्थ अवध्य या अविनाश्य लिया जाय तो इस साखी का अर्थ इस प्रकार होगा--

पृथ्वी और आकाश के बीच में द्वैत-दृष्टि का तुंबा अवध्य (अविनाश्य) है। उसका सरलता से विनाश नहीं किया जा सकता। उसी द्वैत के कारण छहों दर्शन और चौरासी सिद्ध संशय में पड़े रहते हैं तथा सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते।

(३२) सारग्राही को अंग

खीर[१] रूप हरि[२] नाँव है, नीर आन[३] ब्यौहार।
हंस रूप कोइ साधु है, तत का जाननहार[४] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—खीर=क्षीर, दूध। आन=अन्य। तत=तत्त्व, सार।

व्याख्या—यह संसार दूध के समान है। दूध में लगभग अस्सी प्रतिशत नैसर्गिक रूप से जल रहता है, शेष दूध का सार रहता है। इसी प्रकार इस संसार में केवल प्रभु का नाम वास्तविक दुग्ध तत्त्व है, अन्य प्रकार के व्यवहार जल के समान हैं। हस में यह विशेषता होती है कि वह अपने चंचु से तात्त्विक दूध या दूध के सार को ग्रहण कर लेता है और शेष जल के अंश को छोड़ देता है। इसी प्रकार सन्त इस संसार में प्रभु-नाम रूपी सारतत्त्व को ग्रहण कर लेते हैं तथा अन्य सांसारिक व्यवहार का परित्याग कर देते हैं।

अलंकार—परम्परित रूपक।

कबीर साकत[५] कोइ नहीं, सबै बैस्नौं[६] जाँनि।
जा[७] मुखि राँम न ऊचरै[८], ताही तन की हाँनि[९] ॥ २ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि वस्तुतः स्वभाव से कोई शाक्त नहीं है, सभी के भीतर प्रभु विद्यमान हैं। इसलिए सभी को वैष्णव अर्थात् विष्णु का भक्त समझो। जिसके मुख से राम का नाम नहीं निकलता, यह समझ लो कि उसका मानव-तन व्यर्थ हो गया, क्योंकि मानव-शरीर से ही भक्ति हो सकती है।

टिप्पणी—कबीर के समय 'शाक्त' बहुत बदनाम हो चुके थे और प्रायः लोग 'शाक्त' को नास्तिक समझने लगे थे।

कबीर[१०] औगुन[११] नाँ गहै, गुन[१२] ही कौं ले बीनि।
घट-घट महु[१३] के मधुप ज्यौं[१४], परमातम[१५] ले चीन्हि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—महुँ=मधु, शहद। मधुप=मधुमक्षिका, मधु को पीनेवाली।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि लोगों के अवगुण मत ग्रहण करो। उनमें विद्यमान गुणों को चुनकर ले लो। जिस प्रकार मधुमक्षिका पुष्प के अन्य उपादानों को छोड़कर

---

१. ना० प्र०—षीर, यु०, वि०—क्षीर। २. वि०—सतनाम है, यु०—हरि नाम है। ३. यु०, त्रि०—रूप। ४. ति०, यु०, वि०—छाँननहार, ना० प्र०—जाँनणहार। ५. ना० प्र०—साषत को। ६. ना० प्र०—बैशनौं जाँणि। ७. ति०—जिहि। ८. ना० प्र०—उचरै। ९. ना० प्र०—हाँणि। १०. यु०—औगुन को तो ना गहै। ११. ना० प्र०—औगुणँ। १२. ना० प्र०—गुण। १३. यु०, वि०—म ़कै। १४. ना० प्र०—ज्यु। १५. ना० प्र०—पर आत्म।

केवल सार रूप मधु को ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार तुम भी जीवों में विद्यमान सार रूप प्रत्यगात्मा (जो परमात्मा का अंश है) को ग्रहण करो और अवशिष्ट को छोड़ दो।

अलंकार—उपमा।

बसुधा बन बहु भाँति है, फूलै[1] फलै अगाध।
मिष्ट सुवास कबीर[2] गहि, विषम गहै[3] नहिं साध।। ४।।
—५४०।।

शब्दार्थ—विषम = दूषित।

व्याख्या—इस संसार में विविध प्रकार के वन हैं जो अत्यधिक फल-फूलों से लदे हुए हैं। कबीर कहते हैं कि उनमें से मीठे फलों और सुगन्धित पुष्पों को ग्रहण करो। विवेकशील लोग दूषित वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते।

अलंकार—अन्योक्ति।

१. ना० प्र०—फूल्यौं फल्यौं, यु०, वि०—फूल फूल। २. यु०, वि०—कबिरा गहै। ३. ना० प्र०—कहै किहि, यु०, वि०—गहै कोइ।

(३३) विचार को अंग

राम[1] राम सब कोइ कहै, कहिबे[2] बहुत विचार ।
सोई राँम सती[3] कहै, सोई कौतिकहार[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—विचार = भेद । सती = सत्यनिष्ठ । कौतिकहार = दिखावा करनेवाला, पाखंडी ।

व्याख्या—राम का नाम सभी लेते हैं, किन्तु उसके उच्चारण में बहुत भेद रहता है । वही रामनाम सत्यनिष्ठ संत कहता है और उसी का उच्चारण पाखंडी पुरुष भी करता है । संत पूर्ण मनोयोग के साथ उसका स्मरण करता है और ढोंगी केवल दिखावे के लिए, दूसरों पर प्रभाव जमाने के लिए 'राम' का नाम लेता है ।

आगि कहै[5] दाझै नहीं, जे[6] नहिं[7] चंपै पाँइ ।
जब लगि भेद न जाँनिए,[8] राम कहा[9] तौ काँइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—दाझै=दग्ध होना । चंपै = चाँपना, दबाकर रखना ।

व्याख्या—आग का नाम लेने मात्र से कोई जलता नहीं, जब तक कि वह उस पर अपना पैर दबाकर न रखे । इसी प्रकार जब तक कोई रामनाम के रहस्य को नहीं जानता, उसके मर्म में अपने को डुबो नहीं देता, तब तक केवल नाम लेने से क्या लाभ ?

अलंकार—निदर्शना ।

कबीर सोचि विचारिया, दूजा कोई नाँहि ।
आपा पर जब चीन्हिया, (तब) उलटि समाना माँहि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—आपा = आत्मतत्त्व । पर = दूसरा जड़तत्त्व । माँहि = में, भीतर ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने भलीभाँति विचार कर लिया है कि इस संसार में प्रभु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । उसी प्रभु का अंश प्रत्यगात्मा अर्थात् अपने भीतर विद्यमान आत्मा है । जब मैंने इस आत्मतत्त्व को जड़तत्त्व से भिन्न समझ लिया, तब पराङ्मुखी भाव से उलटकर प्रत्यङ्मुखी भाव में समा गया अर्थात् उस प्रत्यगात्मा से युक्त हो गया ।

---

१. ना० प्र०—राँम नाँम सब को कहै । २. यु०, वि०—कहने माँहि । ३. यु०, वि०—जो सति (सती) । ४. ना० प्र०—कौतिगहार । ५. ना० प्र०—कह्याँ । ६. यु०, वि०—पाँव न दीजै माँहि । ७. ना० प्र०—नहीं । ८. ति०, यु०, वि०—जो पै भेद न जांनिए (जानहीं) । ९. ना० प्र०—कह्या ।

पानी[1] केरा पूतरा, राखा[2] पवन संचारि।
नाना बांनी[3] बोलिया, जोति धरी करतारि ॥ ४ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मानव का यह शरीर जलबुद्बुद्वत् क्षणभंगुर है। वह केवल प्राण के संचार से गतिमान है और नाना प्रकार की वाणी बोलता है। उसमें सारतत्त्व केवल कर्त्ता की ज्योति है।

नौ मन[4] सूत अलूझिया[5], कबीर[6] घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुरे[7], (जिनि) जानी[8] भगति मुरारि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अलूझिया=उलझा हुआ। बारि = द्वार पर। बापुरे=बेचारे।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रत्येक घर के द्वार पर नौ मन सूत उलझा पड़ा है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार के कर्म-जाल में फँसा हुआ है। वही विनत व्यक्ति जो प्रभु की भक्ति का रहस्य समझ सके हैं, इस कर्म-जाल को सुलझाने में समर्थ हो सके हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

आधी साखी[9] सिरि कटै[10], जौ रे[11] बिचारी जाइ।
मन[12] परतीति न ऊपजै, (तौ) राति दिवस मिलि गाइ[13] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—सिरि कटै=आपा का विनाश, अहं की समाप्ति। बिचारी=विचारपूर्वक।

व्याख्या—यदि चिन्तन-मननपूर्वक साखी को समझा जाय तो आधी साखी ही आपा का विनाश करने के लिए पर्याप्त है। परन्तु चाहिए—श्रद्धा। यदि मन में श्रद्धा-विश्वास नहीं है तो दिन-रात सारी साखियों को मिलकर गाने से भी कोई लाभ नहीं।

सोई[14] आखर सोइ बैन, जन[15] जू जू बाचवंत।
कोई[16] एक मेलै लवनि[17], अमीं रसाइंन[18] हंत ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—जू जू = भिन्न-भिन्न। बाचवंत = बाँचते हैं, बोलते हैं। लवनि = लावण्य। हंत = होता है।

व्याख्या—संतों की वाणियों के अक्षर और वचन तो वही रहते हैं, परन्तु पाठक अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उनको पृथक्-पृथक् रूप में ग्रहण करते हैं। कोई ऐसा

---

१. ना० प्र०—कबीर पाँणी केरा पूतला। २. ना० प्र०–राख्या पवन सँचारि। ३. ना० प्र०—बाँणी, यु०, वि०–वानी वोलता। ४. ना० प्र०—मण। ५. यु०, वि०–अरूझिया। ६. यु०–कबिरा। ७. ना० प्र०–वापुड़े। ८. ना० प्र०—जाणीं। ९. ना० प्र०—सापो। १०. ति०–खंडै। ११. ना० प्र०—जोर, यु०, वि०—जोरे। १२. यु०, वि०—मनहिं प्रतीत। १३. यु०, वि०–भरि गाय। १४. ना० प्र०—सोई अषिर सोई वैयन, यु०, वि०–सोइ अक्षर सोई भनै। १५. यु०, वि०—सोई जन जीवंत, गुप्त—जन जुजुवाचंवत। १६. यु०, वि०—अकिलमंद कोइक मिलै, अमि महारसीहं पिवंत। १७. गुप्त–कै लवणि, ना० प्र०—लवणि। १८. ना० प्र०—रसाँइण तुत।

विरला ही होता है जो मन के सच्चे भाव को उनमें मिला सकता हो जिससे कि उन वाणियों का भाव अमृत-रसायन रूप हो जाता है।

यदि 'लवनि' का अर्थ 'नमक' लिया जाय तो उसका अर्थ होगा---यद्यपि वह रसायन अमृत है तथापि कुछ लोग अपने अज्ञान और दम्भवश उसमें लवण मिला देते हैं अर्थात् उसके रस को भंग कर देते हैं।

हरि मोतिन[1] की माल है, पोई काचै तागि।
जतन[2] करौ झटका घनां, टूटैगी कहुँ लागि ॥८॥

शब्दार्थ—पोई=पिरोई।

व्याख्या—हरि-भक्ति कच्चे धागे में पिरोई गई मोती की माला के समान है। यदि इस भक्तिरूपी माला के साथ तर्क-वितर्क, संशय-विवाद का जोर लगाओगे तो गहरे झटके लग जाने से यह माला टूट जाएगी।

भक्ति, श्रद्धा और प्रेम से होती है। तर्क-वितर्क का कोई अन्त नहीं। इसी प्रकार संशय का भी कोई अन्त नहीं। इनके द्वारा भक्ति-मार्ग में विघ्न ही उपस्थित होता है।

तुलसीदास ने भी कहा है—

जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ ॥
—मानस

अलंकार—रूपक।

मन नहिं[3] छाड़ै बिषै, बिषै न छाड़ै मन कौं।
इनको इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौं ॥
खंडित मूल विनास,कहौ किम बिगतह[4] कीजै।
ज्यों[5] जल मैं प्रतिबिम्ब[6], त्यों सकल रामहि[7] जानीजै[8] ॥
सो मन सो तन सो बिषै, सो त्रिभुवनपति कहूँ कस।
कहै कबीर वंदहु[9] नरा, ज्यूँ जल पूरा सकल रस[10] ॥ ९ ॥
—५४९

शब्दार्थ—जुग = दोनों।

व्याख्या—मन विषयों में आसक्त रहता है और विषय मन को आकृष्ट करते रहते हैं। इन दोनों का यही स्वभाव है कि दोनों पूरी तरह से मनुष्य के पीछे लगे या चिपके हुए हैं। अतः प्रभु-भक्ति के अतिरिक्त संसार से निष्कृति का अन्य उपाय नहीं है।

---

१. ना० प्र०—मोत्यौं। २. ना० प्र०—जतन करी झंटा घणों। ३. ना० प्र०—नहीं। ४. गुप्त—विग्रह। ५. ना० प्र०—ज्यूँ। ६. ना० प्र०—प्रतिब्यंब। ७. गुप्त—राम। ८. ना० प्र०—जीणीजै। ९. ना० प्र०—ब्यंदहु। १०. गुप्त—सर।

प्रभु का प्रत्याख्यान किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। वह प्रभु जो मन, इन्द्रिय, वचन से विगत अर्थात् परे हैं, उसका खण्डन कर, कोई मूल से विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि जिस प्रकार जल की प्रत्येक राशि में सूर्य का प्रतिबिम्ब विद्यमान है उसी प्रकार संसार की प्रत्येक सत्ता में राम विद्यमान हैं।

अंतिम वाणी में कबीर अवतार-पूजा का निषेध करते हुए कहते हैं कि जैसे जल प्रत्येक रस में व्याप्त है, उसी प्रकार जो राम सर्वत्र व्याप्त हैं, उनकी वंदना करो। जो मानव-शरीर धारण किये हुए हैं, उनमें वैसा ही मन है, वैसा ही शरीर है, उन्हें भी विषय उसी प्रकार आकृष्ट करते हैं जैसे अन्य जन को। फिर हम उन्हें त्रिभुवनपति अर्थात् ईश्वर कैसे कहें ?

अलंकार—उपमा।

(३४) उपदेश को अंग

हरि[1] जी यहै बिचारिया, साखीं[2] कहौ कबीर।
भौसागर मैं जीव हैं, सुनिकै[3] लागै तीर॥ १॥

शब्दार्थ—बिचारिया = निश्चय किया। तीर = किनारे।

व्याख्या—प्रभु ने यह निश्चय कर प्रेरणा दी कि हे कबीर! तुमने जो प्रत्यक्ष अनुभव किया है, उसे साखी द्वारा व्यक्त करो। जीव भव-सागर में पड़ा हुआ है। वह तुम्हारी वाणी सुनकर भव-सागर के किनारे लग जाएँगे अर्थात् पार कर जाएँगे।

यदि 'जे कोइ पकड़ै तीर' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—संभव है उसके द्वारा कोई भव-सागर के किनारे लग जाय।

कली[4]काल ततकाल है, बुरा करौ[5] जिनि कोइ।
अनबोवै[6] लुनता नहीं, बोवै लुनता होइ॥ २॥

शब्दार्थ—कलीकाल = कलियुग। लुनता = काटना।

व्याख्या—कलिकाल सद्यःफलदायक है। इसमें अच्छे-बुरे कर्मों का फल तत्काल मिलता है। इसलिए किसी को बुरा कर्म नहीं करना चाहिए। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। कर्म करना बोने के समान है। फल मिलना काटने के समान है। बिना बोये हुए कोई काट नहीं सकता। जो जैसा बोता है, वैसा ही काटता है। (As you sow, so do you reap.)

यदि 'अंन बावै लोहा दाहिणैं' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा, दाहिने हाथ में लोहा अर्थात् हल और बायें हाथ में अन्न लेकर जो जैसा बोता है, वैसा ही काटता है।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

कबीर संसा जीव मैं, कोइ[7] न कहै समझाइ।
बिधि-बिधि बाँणी बोलता, सो कत गया बिलाइ॥ ३॥

शब्दार्थ— संसा=संशय। कत = कहाँ। बिधि-बिधि = विविध।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीव में एक बड़ा भारी संशय है कि मरने के बाद क्या गति होती है? इसको कोई समझाकर नहीं बतला पाता। जब तक शरीर में प्राण

---

१. ग्रु०, वि०—अंतर याहि, हनु०—हरि जिव यही विचारिये। २. ना० प्र०—साषी। ३. ना० प्र०—जे कोइ पकड़ै तीर। ४. हनु०, वि०, ग्रु०—काल काल। ५. ग्रु०, वि०—ना करिए, हनु०—न कहिए। ६. ना० प्र०— अंनबावै लोहा दाहिणैं, बोवै सुलुणतौं होइ, हनु०—अनबोये सो दाहिनो, केय सूल तन होय। ७. ना० प्र०—कोई।

है, तब तक वह नाना प्रकार की वाणी बोलता है। निधन होने पर वह बोलनेवाला कहाँ विलीन हो गया ? इसे कोई नहीं बता पाता।

कबीर संसा दूरि करि, जाँमण मरण भरंम।
पंचतत्त तत्तहि मिले, सुरति समाना मंन ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—जामंण = जन्म लेना। पंचतत्त = पंचभूत (पृथ्वी, जल, पावक, गगन, समीर), सुरति = प्रत्यगात्मा का प्रतीक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जन्म-मरण के विषय में अपने भ्रम को दूर करो। आत्मा का न जन्म होता है, न मरण। जन्म-मरण शरीर का धर्म है। जिन पाँच तत्त्वों से यह शरीर बना है, वे तत्त्व अपने मूल पंच-महाभूतों में मिल जाते हैं और मन प्रत्यगात्मा में समा जाता है।

टिप्पणी—मृत्यु के समय शरीर के पाँच तत्त्व पंचमहाभूतों में समा जाते हैं। परन्तु जीव के मन और बुद्धि आत्मा के साथ शरीर छोड़ते हैं।

मानस में बालि की मृत्यु पर उसकी पत्नी तारा को समझाते हुए इसी प्रकार राम ने कहा था—

छिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित अति अधम सरीरा।
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा, जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
—किष्किन्धा०-११-४।५

गिरही[1] तौ चिंता घनी, बैरागी तौ भीख[2]।
दुहु[3] कात्याँ बिचि जीव है, द्वौ[4] हनै संतौ सीख[5] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कात्याँ=काती, कर्तरी, कैंची। द्वौ = दोनों। हनै = नष्ट कर देती है।

व्याख्या—गृहस्थ हो या वैरागी, चिंता से कोई मुक्त नहीं है। गृहस्थ नाना प्रकार की घोर चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है और वैरागी को भिक्षा की चिंता बनी रहती है। बेचारे जीव की स्थिति इन दोनों के बीच वैसी ही है, जैसी कैंची के दो फलकों के बीच वस्त्र की होती है। संतों की शिक्षा इन दोनों चिंताओं को नष्ट कर देती है।

बैरागी बिरकत[6] भला, गिरही चित्त उदार।
दुहुँ[7] चूका रीता पड़ै, ताकौं[8] वार न पार ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बिरकत=विरक्त। रीता= रिक्त।

---

१. ना० प्र०—ग्रिही कै च्यंता घणीं। २. ना० प्र०—भीष। ३. यु०, वि०—दोनों के बिच जीव है; देहु न संतो सीख। ४. गुप्त—द्यौह नै। ५. ना० प्र०—सीष। ६. यु०—तो विरक्त। ७. तिवारी, हनु०, यु०—दोऊ चूकि खाली पड़ै। ८. ना० प्र०—ताकूँ।

व्याख्या—वैरागी यदि वास्तव में विरक्त है तो वह श्रेष्ठ है और गृहस्थ यदि उदार चित्त का है तो श्रेष्ठ है। यदि ये दोनों इन गुणों से च्युत हो गये तो अपने वैशिष्ट्य से रिक्त हो गये अर्थात् वैरागी न सच्चा वैरागी रहा और न गृहस्थ, सच्चा गृहस्थ। ऐसे च्युत जनों का कोई ठौर-ठिकाना नहीं।

जैसी उपजै पेड़ सूँ, तैसी निबहै ओरि।
पैका-पैका जोड़ता, जुड़िसी लाख[1] करोरि॥ ७॥

शब्दार्थ—ओरि = अन्त। निबहै = निर्वाह, संरक्षण। पैका-पैका = थोड़ी-थोड़ी रकम, पैसा-पैसा।

व्याख्या—पेड़ में जैसा फल लगता है, यदि तदनुरूप अन्त तक उसका संरक्षण हो तो वह सार्थक हो जाता है, ऐसे ही गुरु से जो उपदेश मिला है उसका अन्त तक निर्वाह हो जाय तो जीवन सार्थक और फलदायक हो जाता है। जैसे पैसा-पैसा जोड़ने से लाख-करोड़ एकत्र हो जाता है, वैसे ही उपदेश के अनुसार निरन्तर साधना से अन्त में संसिद्धि (पूर्णता) प्राप्त हो जाती है।

अलंकार—दृष्टान्त।

कबीर हरि के नाव सौं[2], प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख तैं मोती झरैं[3], हीरा[4] अनंत अपार॥ ८॥

शब्दार्थ—इकतार = एकरस। मोती=(प्र० अ०) ज्ञानयुक्त वचन। हीरा=(प्र० अ०) आत्म-ज्योति, आत्म-दर्शन।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यदि प्रभु के नाम के प्रति हृदय में अनवरत प्रेम बना रहे तो साधक एक ऐसी स्थिति को पहुँच जाएगा, जहाँ उसके मुख से ज्ञान के मोती झरने लगेंगे और उसे उस आत्मज्योति का दर्शन होगा जो अनन्त और अपार है।

यदि 'हीरे अन्त न पार' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—जिनका अन्त और पार न हो।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऐसी बानी[5] बोलिए, मन का आपा खोइ।
अपना[6] तन सीतल करै, औरन[7] कौं सुख होइ॥ ९॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अपने मन का अपनत्व और अहंकार छोड़कर ऐसी मधुर वाणी बोलना चाहिए जिससे स्वयं को शीतलता प्राप्त हो और दूसरों को भी सुख मिले।

---

१. ना० प्र०—लाप करोड़ि। २. ना० प्र०—सूँ। ३. ना० प्र०—झड़ै। ४. ना० प्र०—हीरे अंत न पार। ५. ना० प्र०—बाँणी। ६. हनु०, यु०, वि०—औरन। ७. हनु०, वि०, यु०—आपुहि।

सो०—कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरैं जागि।
बस्त[1] न बासन सूँ खिसै, चोर न सकई लागि ॥ १० ॥
—५५९

शब्दार्थ—राखै = रक्षा करे। चेतनि = सचेत होकर। बासन = थैली। खिसै = खिसकना, गिरना।

व्याख्या—यदि कोई सावधान रहकर सचेत रहते हुए पहरे में जागता हुआ अपने सामान की रखवाली करता है तो उसकी वस्तु न तो थैली से खिसक सकती है और न चोर उसकी चोरी कर सकते हैं। इसी प्रकार जो आत्मारूपी धन की रक्षा में सावधान रहता हुआ, माया-निद्रा में न फँसकर जाग्रत रहता है, उसका आत्मारूपी परमधान सुरक्षित रहता है और काम-क्रोधादि चोर उसके पीछे नहीं लग सकते।

अलंकार—अन्योक्ति।

१. ना० प्र०—वस्तन।

(३५) बेसास को अंग

जिनि नर[१] हरि जठराहँ, उदिक थैं पिडं[२] प्रकट कीयौ।
सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ॥
उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रखियौ[३]।
अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तैं अनल न चखियौ[४]॥
इहि भाँति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रतिपाल न क्यौं करै॥ १॥

शब्दार्थ—वेसासु=विश्वास। जठराहँ=पेट में। उदिक थैं=रज-वीर्य के द्वारा। पिंड=शरीर। पषां=पक्ष, १५ दिन। रखियौ = रक्षा किया। अनल=जठराग्नि। उद्र = उदर, पेट। छंछरै = छूँछा, खाली। प्रतिपाल = रक्षा।

व्याख्या—जिस प्रभु ने गर्भ में रज और वीर्य से मनुष्य के शरीर का निर्माण किया, जिसने उसको कान, हाथ, पैर, जिह्वा, मुख आदिं दिया, जिस प्रभु ने गर्भ में ऊपर पैर और नीचे सिर की दशा में दस मास तक सुरक्षित रखा। जिस जठराग्नि में भुक्त अन्न, जल आदि जीर्ण हो जाते हैं, वहाँ भी तू उस जठराग्नि से बचा रहा। इस प्रकार माँ के भयानक पेट में भी तेरा उदर कभी खाली नहीं रहा, तेरा पोषण मिलता रहा। जब उदर में इस दशा में उदार प्रभु तेरा पोषण करता रहा, कबीर कहते हैं तो वह कृपालु प्रभु अब तेरा प्रतिपालन क्यों न करेगा? अर्थात् हे मनुष्य! तू प्रभु की उदारता पर विश्वास रख। वह तेरी रक्षा करेगा।

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाँड़ा गढ़ि[५] जिन मुख दिया, सोई पुरवन[६] जोग॥ २॥

शब्दार्थ—भाँड़ा = बरतन (ला० अ०) शरीर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू 'भूखा-भूखा' की रट क्यों लगाये हुए है? लोगों को अपनी भूख की कहानी क्यों सुनाता है? जिस दयालु प्रभु ने तेरे शरीर रूपी घड़े को गढ़कर मुख दिया है, वही उदर-पूर्ति भी करेगा।

रचनहार कौं[७] चीन्हि लै, खाबे[८] कौं क्या रोइ।
दिल मन्दिर मैं पैसि[९] करि, तांनि[१०] पछेवरा सोइ॥ ३॥

---

१. गुप्त—नरहरि। २. गुप्त—प्यंड, ना० प्र०—पंड। ३. ना० प्र०—रपियो। ४. ना० प्र०—चषियौ। ५ ना० प्र०—घड़ि जिनि, यु०—गढ़िया। ६. ना० प्र०—पूरण, यु०, वि०—पूरन। ७. ना० प्र०—कूँ यु०, वि०—को। ८. ना० प्र०—खैवे कूँ कहा रोइ, यु०—खावे को क्या, वि०—खाने को क्या! ९. तिवारी, यु०, वि०—पैठि कै। १०. ना० प्र०—ताँणि पछेवड़ा, यु० —तानि पछौरा, वि०—तान पिछोरी।

शब्दार्थ—पछेवरा = चादर।

व्याख्या—हे जीव ! तू अपने स्रष्टा को पहचान। खाने के लिए क्यों रोता है ? अपने हृदय रूपी मन्दिर में प्रविष्ट होकर अर्थात् अन्तर्मुखी होकर तू प्रत्यगात्मा को पहचान और विश्वास रूपी चादर ओढ़कर सुख की नींद सो अर्थात् निश्चिन्त हो जा।

राँम नाँम करि बोंहड़ा[1], बोहौ[2] बीज अघाइ।
खंड[3] ब्रह्माण्ड सूखा परै, तऊ न निष्फल जाइ॥ ४॥

शब्दार्थ—बोंहड़ा = बीज। बोहौ=बोओ। अघाइ=जी-भरकर।

व्याख्या—रामनाम का बीज लो और उस बीज को जी-भरकर अपने जीवन-क्षेत्र में बोओ। चाहे चारों ओर सूखा पड़ जाय, कहीं भी वर्षा न हो अर्थात् चाहे जैसी विषम परिस्थिति क्यों न हो, यह बीज उगेगा ही। वह कभी निष्फल नहीं जा सकता। रामनाम से संसिद्धि अवश्य प्राप्त होगी।

अलंकार—विशेषोक्ति, रूपक।

चिंतामनि[4] चित मैं बसै, सोई चित मैं आंनि[5]।
बिन[6] चिंता चिंता करै, इहै[7] प्रभु की बांनि[8]॥ ५॥

शब्दार्थ—चिन्तामनि = वह मणि जो चिंतन करते ही वाञ्छित फल प्रदान करती है। चिंता = (१) ध्यान, (२) ख्याल।

व्याख्या—तेरे भीतर सभी वाञ्छित पदार्थों को देनेवाला समर्थ ईश्वररूपी चिंतामणि विद्यमान है। तू उसी में चित्त को लगा। प्रभु का यही स्वभाव है कि वह सब का ख्याल रखते हैं, कोई उनका चिंतन करे या न करे।

अलंकार—विभावना, यमक।

कबीर[9] का तूँ चिंतवै, का[10] तेरे[11] चिंते होइ।
अनचिन्ता[12] हरि जी करै, जो[13] तोहि चिंति[14] न होइ॥ ६॥

शब्दार्थ—चितवै=चिंता करता है। अनचिन्ता = जो नहीं सोचा गया है। जो तोहि = जिससे तुझे।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू क्या चिंता करता है। तेरे चिंता करने

---

१. गुप्त–बोहना, यु०—बहु डरो। २. ना० प्र०—बोंही। ३. ना० प्र०–अंति कालि सुका पड़ै, तौ निरफल कदे न जाइ। ४. ना० प्र०–च्यंतामणि मन। ५. ना० प्र०—आँणि। ६. ना० प्र०—बिन च्यंता च्यंता करै, यु०–विना प्रेम चिंता करे, वि०—विना प्रभू चिंता करै। ७. यु०, वि०—यह मूरख की बानि। ८. ना० प्र०—बाँणि ; ९. यु०–कबिरा क्या मैं चिंतहूँ, वि०–कबीर चिंता क्या करूँ। १०. यु०, मम चिंता क्या होइ, वि०–चिंता सो क्या होइ। ११. ना० प्र०—तेरा च्यन्त्या। १२. ना० प्र०–अणच्यन्त्या, तिवारी, वि०–आपन चिंता हरि करै, वि०–मेरी चिंता। १३. यु०, वि०–चिंता मोहि न कोय। १४. ना० प्र०—च्यंत।

से होता भी क्या है ? तेरे लिए जो आवश्यक है प्रभु उसे तेरे लिए बिना तेरे सोचे पूर्ण कर देता है, जिससे तुझे चिंता न करनी पड़े। इसलिए प्रभु में पूर्ण विश्वास कर।

करम करीमाँ लिखि रहा[1], अब कुछ[2] लिखा न जाइ।
मासा घटै न तिल बढ़ै[3], जौ[4] कोटिक करै उपाइ॥ ७॥

शब्दार्थ - करीमाँ=(अ० करीम) कृपालु, ईश्वर। मासा=किञ्चित् (१२ माशे का एक तोला होता है)।

व्याख्या—कृपालु प्रभु ने तेरे कर्मों के अनुसार फल का लेखा तैयार कर रखा है। अब उसके आगे कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। इसमें किञ्चित् भी घट-बढ़ नहीं हो सकती, व्यक्ति चाहे जितना प्रयत्न क्यों न करे।

भाव यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों के अनुसार फल भोगना पड़ता है। ईश्वर के न्याय पर विश्वास रखना चाहिए। इस विधान से जीव का उत्थान और भावी विकास होता है।

अलंकार—विशेषोक्ति।

जाकौ जेता निरमया[5], ताकौं तेता होइ।
रत्ती[6] घटै न तिल बढ़ै[7], जौ सिर कूटै कोई॥ ८॥

शब्दार्थ—निरमया=निर्मित किया, रचा।

व्याख्या—जिसके लिए प्रभु ने जितना भोग रचा है उसको उतना ही मिलता है। उसमें तृण मात्र भी अन्तर नहीं आ सकता, चाहे कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करें।

अलंकार—विशेषोक्ति।

चिंता[8] छांड़ि अचिंत रहु, साँई है समरत्थ[9]।
पसु पंखेरू जंतु[10] जिव, तिनकी[11] गाँठी किसा गरत्थ॥ ९॥

शब्दार्थ—समरत्थ=समर्थ। किसा=किसने। गरत्थ=ग्रथित किया है।

व्याख्या—हे जीव ! तू चिंता छोड़कर निश्चिंत रह। प्रभु सर्वशक्तिमान है। पशु, पक्षी और अन्य जीव-जन्तुओं को भी उनकी आवश्यकता के अनुसार प्रभु ने सब कुछ दे रखा है। तू समझता है कि अपने प्रयत्न से बहुत कुछ कर लेगा। किन्तु यह संभव नहीं है। अन्य जीवों को देख। उनके लिए किसने सम्पदा एकत्र कर रखी है। जिसने उनके लिए सभी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की है, वही तेरे लिए करेगा।

---

१. ना० प्र०–रह्या। २. ना० प्र०–कछु लिख्या, वि०–लिखा न होयँ, यु०–किया न होय। ३. ना० प्र०–बधै। ४. यु०, वि०—जौ सिर पटकै कोय। ५. गुप्त—निम्रया। ६. तिवारी—राई। ७. ना० प्र०—बधै। ८. ना० प्र०–च्यंता न करि अच्यंत रहु, यु०–चिंता न करन अचिंत रहु। ९ ना० प्र०–संम्रथ। १०. ना० प्र०–जीव जंत। ११. ना० प्र०—तिनको गाँड़ि किसा ग्रन्थ, यु० – तिनकी गाँठि न गरत्थ।

संत[१] न बाँधै गाठरी[२], पेट[३] समाता होइ।
आगैं[४] पाछैं हरि खड़ा, जो[५] माँगै सो देइ॥ १०॥

शब्दार्थ—पेट समाता = पेट में जितना समा सकता है, आवश्यकतानुसार।

व्याख्या—संत में संचय की प्रवृत्ति नहीं होती। वह केवल आवश्यकता-भर पदार्थों को ग्रहण करता है अर्थात् उसमें अपरिग्रह की वृत्ति होती है। प्रभु चारों ओर विद्यमान है, सर्वव्यापी है। भक्त को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है वह उसकी पूर्ति कर देता है।

टिप्पणी—'जो माँगै सो देइ' के स्थान पर कहीं 'जब माँगै तब देइ' अथवा 'जहाँ माँगै तहाँ देइँ' पाठ है। 'जब' में समय का और 'जहाँ' में स्थान का भाव है। किन्तु मुख्य अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

राँम नाँम सौं[६] दिल मिला[७], जम[८] सौं परा[९] दुराइ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरक[१०] न जाइ॥ ११॥

शब्दार्थ—दुराइ = अलग, दूर। बंदा (फा०) सेवक, दास।

व्याख्या—मेरा हृदय रामनाम से युक्त हो गया है। अब यमराज मेरा कुछ नहीं कर सकता। उसके अधिकार से मैं पृथक् हो गया हूँ। मुझे अपने इष्टदेव का पूरा भरोसा है। उनका भक्त कभी नरक में नहीं जा सकता।

कबीर[११] तूँ काहै डरै, सिर[१२] परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहि[१३] डोलिए, कूकुर भुसैं जु[१४] लाख॥ १२॥

शब्दार्थ—डोलिए=विचलित होना, हिलना-डोलना। भुसैं = भौंकें।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! प्रभु का संरक्षक हाथ तेरे ऊपर है, फिर तू क्यों भयभीत होता है? जब तू हाथी पर सवार हो गया, तब क्यों विचलित होता है? तब तो तू सुरक्षित है। तेरे पीछे चाहे लाख कुत्ते भूँकें, तुझे उनका भय नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि प्रभु के आश्रय से भक्त ऐसी सुरक्षित स्थिति में रहता है कि उसे संसार में कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. यु, वि०—हरिजन गाँठि न बाँधही। २. ना० प्र०—गाँठड़ी। ३. यु०, वि०—उदर समाना। ४. ना० प्र०—साँई सूँ सनमुख रहै, जहाँ माँगै तहाँ देइँ। ५. यु०, तिवारी—जब माँगै तब देइ। ६. ना० प्र०—सूँ, यु०—सों। ७. ना० प्र०—मिलों। ८. ना० प्र०—जब हम पड़ी बिराइ। ९. तिवारी—परी। १०. ना० प्र०—नरकि। ११. वि०—अब तू काहे को डरे। १२. हनु०—सिर पर सिरजनहार। १३. हनु०—दुरिए नहीं, वि०—चढ़कर डोलिए। १४. हनु०—हजार, ना० प्र०—जु लाप।

१६

मीठा[1] खाँड़ मधूकरी, भाँति भाँति कौ[2] नाज।
दावा किसही[3] का नहीं, बिना[4] बिलायत राज॥ १३॥

शब्दार्थ—मधूकरी=भिक्षान्न। राज=राजा। बिलायत (अ०) देश, राज्य।

व्याख्या—भिक्षा से प्राप्त भोजन में भाँति-भाँति का अन्न रहता है। वह खाँड़ के समान मीठा होता है। उसमें किसी एक व्यक्ति का दावा नहीं रहता। मधूकरी से सन्तुष्ट ऐसा साधु बिना राज्य के ही राजा है।

अलंकार—विभावना।

माँनि महातम प्रेम रस, गरवातन[5] गुण नेह।
ए सबही अहला[6] गया, जबहि[7] कहा कछु देह॥ १४॥

शब्दार्थ—माँनि = सम्मान। महातम = माहात्म्य। गरवातन = गुरुत्व, गौरव। अहला=अहरा, जलते हुए कंडों की आग। अहला गया (मुहा०) = भाड़ में गया, भस्म हो गया।

व्याख्या—किसी व्यक्ति से किसी वस्तु की याचना करते ही सम्मान, माहात्म्य, प्रेम-भाव, गौरव, गुण और स्नेह आदि सभी नष्ट हो जाते हैं।

माँगन[8] मरन समान है, बिरला बंचै कोइ।
कहै[9] कबीरा रांम सौं, मति रे[10] मँगावै मोहि॥ १५॥

शब्दार्थ—बंचै = बचना।

व्याख्या—यद्यपि माँगने से कोई बच नहीं पाता, प्रत्येक को कुछ-न-कुछ आवश्यकता पड़ती रहती है और उसे माँगना पड़ता है तथापि माँगना मृत्यु के समान दुःखदायी है। कबीर राम से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मैं ऐसी स्थिति में कभी न आऊँ कि मुझे कभी किसी से कुछ माँगना पड़े।

अलंकार—उपमा।

पांडर[11] पिंजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास।
रांम[12] नांम सींचा[13] अँमी, फल लागा बिस्वास[14]॥ १६॥

शब्दार्थ—पांडर = कुंद का पुष्प। पिंजर = शरीर। अरथ = मनोरथ। अँमी = अमृत।

---

१. तिवारी–कबीर भली, गु०, वि०—सब ते भली। २. गु०, वि०, गुप्त—का। ३. गु०–किसहू, वि०–किसी का। ४. ना० प्र०–बिन बिलाइति वड़ राज। ५. ना० प्र०—गरवा तण। ६. ना० प्र०–अहला गया। ७. ना० प्र०—जबही कह्या। ८. ना० प्र०–माँगण मरण। ९. ना० प्र०–कहै कबीर रघुनाथ सूँ। १०. ना० प्र०–मतिर। ११. ना० प्र०—पांडल पंजर, गु०–पंडल पिंजर। १२. गु०, वि०–एक नाम सींचा। १३. ना० प्र०– सींच्या। १४. ना० प्र०—बेसास।

व्याख्या—भक्ति में विश्वास ही फलदायक होता है। भक्ति की साधना के लिए शरीर, मन, मनोरथ, रामनाम का जप और विश्वास—ये आवश्यक अंग हैं। इस तथ्य को कबीर ने सांगरूपक के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

शरीर कुंद की झाड़ है, उसके पुष्प में मनोरथ की अनुपम सुगंध है। उस पर मनरूपी भ्रमर मँडराता रहता है। उस झाड़ को साधक रामनाम जपरूपी अमर प्राणदायियी शक्ति से सींचता रहता है। तब उसमें विश्वास के फल लगते हैं। यही भक्ति की सार्थकता है।

अलंकार—सांगरूपक।

मेरि[1] मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म[2] बिसास।
अब मेरे दूजा कोइ[3] नहीं, एक तुम्हारी आस ॥ १७ ॥

व्याख्या—मैं और मेरापन का भाव समाप्त हो गया। अब मैं इस सीमा से मुक्त हो गया और मेरी ब्रह्म में पूर्ण निष्ठा हो गयी। हे प्रभु! अब मेरे लिए कोई दूसरा नहीं है, केवल तुम्हारा भरोसा है।

जाके[4] हिरदै हरि बसै, सो नर[5] कलपै काँइ[6]।
एकै[7] लहरि समुंद की, दुख दालिद[8] सब जाइ ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—काँइ=क्यों। कलपै=कलपना, तड़पना, बिलखना।

व्याख्या—जिसके हृदय में प्रभु का वास है, वह और किसके लिए कलपता है? भगवान के अनुग्रहरूपी समुद्र की एक लहर मात्र से उसके सभी दुःख और दारिद्र्य समाप्त हो जाते हैं।

पद गावै[9] लौंलीन ह्वै, कटी[10] न संसै पास।
सबै पछोड़े[11] थोथरे, एक दिना विस्वास[12] ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—लौंलीन=ज्योति में लीन होकर, प्रभु में लीन होकर। पास=पाश, बंधन। पछोड़े=पछोरना, सूप में रखकर फटककर साफ करना। थोथरे=थोथा, निस्सार।

व्याख्या—यदि संशय का बंधन नहीं कटा तो सर्वथा तल्लीन होकर पद गाने से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। विश्वास के विना सारी साधना वैसे ही निस्सार है जैसे बिना अन्नकण के थोथे तुष को पछोरना।

अलंकार—उपमा, विनोक्ति।

---

१. ना० प्र०—मेर। २. तिवारी-अणम निवास। ३. ना० प्र०—को। ४. ना० प्र०—जाकी दिल में। ५. तिवारी, गु०—जन। ६. गु०—काहि। ७. ना० प्र०—एक। ८. ना० प्र०—दलिद्र, गु०—दरिद्र वहि जाहि। ९. ना० प्र०—गाएँ लंलीन। १०. गु०—कटै। ११. ना० प्र०—पिछोड़े, गु०—पिछोरैं थोथरा। १२. ना० प्र०—बेसास।

गावन[1] ही मैं रोवना[2], रोवन[3] ही मैं राग।
इक[4] बैरागी ग्रिह करै[5], एक[6] ग्रिही बैराग ॥ २० ॥

व्याख्या—एक दिखावे में गाता है, किन्तु भीतर से रोता है अर्थात् दुःखी है। दूसरा ऊपर से तो रोता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु भीतर से गाता है अर्थात् सुखी है। ठीक इसी प्रकार एक ऊपर से तो वैरागी है, किन्तु भीतर से आसक्त रहने के कारण गृहस्थी से बँधा हैं और दूसरा ऊपर से घर-गृहस्थी तो बनाये हुए हैं, किन्तु भीतर से वह अनासक्त है। उसमें विषयों के प्रति वास्तविक वैराग्य है। अतः वह प्रसन्नचित्त है।

कबीर के कहने का भाव यह है कि वैराग्य का सम्बन्ध हृदय से है, घर-गार्हस्थ्य से नहीं।

अलंकार—विभावना, निदर्शना।

गाया तिन[7] पाया नहीं, अनगायाँ[8] तै दूरि।
जिनि गाया विस्वास सौं[9], तिन[10] राम रहा[11] भरपूरि ॥ २१ ॥
—५८०

व्याख्या—जिन्होंने विना विश्वास के भगवान का गुणगान किया, भक्ति का ढिंढोरा पीटा, उन्होंने भगवान को कभी नहीं प्राप्त किया और जो किसी प्रकार भी भगवान का नाम लेते ही नहीं, उनसे तो वह दूर ही हैं। जो विश्वासपूर्वक राम-नाम का गान करते हैं, उनके रोम-रोम में प्रभु व्याप्त रहते हैं।

१. ना० प्र०—गावण। २. ना० प्र०—रोज है। ३. ना० प्र०—रोवण। ४. यु०, वि०—इक वन ही में घर करै। ५. ना० प्र०—मैं। ६. ना० प्र०—इक गृही में बैराग, यु०, वि०—इक घर ही बैराग। ७. ना० प्र०—तिनि, यु०, वि०—जिन। ८. ना० प्र०—अणगाँयाँ थैं, यु०, वि०—अनगाए ते। ९. अन्य—गहि। १०. त्रिपारी, यु०—तिनसों राम हजूरि, वि०—ताके सदा हजूर। ११. ना० प्र०—रह्या।

(३६) पीव पिछाँणन को अंग

संपुट[१] माँहि समाइया, सो साहिब नहिं[२] होइ।
सकल माँड मैं रमि रहा[३], साहिब[४] कहिए सोइ॥ १॥

शब्दार्थ—पीव=प्रिय, प्रभु। पिछाँणन=पहचान। संपुट=ढक्कनदार डिबिया, पिटारी। माँड=ब्रह्माण्ड।

व्याख्या—जिस शालिग्राम को लोग डिबिया में बन्द रखते हैं और उनका पूजन करते हैं, वह प्रभु नहीं है। वह संकुचित सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता। जो सकल ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है, वही प्रभु का वास्तविक स्वरूप है।

रहै निराला माँड तैं[५], सकल माँड तिहि[६] माँहि।
कबीर[७] सेवै तास कौं[८], दूजा कोई[९] नाँहि॥ २॥

व्याख्या—प्रभु ब्रह्माण्ड से परे भी है और सकल ब्रह्माण्ड उसी में है। वह विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वव्यापी भी है। कबीर उसी प्रभु की भक्ति करते हैं, क्योंकि उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

टिप्पणी—विश्व और ईश्वर के सम्बन्ध में तीन दृष्टियाँ हैं—

(१) ईश्वर विश्व से बिलकुल अलग है। उसने विश्व की सृष्टि कर दी है, किन्तु वह उसमें व्याप्त नहीं है। सृष्टि के उपरान्त वह संसार से कोई प्रयोजन नहीं रखता। इसे केवलीश्वरवाद (Deism) कहते हैं।

(२) विश्व की सृष्टि करके ईश्वर उसी में समा गया है। जो विश्व है, वह ईश्वर है; जो ईश्वर है, वह विश्व है। इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं है। इसे विश्वेश्वरैक्यवाद (Pantheism–All is God) कहते हैं।

(३) ईश्वर विश्वमय (Immanent) भी है और विश्वोत्तीर्ण (Transcendent) भी है। विश्वमय के दो भाव हैं—(क) विश्व में 'वह' व्याप्त है, (ख) विश्व 'उसके' भीतर है अर्थात् वह अन्तर्वर्ती भी है और अतिवर्ती भी है।

विश्वेश्वरैक्यवाद (Pantheism) में एक दोष है। उससे यह ध्वनित होता है कि ईश्वर का विश्व में निःशेषीकरण हो गया है। वह विश्व से परे कुछ भी नहीं है। वह विश्व बनाकर उसी में समाविष्ट हो गया। कबीर इस दोष से मुक्त थे। उनका

---

१. ना० प्र०—संपटि। २. ना० प्र०—नहीं। ३. ना० प्र०–रह्या। ४. यु०–मेरा साहब सोय। ५. ना० प्र०—थैं। ६. ना० प्र०—ता। ७. यु०—सेव कबीरा तासु कूँ। ८. ना० प्र०—कूँ। ९. तिवारी, यु०—सेवै।

कहना है कि सारा विश्व प्रभु में है—'सकल माँड तिहि माँहि'। इसे दर्शनशास्त्र में ईश्वरस्थ-विश्ववाद (Panen-theism–All is in God) कहते हैं। कबीर यह भी मानते हैं कि उसका विश्व में निःशेषीकरण नहीं हो गया है। वह इसके अतिरिक्त भी है—'रहै निराला माँड तैं।' ठीक यही मन्तव्य उपनिषदों का भी है—

'पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि।'

(छान्दो० ३।१२।३६)

अर्थात् यह सारा विश्व उसका चौथाई भाग है। उसका तीन चौथाई अमर भाग दिव्यलोक में है अर्थात् विश्व उसका अल्पांश है, बहुलांश उससे परे है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है कि वह (ईश्वर) विश्व को चारों ओर से आवृत करके, इसके अतिरिक्त भी दस अंगुल विद्यमान है अर्थात् वह विश्व से परे भी है :—

स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।

(श्वेता० ३।१४)

भोलै[1] भूली खसम कै, बहुत किया बिभिचार।
सतगुर गुर[2] बतलाइया, पूरबला[3] भरतार॥ ३॥

शब्दार्थ—भोलै = भोलेपन में, अज्ञान में। खसम (फा०) = पति। गुर=भेद, युक्ति। पूरबला = पूर्व का, अनादि, नित्य।

व्याख्या—अविद्या के कारण अपने अज्ञान में मैं अपने वास्तविक पति को भूल गया था। इसलिए अन्य देवताओं की उपासना करता रहा। अपने पति (प्रभु) से व्यवहार छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना व्यभिचार ही है। सद्गुरु ने युक्ति बतला दी। इस प्रकार मुझे अनादि, नित्य, पूर्व पति प्राप्त हो गए।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जाकै मुँह माथा नहीं, नाहीं[4] रूप कुरूप।
पुहुप बास तैं[5] पातरा, ऐसा तत्त[6] अनूप॥ ४॥

—५८४

व्याख्या—इस साखी में कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया है। जिसके न मुख है, न सिर, जो न रूपवान है न कुरूप, जो पुष्पवास से भी अधिक सूक्ष्म हैं, मेरा प्रभु ऐसा ही अनुपम तत्त्व है।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. तिवारी-भोरैं। २. तिवारी—आंनि। ३. ना० प्र०–पूरिबला। ४. ना० प्र०—नहीं रूपक रूप। ५. ना० प्र०—कैं पहतला। ६. युग–तत्व।

(३७) बिर्कताई कौ अंग

मेरे मन मैं परि[1] गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटिक[2] पषांन ज्यौं, मिला[3] न दूजी बार ॥ १ ॥

शब्दार्थ—बिर्कताई=विरक्ति। फटिक=स्फटिक, बिल्लौर। पषांन=पाषाण, पत्थर। दरार = रन्ध्र।

व्याख्या—जैसे फटे हुए बिल्लौर पत्थर में दरार पड़ जाने से वह पुनः नहीं जुड़ सकता, उसी प्रकार मेरे मन में संसार से ऐसी विरक्ति पैदा हो गई कि अब उसके प्रति अनुराग नहीं जग सकता।

टिप्पणी—आध्यात्मिक जागर्ति में इष्ट का बदलना प्रथम अवस्था है। इस साखी में इष्ट (Value) परिवर्तन का सुन्दर वर्णन है।

अलंकार—उपमा।

मन फाटा[4] बाइक बुरै, मिटी[5] सगाई साक।
जैसे[6] दूध तिवास का, उलटि[7] हुआ जो आक ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बाइक = (१) एक बार, (२) वाक्य, वचन। सगाई = सम्बन्ध, प्रेम। साक=साख, विश्वास। तिवास=तीन दिन का बासी। आक = मदार।

व्याख्या—(१) इस साखी में 'बाइक' शब्द सबसे टेढ़ा है। यदि 'बाइक'>वारिक= एक बार के अर्थ में लिया जाय, तो साखी का भाव इस प्रकार होगा—

जैसे तीन दिन का बासी दूध फटकर मदार के दूध की तरह विषैला हो जाता है, वैसे ही मेरा मन एक बार ही एकदम संसार से बुरी तरह से फट गया और उसके प्रति अनुराग और विश्वास जाता रहा।

(२) यदि 'बाइक' वाक्य का तद्भव (वर्ण-विपर्यय) माना जाय तो अर्थ इस प्रकार होगा—

कहा जाता है कि कबीर के दो विवाह हुए थे। उनकी पहली पत्नी कुरूपा और मूर्खा थी। वह कबीर की भक्ति-भावना का सदैव विरोध करती रहती थी (दे० संत कबीर, पद संख्या ६)। उसी पत्नी की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं कि जैसे तीन दिन का बासी दूध फटकर मदार के दूध की तरह विषैला हो जाता है, वैसे ही पत्नी के कटु वाक्य से मेरा मन संसार से विरक्त हो गया और उसके प्रति अनुराग और विश्वास जाता रहा।

---

१. ना० प्र०—पड़ि। २. ना० प्र०—घटक पषाँण ज्यूँ। ३. ना० प्र०—मिल्या, यु०—मिलै। ४. यु०—फाटै। ५. यु०—मिटै। ६. ना० प्र०—जौ परि। ७. ना० प्र०ऊ—कटि हूआक।

कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

कबीर त्यागा ग्यान करि, कनक कामिनी दोइ।

—३७।४

अलंकार—उपमा।

चंदन भागां गुन[1] करै, जैसे चोली पंन[2]।
दोइ जो[3] भागा[4] ना मिलै, मुकताहल[5] अरु मंन ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—भागां = टूटने पर, अलग होने पर। चोली=पान की डिबिया। पंन = पान। मुकताहल = मोती, मुक्ताफल। मंन=मन।

व्याख्या—संसार में कुछ ऐसे पदार्थ हैं जो अलग होने पर गुणकारी होते हैं, जैसे चंदन का टुकड़ा सुगंधि देता है तथा जैसे डिबिया का पान फेरने से सड़ता नहीं अर्थात् गुणकारी रहता है। किन्तु कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो भग्न होने पर, फिर कभी नहीं मिलते। वे गुणकारी नहीं रहते, जैसे मोती और मन।

पासि बिनंठा कापड़ा[6], कदे सुरंग[7] न होइ।
कबीर त्यागा[8] ग्यान करि, कनक कामिनी[9] दोइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पासि = (सं० पांशु) धूल-मिट्टी। बिनंठा = विनष्ट हुआ। कदे=कभी।

व्याख्या—धूल से विनष्ट हुए अर्थात् मैले कपड़े में कभी अच्छा रंग नहीं चढ़ सकता। कबीर कहते हैं कि ऐसे ही जब मन मैला हो जाता है, तब उसमें ईश्वर के प्रति अनुराग नहीं हो सकता। दो ऐसे विषय हैं—कनक और कामिनी, धन की तृष्णा और स्त्री की कामना जिनसे मन मलिन होता है। अतः कबीर ने ज्ञानपूर्वक उनके दोषों को समझ कर दोनों का परित्याग कर दिया।

चित चेतनि मैं गरक ह्वै[10], चेति[11] न देखै मंत।
कत[12] कत की सल[13] पाड़िए, गलबल सहर अनंत[14] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—चेतनि = चैतन्य। गरक ह्वै = डूबकर, लीन होकर। चेति = सावधान होकर। मंत=मंत्र, परामर्श, उपदेश। कतकत = किस-किसका। सल = सिकुड़न। पाड़िए=फेंकना। गलबल = गड़बड़। सहर = नगर।

व्याख्या—चित्त को चैतन्य में लीन कर अर्थात् आत्मलीन होकर गुरु के उपदेश को विचार कर क्यों नहीं देखता? सारे नगर में गड़बड़ी है अर्थात् चारों ओर दोषपूर्ण वातावरण है। तुम किस-किसका दोष दूर करते फिरोगे? एक गुरु का उपदेश ग्रहण करके चित्त को प्रभु में लीन करो।

---

१. ना० प्र०—गुण। २. गु०—पान। ३ ना० प्र०—जन। ४. गुप्त—भागे। ५. गु०—इक मोती इक मान, गुप्त—मोताहल। ६. ना० प्र०—कपड़ा। ७. ना० प्र०—सुराग। ८. ना० प्र०—त्याग्या। ९. ना० प्र०—कामनी। १०. गु०—रहूयो। ११. गु०—जागि न देख्यो मित्त। १२. गु०—कहाँ-कहाँ सल परिहो। १३. ना० प्र०—सालि। १४. गु०—अनित्त।

जाता है सो जान[1] दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यों[2], घनें[3] मिलैंगे आइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—खेवटिया = मल्लाह, नाविक।

व्याख्या—तू अपनी हानि की चिन्ता न कर। जो जाता है उसे जाने दे। इससे तेरी दशा जानेवाली नहीं है अर्थात् तेरा कुछ बिगड़नेवाला नहीं है। जैसे केवट की नाव पर लोग चढ़ते-उतरते रहते हैं, वैसे ही तेरे जीवन में वस्तुओं का आना-जाना लगा ही रहेगा। तू सांसारिक हानि की चिन्ता न कर। यदि हानि होगी तो लाभ भी होगा। जैसे केवट की नौका से यदि कुछ लोग उतरते हैं तो घने अर्थात् बहुत से लोग चढ़ते भी हैं। अतएव हानि-लाभ की चिंता किये बिना तू साधना में चित्त को लगा।

अलंकार—उपमा।

नीर पियावत[4] क्या फिरै, घर[5] घर सायर बारि।
त्रिखावंत[6] जो होइगा, (सो) पीवेगा झख[7] मारि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सायर = सागर। त्रिखावंत = प्यासा।

व्याख्या—इस साखी में कबीर तथाकथित व्यवसायी गुरुवा लोगों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम ज्ञानामृत का जल सबको पिलाने की व्यर्थ चेष्टा क्यों करते हो? प्रत्येक घट में उस ज्ञानामृत-सागर का जल विद्यमान है, जिसे प्यास होगी वह स्वयं विवश होकर उसे पी लेगा।

यहाँ 'घर' शरीर का, 'सायर बारि' हृदय में विद्यमान आत्मस्वरूप का, 'भिखावंत' उस व्यक्ति का प्रतीक है जिसमें प्रभु-मिलन की आकांक्षा जागृत हो गयी है। इस साखी में यह संकेत किया गया है कि आध्यात्मिक तत्त्व सभी के भीतर विद्यमान है, किन्तु उसके भीतर साधारण जन की प्रवृत्ति नहीं होती।

अलंकार—अन्योक्ति।

सतगंठी[8] कोपीन है[9], साधु न मानै संक।
राँम अमलि माता रहै, गिनै[10] इन्द्र कौ रंक ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सतगंठी=(१) सात गाँठवाली, जीर्ण-शीर्ण। (२) सत्य की गाँठ लगी हुई। कोपीन=लँगोटी। अमलि = नशे में। माता=मस्त, उन्मत्त। रंक=दरिद्र।

व्याख्या—संत सात गाँठोंवाली अर्थात् फटी लँगोटी बाँधे हुए भी किसी बात की चिंता नहीं करता। वह अपनी निर्धनता में ही सन्तुष्ट रहता है। 'सतगंठी' में 'सत्य की

---

१. ना० प्र०—जौण। २. ना० प्र०—ज्यूँ। ३. ना० प्र०—घणें। ४. ना० प्र०—पिलावत। ५. ना० प्र०—सायर घर-घर वारि। ६. ना० प्र०—जो त्रिपावंत ७. ना० प्र०—झषमारि। ८. गुप्त—कबीर गाँठी कोपीन है। ९. ना० प्र०—है। १०. ना० प्र०—गिणै।

गाँठ' की भी व्यञ्जना है। जिसने सत्य को अपना लिया है, उसे किस बात की चिन्ता ? वह राम-भक्ति के नशे में चूर रहता है और इन्द्र को भी अपने आगे दरिद्र गिनता है !

अलंकार—व्यतिरेक ।

दावै दाझन[1] होतु है, निरदावै निहसंक[2] ।
जे नर[3] निरदावै रहैं, ते गिनैं[4] इन्द्र कौ रंक ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—दावै=अधिकार, स्वत्व, कामना । निरदावै=निष्काम ।

व्याख्या—लाभ की आकांक्षा अर्थात् कामना से ताप ही होता है । निष्काम व्यक्ति निश्चिंत रहता है । ऐसे निष्काम व्यक्ति इन्द्र को भी दरिद्र समझते हैं ।

अलंकार—व्यतिरेक ।

कबीर[5] सब जग हेरिया[6], मंदल[7] कंधि चढ़ाइ ।
हरि बिन अपना[8] कोइ नहीं, देखे[9] ठोकि बजाइ ॥ १० ॥
—५९४

शब्दार्थ—हेरिया=खोजा । मंदल=मर्दल, मृदंग-जाति का एक वाद्य ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने कन्धे पर मर्दल लादकर अर्थात् चारों ओर ढोल पीटकर सारे संसार में खोजा, परन्तु हरि के सिवाय ऐसा कोई न मिला जिसे वास्तव में अपना कहा जा सके । इस तथ्य को मैंने भली-भाँति ठोंक-बजाकर अर्थात् परीक्षण करके देख लिया है ।

ना० प्र० की प्रति में 'हेरिया' के स्थान पर 'हंढिया' पाठ है, जिसका अर्थ है—छानबीन करना ।

---

१. ना० प्र०—दाझण होत । २. तिवारी—रहै निसंक । ३. तिवारी—जन । ४. ना० प्र०—गणैं । ५. यु०—कबिरा । ६. ना० प्र०—हंढिया । ७. ना० प्र०—मंदिल, यु०—मेलेउ कंध । ८. ना० प्र०—अपनाँ को । ९. यु०—सब देखा ।

(३८) सम्रथाई कौ अंग

नाँ कछु किया न करि[1] सका, नाँ करने[2] जोग सरीर।
जो[3]कछु किया सो[4]हरि किया, (ताथैं) भया कबीरकबीर[5] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सम्रथाई = सामर्थ्य । कबीर (फा०) श्रेष्ठ ।

व्याख्या—मैंने अपने से कुछ नहीं किया । मेरे में कुछ कर सकने की सामर्थ्य भी नहीं है । यह पार्थिव शरीर किसी कार्य के योग्य नहीं है । मेरे जीवन में जो कुछ बन पड़ा है, वह सब प्रभु ने किया है । उन्हीं के अनुग्रह से कबीर (साधारण व्यक्ति) कबीर (श्रेष्ठ) हो गया ।

अलंकार—यमक ।

कबीर किया[6] कछु होत नँहि, अनकीया सब[7] होइ ।
जौ[8] कीएं ही होत है, तौ करता औरै कोइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अनकीया=बिना किये हुए ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर के अनुग्रह के बिना, केवल अपनी साधना से कुछ नहीं प्राप्त कर सकता । यदि भगवदनुग्रह प्राप्त हो जाता है तो बिना साधना किये ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है । यदि साधना, तपस्या आदि से कुछ होता भी है तो उसका वास्तविक कर्त्ता कोई और ही अर्थात् प्रभु है ।

इस साखी में इस बात का संकेत है कि जीव केवल अपनी साधना से पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता । जब अन्तरात्मा यह जान लेता है कि जीव में संस्कारों द्वारा यह योग्यता आ गई है कि वह अब पूर्णता को प्राप्त कर सकता है, तब वह उस जीव में पर्याप्त उत्कण्ठा, गुरु की प्राप्ति आदि साधन जुटा देता है । इससे साधक प्रगति करने लगता है । यही ईश्वर का अनुग्रह है ।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति, विरोधाभास ।

जिसहि[9] न कोइ तिसहि तूँ, जिस तूँ तिस सब कोइ[10] ।
दरगह[11] तेरी साँइयाँ, नाँमहरूँम[12] न होइ ॥ ३ ॥

---

१. ना० प्र०—करि सक्या, गुप्त—करहिंगे । २. ना० प्र०—करणें । ३. ना० प्र०—जे । ४. ना० प्र०—सु, वि०—साहिब । ५. यु०, वि०—दूसरा कबीर नहीं है । ६. ना० प्र०—किया । ७. यु०, वि०—ही । ८. ना० प्र०—जे किया कुछ होत है, यु०, वि०—कीया जो कछु होय तो । ९. यु०, वि०—जिस नहिं । १० यु०, वि०—होय । ११. ना० प्र०—दरिगह । १२. ना० प्र०—नाँम हरू मन, तिवारी—मेटि न सक्कै कोय, यु०—मेटि सकै नहिं कोइ ।

शब्दार्थ—दरगह=दरबार में। नाँमहरूँम=महरूम=वञ्चित, 'ना' का निरर्थक प्रयोग हुआ है, जैसे 'बेफजूल' में 'बे' का।

व्याख्या—जिसका कोई भी आश्रय नहीं है, उसका भी आश्रय तू ही है। जिसे तेरा आश्रय प्राप्त है, उसको सभी के आश्रय स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। हे प्रभु ! तेरे दरबार में कोई वञ्चित नहीं रहता अर्थात् तेरी कृपा सब को प्राप्त होती है।

एक[1] खड़े ही ना लहैं, और[2] खड़े[3] बिललाइ।
साँई[4] मेरा सुलषनां, सूतां देइ जगाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बिललाइ=बिलखना। सुलषनां=सुलक्षण, चतुर, भला।

व्याख्या—कुछ दरबार ऐसे होते हैं जहाँ कुछ लोग खड़े रहते हुए भी कुछ नहीं पाते, उल्टे वे खड़े-खड़े बिलखते रहते हैं। परन्तु मेरा प्रभु ऐसा भला है कि वह सोये हुए को भी जगाकर देता है।

तिवारी की प्रति में 'साईं मेरा सुलषनां' के स्थान पर 'समरथ मेरा साँइयाँ' पाठ है। इसका अर्थ होगा—मेरा प्रभु सर्वशक्तिमान है।

अलंकार—व्यतिरेक।

सात समुंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, (तऊ) हरि गुन[5] लिखा न जाइ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मसि = स्याही।

व्याख्या—यदि मैं सातों समुद्रों की स्याही बना डालूँ, समस्त बनराजि की लेखनी बनाऊँ और सारी पृथ्वी को कागज के रूप में ग्रहण करूँ तो भी प्रभु के गुणों का वर्णन सम्भव नहीं।

अलंकार—अतिशयोक्ति, विशेषोक्ति।

अबरन कौं[6] क्या बरनिये, मोपै बरनि[7] न जाइ।
अबरन[8] बरने बाहिरा, करि करि थका उपाइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अबरन=(१) अवर्णनीय। (२) अवर्ण, जिसका कोई रंग-रूप नहीं है। बरने=वर्णन के। बाहिरा=बाहर, परे।

व्याख्या—जो अवर्णनीय है या अरूप है, उसका वर्णन कैसे हो सकता है? मेरे लिए उसका वर्णन असम्भव है। वह वर्णन से परे है। लोग अनेक उपाय करके थक गए किन्तु उसका वर्णन नहीं कर सके।

---

१. ना० प्र०–एक खड़े ही लहैं। २. तिवारी–एक। ३. ना० प्र०–खड़ा। ४ तिवारी, गु०, वि०–समरथ मेरा साँइयाँ। ५. ना० प्र०–गुणँ लिख्या। ६. ना० प्र०–कौं का, गु०–का क्या। ७. ना० प्र०–लिख्या, गुप्त—लख्या। ८. ना० प्र०–अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ।

यदि ना० प्र० का पाठ 'अपना बाना बाहिया कहि कहि थाके माइ' लिया जाय तो अर्थ इस प्रकार होगा—

लोग अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उस पर अपने भावों को आरोपित करते रहते हैं और उसके विषय में कह-कहकर थक जाते हैं, किन्तु उसका वर्णन नहीं कर पाते हैं।

अलंकार—'अवरन' शब्द में श्लेष, विशेषोक्ति।

> झल बाँवै झल दाँहिनैं[1], झलहि[2] माँहि व्यौंहार।
> आगैं पीछैं झलमई[3], राखै सिरजनहार॥ ७॥

शब्दार्थ—झल=ज्वाला। बाँवै = बाँए। झलमई = अग्निमय।

व्याख्या—संसार में जीव के दाहिने-बाएँ, आगे-पीछे चारों ओर ज्वाला ही ज्वाला है और उसका सारा व्यवहार अर्थात् उसके सारे कार्य इसी ज्वाला के भीतर ही होते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान ही उसकी रक्षा कर सकते हैं। उसमें स्वयं बचने की सामर्थ्य नहीं है।

यहाँ ज्वाला का तात्पर्य है—त्रिताप। ताप तीन होते हैं। आधिभौतिक-आध्यात्मिक और आधिदैविक। मनुष्य इसी त्रिताप से घिरा हुआ है।

> साँई मेरा बानियाँ[4], सहजि[5] करै व्यौपार।
> बिन डाँड़ी बिन पालरै[6], तौलै सब संसार॥ ८॥

व्याख्या—मेरा प्रभु अद्भुत व्यापारी है। वह सहज रूप में व्यापार करता है। वह बिना डंडी और पालड़े के सारे संसार को तराजू पर तौल लेता है।

भाव यह है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार वह फल देता है। उसके न्याय का तराजू ऐसा है जिसमें डाँड़ी और पलड़े की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का भाग उसके कर्म के अनुसार प्राप्त हो जाता है।

तुलनीय—लाल जी साहब मेरा वानिया, सहज किया बोहार।
बिन डंडी बिन पालड़ै, तोले इह संसार॥
—लालदास।

अलंकार—विभावना।

> कबीर[7] वार्‌या नाँव पर, कीया राई लौंन[8]।
> जिसहि[9] चलावै पंथ तूँ, तिसहि[10] भुलावै कौंन[11]॥ ९॥

शब्दार्थ—नाँव = नाम। कीया राई लौंन (मु०) = न्यौछावर किया। भुलावै=भ्रमित करना।

---

१. यु०—दाहने। २. यु०—झल ही में व्यवहार। ३ यु०—झल जलै। ४. ना० प्र०—बाँणियाँ। ५ यु०—सहज करै व्यवहार। ६. ना० प्र०—पालड़ै। ७. यु०, वि०—वारी हारं के नाम पर। ८. ना० प्र०—लूँण। ९. यु०—जिसे। १०. यु०, वि०—तिसे। ११. ना० प्र०—कौंण।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु के नाम पर अपने को सर्वरूपेण समर्पित कर दिया है। जिसे भगवान सन्मार्ग पर लगा देते हैं, उसे पथभ्रष्ट कौन कर सकता है ?

कबीर करनी[1] क्या करै, जे[2] राँम न करै सहाइ।
जिहि जिहि डाली पग धरै[3], सोई नइ[4] नइ जाइ ॥ १० ॥

शब्दार्थ—जे=यदि। नइ-नइ = झुक जाना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य को भगवान की सहायता न मिले तो वह अपने उपाय से क्या कर सकता है ? कोई भी साधना प्रभु अनुग्रह के बिना सफल नहीं हो सकती। प्रभु की सहायता के बिना साधक जिस डाल का आश्रय लेकर ऊपर चढ़ना चाहता है अर्थात् साधना में जिस मार्ग का अवलम्ब लेकर आगे बढ़ना चाहता है, वही डाल नीचे झुक जाती है और साधक के नीचे गिर जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है अर्थात् वह मार्ग उसकी साधना में सहायक नहीं होता।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जदि का माइ जनमियाँ, काहू न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौं[5], पातौं पातौं दुःख ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—जदि का=जब से। माइ = माता।

व्याख्या—मुझे जब से माता ने जन्म दिया, मैंने कहीं सुख नहीं पाया। वस्तुतः परिवर्तनशील संसार में शास्वत सुख असम्भव है। यदि मैं डाल-डाल पर रहता हूँ तो दुःख आगे पात-पात पर रहता है अर्थात् मैं जितना ही दुःख से बचने का उपाय करता हूँ, उतना ही दुःख प्रत्यक्ष दिखायी देता है। केवल प्रभु की शरण में ही सुख है।

अलंकर—लोकोक्ति।

साँई[6] सौं[7] सब होत है, बंदे तै[8] कछु नाँहि।
राइँ तै[9] परबत करै, परबत राई माँहि ॥ १२ ॥
—६०६

शब्दार्थ—वंदे = सेवक। राई = एक प्रकार की बहुत छोटी सरसों।

व्याख्या—जीवन में जो कुछ भी साध्य है, वह प्रभु की कृपा से ही होता है। इस सेवक के प्रयत्न से नहीं हो सकता। उसमें ऐसी शक्ति है कि वह राई को पर्वत में परिवर्तित कर सकता है अर्थात् क्षुद्र को महान् बना सकता है और पर्वत को राई में बदल सकता है अर्थात् महान् को क्षुद्र बना सकता है।

अलंकार—लोकोक्ति।

१. ना० प्र०—करणीं। २. तिवारी—जौ। ३. तिवारी—धरौं। ४. ना० प्र०—नवि नवि। ५. गुप्त—फिर्‌या। ६. यु०, वि०—साहिब सों। ७. ना० प्र०-सूँ। ८. ना० प्र०—थैं कुछ। ९. ना० प्र०—थैं, तिवारी—तैं, वि०—से।

(३९) कुसबद कौ अंग

अनी[1] सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास॥ १॥

शब्दार्थ—कुसबद=दुर्वचन। अनी = नोंक। सुहेली=सहज। सेल = भाला। पड़तां= लगने पर। सहारै=सहन कर ले।

व्याख्या—भाले की नोंक की चोट सह्य हो सकती है। भाला लगने पर मनुष्य एक बार व्यथा को श्वास तो निकाल भी सकता है, किन्तु दुर्वचन की चोट असह्य होती है। उसे सहन करने की जिसमें क्षमता हो, कबीर उसे अपना गुरु मानने को तैयार हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कटु वचन सहनेवाले व्यक्ति संसार में विरले ही होते हैं।

अलंकार—व्यतिरेक।

खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराइ।
कुटिल बचन साधू सहै, दूजै सहा न जाइ॥ २॥

व्याख्या—सहन की क्षमता केवल महान् लोगों में होती है। विशाल धरती में ही यह क्षमता होती है कि वह खोदाई के कष्ट को झेले, सुविस्तृत वनराजि में ही यह क्षमता है कि वह काट-कूट को सहन कर सके। इसी प्रकार विशाल हृदय भगवद्भक्त में ही यह क्षमता होती है कि वह लोगों के कुटिल वचन सहता है। अन्य लोगों में यह सहन-शक्ति नहीं होती।

ना० प्र० की प्रति में उपर्युक्त साखी का पाठ इस प्रकार है—

खूँदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ॥ २॥

शब्दार्थ—खूँदन=पैरों की रौंद।

व्याख्या—धरती में ही यह क्षमता है कि वह पैरों की रौंद को सहन कर सके और वनराजि में ही यह शक्ति है कि नदी की बाढ़ का सामना कर सके। इसी प्रकार प्रभु-भक्त में ही ऐसी क्षमता होती है कि वह दुर्वचन सहता है। अन्य लोग सहन नहीं कर सकते।

अलंकार—तुल्ययोगिता।

सीतलता तब जानिए[1], समता[2] रहै समाइ।
पख[3] छाड़ै निरपख रहै, सबद[4] न दूखा[5] जाइ॥ ३॥

---

१. ना० प्र०—अणीं। २. ना० प्र०—जाणियें। ३. ना० प्र०—समिता, तिवारी—जो समता। ४. ना० प्र०—पष छाड़ै निरपष रहै, गु०, वि०—विप छाड़ै निरविप रहै। ५. गु०, वि०—सब दिन दूखा जाइ। ६. ना० प्र०—दूख्या।

शब्दार्थ—समता=समत्व। पख=पक्ष। निरपख = निष्पक्ष। न दूखा जाय=दुःखित नहीं कर सकते।

व्याख्या—मानव में वास्तविक शीतलता का गुण तब समझना चाहिए, जब वह मानापमान की भावना से विवर्जित हो जाय, उसमें समत्व का भाव आ जाय और जब वह पक्ष छोड़कर सर्वथा निष्पक्ष हो जाय। तब दुर्वचन उसे दुःखित नहीं कर सकते। जैसे शीतल जल में आग के कण स्वतः बुझ जाते हैं, वैसे ही ऐसे साधु के शीतल स्वभाव में तापकारी कटुवचन के अग्निकण बुझ जाते हैं।

कबीर सीतलता भई, पाया[1] ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जलै[2], सो मेरे उदक[3] समान ॥ ४ ॥
—६१०

शब्दार्थ—बैसंदर = वैश्वानर, अग्नि। उदक = जल।

व्याख्या—जब मेरे भीतर ब्रह्म-ज्ञान जगा तो समत्वजनित शीतलता व्याप्त हो गयी। जिस दुर्वचनरूपी अग्नि से सारा संसार जल रहा है, वह मेरे लिए जल के समान शीतल है।

---

१. गु०, वि०—उपज्यो तब ब्रह्मज्ञान। २. ना० प्र०—जल्या। ३. ना० प्र०—उदिक।

(४०) सबद को अंग

कबीर सबद सरीर मैं, बिन गुन बाजै तांति[1]।
बाहर भीतर रमि रहा[2], तातैं छूटि भरांति[3] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सबद=शब्द, अनाहत नाद। गुन=डोरी। तांति=तन्त्री, एक प्रकार का वाद्य जिसमें तार लगे होते हैं, जैसे वीणा, सरोद, रबाब, सितार। भरांति=भ्रांति, भ्रम।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरे भीतर अनाहत नाद बिना तारों के तंत्री की ध्वनि के समान गूँज रहा है। वह भीतर-बाहर चारों ओर रम रहा है। परिणामस्वरूप मेरा चित्त शब्द-ब्रह्म में लीन हो गया है और इससे मेरी सारी भ्रान्तियाँ समाप्त हो गयी हैं।

टिप्पणी—अनाहत नाद सारे विश्व में व्याप्त है। जब साधना द्वारा सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी उद्‌बुद्ध होकर ऊपर की ओर उठती है, तब साधक इस अनाहत नाद को सुनने लगता है। उस समय योगी का चित्त नाद में रम जाता है। वह सर्वथा अन्तर्मुखी हो जाता है और जब कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में मिल जाती है, तब उसे प्रकाश का पूरा अनुभव हो जाता है।

अलंकार—विभावना।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुबिचार।
सतगुर के परसाद[4] तैं, सहज शील मत सार ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सती=सत्यनिष्ठ। सबद=सार शब्द, अनाहत नाद। परसाद = अनुग्रह, कृपा। सार = निचोड़। शील=प्रवृत्ति।

व्याख्या—जो साधक सत्यनिष्ठ है, संतोषी है और अवधानपूर्वक सभी ध्वनियों के रहस्य पर भली-भाँति विचार करता है, वह सत्‌गुरु के अनुग्रह से उस सहज अवस्था को प्राप्त करता है जो सब मतों का निचोड़ है।

सतगुर ऐसा चाहिए, जस[5] सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह दर्पन[6] करै सोइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सिकलीगर (फा०) सान धरनेवाला। मसकला (अ०) धातुओं को रगड़कर चमकानेवाला औजार।

व्याख्या—सत्‌गुरु को सिकलीगर के समान होना चाहिए, जो शब्द के मसकले द्वारा शिष्य को दर्पण के समान निर्मल कर देता है। भाव यह है कि गुरु ऐसा हो जो सुरति-

१. ना० प्र०--बिनि गुण बाजै तंति। २. ना० प्र०—बाहरि भीतरि भरि रह्या। ३. ना० प्र०—ताथैं छूटि भरंति। ४. ना० प्र०--प्रसाद थैं। ५. ना० प्र०--जैसा। ६. ना० प्र०--द्रपन।

शब्द-योग की साधना द्वारा शिष्य के सब दूषित संस्कारों को अपसारित कर उसका अन्तःकरण बिल्कुल निर्मल कर दे।

अलंकार—उपमागर्भित रूपक।

सतगुर साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाहा एक।
लागत ही भुइँ मिलि गया, परा कलेजे छेक॥ ४॥

यह साखी (१।७) पहले आ चुकी है।

हरि रस जे जन बेधिया, सर गुण सींगणि नाँहि[1]।
लागी चोट सरीर मैं, करक कलेजे माँहि॥ ५॥

शब्दार्थ—वेधिया=बिद्ध। सर=वाण। गुण=प्रत्यंचा। सींगणि=सींगयुक्त धनुष। करक=पीड़ा।

व्याख्या— सत्गुरु अपने शब्द को अद्भुत रूप से संचालित करता है। वह न तो शर (बाण) का प्रयोग करता है और न गुण (प्रत्यंचा) तथा सींगणि (धनुष) का। फिर भी उसके द्वारा प्रवाहित भक्ति-रस से जो लोग बिद्ध होते हैं, उन पर विचित्र प्रभाव पड़ता है। उस शब्द की चोट तो लगती है शरीर में, किन्तु वह कलेजे के भीतर टीस उत्पन्न करती है।

भाव यह है कि शब्द शरीर में कान तक ही पहुँचता है, किन्तु उसका प्रभाव आभ्यंतर होता है। वह हृदय को प्रभावित करता है।

अलंकार—असंगति, विभावना।

ज्यों ज्यों[2] हरि गुन साँभलूँ, त्यों त्यों[3] लागै तीर।
साँठी साँठी झड़ि पड़ी, भलका रहा[4] सरीर॥ ६॥

शब्दार्थ—साँभलूँ = स्मरण करता हूँ। तीर = बाण। साँठी = सरकंडे का भाग। भलका = वाण या भाले का फलक।

व्याख्या—मैं जितना ही प्रभु के गुण का स्मरण करता हूँ, उतना ही वियोग का वाण मेरे भीतर प्रविष्ट होता जाता है और वह बाण ऐसे भयंकर रूप में लगता है कि उसका सरकंडा तो टूटकर अलग हो जाता है, किन्तु उसका फलक भीतर बिंधा रह जाता है। इसलिए उसको निकालना असंभव हो जाता है।

भाव यह है कि वह हृदय के अन्तस्तम तल में बिंध जाता है और किसी प्रकार से भी अपसारित नहीं किया जा सकता।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. ना० प्र०—सतगुण सीं गणि नाँहि। २ ना० प्र०—ज्यूँ-ज्यूँ। ३. ना० प्र०—त्यूँ-त्यूँ। ४ ना० प्र०—रह्या।

ज्यौं ज्यौं[1] हरि गुण साँभलौं, त्यौं त्यौं[2] लागै तीर।
लागे ते भागै नहीं[3], साहनहार[4] कबीर ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—साहनहार=सहनेवाला। कबीर (अ०)=श्रेष्ठ।

व्याख्या—मैं ज्यों-ज्यों प्रभु के गुणों का स्मरण करता हूँ, त्यों-त्यों मिलन की उत्कण्ठा तीव्र होती जाती है और विरह की वेदना तीर के समान चोट करती है। किन्तु कबीर उस वेदना से भागनेवाला नहीं है। वह यह जानता है कि संयोग की प्राथमिक अवस्था वियोग की उत्कट वेदना ही है। इसलिए वह धैर्य से उसको सहन करता है। 'कबीर' शब्द में यह श्लेष भी है कि उसको सहन करनेवाला महान् है।

अलंकार—परिकर।

सारा बहुत पुकारिया, पीर[5] पुकारै और।
लागी चोट जु सबद की[6], रहा[7] कबीरा ठौर ॥ ८ ॥
—६१८ ॥

व्याख्या—प्राय: सारे लोग जोर-जोर से पुकारते हैं, किन्तु उनकी पुकार बनावटी होती है। वास्तविक वेदना की पुकार कुछ और ही होती है। गुरु के शब्द की चोट लगने पर कबीर जहाँ-का-तहाँ रह गया। उसमें पुकारने की भी शक्ति न रह गयी।

तुलनीय—'दर्द' अपने हाल से तुझें आगाह क्या करे।
जो साँस भी न ले सके, वह आह क्या करे ॥

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति।

---

१. ना० प्र०—ज्यूँ-ज्यूँ। २. ना० प्र०—त्यूँ-त्यूँ। ३. ना० प्र०—लागैं थैं भागा नहीं। ४. ना० प्र०—साहणहार। ५. ना० प्र०—पीड़। ६. ना० प्र०—सबद की। ७. ना० प्र०—रह्या।

(४१) जीवत मृतक को अंग

इस अंग में आपा और तृष्णा के विनाश को जीते-जी मृत बताया गया है।

जीवत मिरतक[१] ह्वै रहै, तजै जगत[२] की आस।
तब[३] हरि सेवा आपै[४] करै, मति दुख पावै दास ॥ १ ॥

शब्दार्थ—जीवत = जीते ही। मिरतक = मरा हुआ, मृतक। मति = ऐसा न हो कि।

व्याख्या—जो जीते ही मृत हो जाय अर्थात् आपा और तृष्णा त्याग दे और सांसारिक कामनाओं से परे हो जाय तो ऐसे साधक का ध्यान स्वयं प्रभु रखते हैं। उन्हें यह चिन्ता रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि उनका भक्त दुःख पावे।

अलंकार—विरोधाभास।

कबीर मन मिरतक[५] भया, दुरबल भया सरीर।
(तब) पाछै लागै[६] हरि फिरै, कहत[७] कबीर कबीर ॥ २ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब उनका मन सांसारिक वासनाओं को सर्वथा त्यागकर निश्चेष्ट मृतक-तुल्य हो गया और शरीर विरह-व्यथा से क्षीण हो गया, तब उन्हें प्रभु के पीछे लगने की आवश्यकता नहीं रह गयी, प्रत्युत स्वयं प्रभु ही 'कबीर-कबीर' पुकारते हुए उनके पीछे फिरने लगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि पहले भक्त प्रभु को खोजता है, किन्तु जब उसकी वासना नष्ट हो जाती है तब स्वयं प्रभु उसकी खोज में रहता है।

कबीर मरि मरहट गया[८], किनहूँ न बूझी सार[९]।
हरि आदर[१०] आगैं लिया, ज्यौं गऊ बच्छ[११] की लार ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—मरहट=मरघट, श्मशान। सार = सुधि, खबर। बच्छ=बछड़ा। लार = (राज०-लैर) पीछे, साथ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब मैं सांसारिक वासनाओं को त्यागकर, शून्य होकर मृतवत् एवं श्मशान में पहुँचा हुआ-सा हो गया, तब मेरी सुधि लेनेवाला कोई

---

१. ना० प्र०—जीवत मृतक। २. यु०, वि०—खलक। ३. वि०—रच्छक समरथ सतगुरु, यु०—आगे पीछे हरि फिरै। ४. ना० प्र०—आपण। ५. ना० प्र०—मृतक। ६. ना० प्र०—पैंड़े लागा, यु०—पैंडे लागै। ७. यु०, वि०—कहै। ८. ना० प्र०—मड़हट रह्या, यु०, वि०—मरघट गया। ९. ना० प्र०—तब कोई न बूझै सार। १०. यु० वि०—आगैं आदर। ११. ना० प्र०—ज्यौं गउ बछ, यु०—ज्यौं गऊ बछा, वि०—गऊ बछा।

न रह गया। परन्तु प्रभु ने स्नेहपूर्वक मुझे अपना लिया। वह मुझे आगे कर मेरे संरक्षण में स्वयं इस प्रकार चलने लगे जैसे गाय अपने बछड़े को आगे करके उसकी रखवाली करती हुई उसके पीछे चलती है।

अलंकार—उपमा।

> घर जारै[1] घर ऊबरै, घर राखें[2] घर जाइ।
> एक अचंभा[3] देखिया, मुआ[4] काल कौं खाइ॥४॥

शब्दार्थ—घर = (१) सांसारिक घर, (२) वास्तविक घर, आध्यात्मिक घर। ऊबरै=बच जाता है। जाइ=नष्ट हो जाता है। मुआ=मृत।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सांसारिक घर जला देने पर अर्थात् विषय-वासना-युक्त जीवन समाप्त कर देने पर वास्तविक घर बच जाता है अर्थात् आध्यात्मिक स्थिति सुरक्षित हो जाती है। सांसारिक घर बचाने पर अर्थात् विषय-वासनायुक्त जीवन में संलग्न रहने पर वास्तविक घर अर्थात् आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है। सामान्यतः काल मर्त्यजीव को खा जाता है, किन्तु मैंने एक आश्चर्य देखा कि उल्टे मृतक ही काल को खा रहा है अर्थात् जो जीते-जी आपा को त्यागकर मृतवत् हो जाता है, वह काल के जन्म-मरण-बंधन से मुक्त हो जाता है।

तुलनीय—He looseth life who saveth it.
He saveth life who looseth it.
—Jesus Christ.

अलंकार—यमक, विरोधाभास।

> मरते मरते[5] जग मुवा, औसर मुवा न कोइ[6]।
> कबीर ऐसे मरि मुवा[7], (ज्यौं) बहुरि न मरनाँ होइ॥५॥

शब्दार्थ—औसर = उपयुक्त अवसर पर। मुवा = मर गया।

व्याख्या—शरीर से तो संसार में सभी मरते रहते हैं। मरने पर अपनी वासनाओं के कारण पुनः शरीर धारण करते हैं, संसार में आते हैं और उनका पुनः मरण होता है। इस प्रकार जग में लोगों का बार-बार मरण होता है। यह नैसर्गिक है। इस मरण में कोई विशेषता नहीं। मरण का अर्थ है—संसार से चला जाना। यह शारीरिक मरण है। किन्तु वास्तविक मरण मन या वासना का मरण है, जिसका तात्पर्य है—संसार में रहते हुए उससे अलग हो जाना अर्थात् उसके आकर्षणों से विमुख हो जाना। इसी को कबीर ने कहा है—औसर मुवा न कोइ। ऐसा मरण विरले व्यक्ति का ही होता है।

---

१. ना० प्र०—जालौं। २. ना० प्र०—राखौं। ३. तिवारी-अचंभौ। ४. ना० प्र०—मड़ा। ५. ना० प्र०—मरताँ-मरताँ। ६. तिवारी-मुवै न जानां कोइ। ७. तिवारी, यु०, वि०—दास कबीरा यौं मुंवा।

कबीर ऐसी मृत्यु मरा जिससे पुनः मरना न पड़े। वह सांसारिक आकर्षणों के प्रति मृत हो गया और सदा के लिए आवागमन से छुटकारा पा गया। उसके लिए पुनः मरण का प्रश्न ही नहीं रह गया।

बैद मुवा[1] रोगी मुवा[2], मुवा[3] सकल संसार।
एक कबीरा ना मुवा[4], जाके[5] राम अधार॥ ६॥

व्याख्या—रोगी का उपचार करनेवाला वैद्य मर जाता है और रोगी भी मर जाता है। इस प्रकार संसार के सभी लोग मर जाते हैं। एक कबीर ही ऐसा है जो कि कभी नहीं मरता, क्योंकि उसका आधार राम है। तात्पर्य यह है कि शरीर मरता है, चैतन्य नहीं। जब तक शरीर में अहंभाव बना हुआ है, तब तक मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। यदि शरीर से अहंभाव सर्वथा निकल जाय तो मनुष्य काल या मृत्यु के पाश से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। जो प्रभु की शरण में जाता है, उसमें से शरीर का अहंभाव चला जाता है। अतः प्रभु का भक्त वस्तुतः मरता नहीं।

मन मार्‌या ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसनि[6] रही विभूति॥ ७॥

शब्दार्थ—मार्‌या=मारने पर। विभूति = भस्म।

व्याख्या—संसार में आसक्त मन के मरने पर अर्थात् आसक्ति के नष्ट हो जाने पर ममत्व नष्ट हो जाता है और अहंभाव भी विलीन हो जाता है। यही अहंभाव जीव को प्रभु से पृथक् करता है। जब यह अहंभाव छूट जाता है, तब योगी या साधक परमतत्त्व में रमण करने लगता है और उसके आसन पर उसका अवशिष्ट भस्म मात्र रह जाता है। उसके भीतर जो वास्तविक तत्त्व था, वह पुनः संसार में नहीं आता।

टिप्पणी—कबीर की एक अन्य साखी इससे मिलती-जुलती इस प्रकार है—

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसनि रही विभूति॥—(४१४)

जीवन[7] तैं[8] मरिबौ भलौ, जौ मरि जानैं कोइ।
मरनैं[9] पहिलै[10] जो मरै, तौं[11] कलि अजरामर[12] होइ॥ ८॥

व्याख्या—यदि कोई मरने की कला जान ले तो उसे पता चल जायेगा कि उसके सांसारिक जीवन से मरना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। सांसारिक जीवन से तात्पर्य है—

१. यु०, वि०—मुआ। २. यु०, वि०—मुआ। ३. यु०, वि०—मुआ। ४. यु०, वि०—मुआ। ५. ना० प्र०—जिनि के, वि०—जाके नाम। ६. ना० प्र०—आसणि। ७. वि०—जीवत में मरना भला, यु०—जीवन तें मरना भला। ८. ना० प्र०—थैं। ९. वि०—मरना पहिले। १०. ना० प्र०—पहली। ११. वि०—अजर अमर सो होइ। १२. ना० प्र०—अजरावर।

विषयों के प्रति आसक्ति। मरने की कला से तात्पर्य है–आसक्ति या वासना का विनाश। जो पांचभौतिक शरीर के त्यागरूपी मृत्यु से पहले मरता हैं अर्थात् विषयों के प्रति आसक्ति को तिलांजलि दे देता है, वह इस कलिकाल में भी, जिसमें जन्म-मरण नितान्त नैसर्गिक समझा जाता है, उससे छुटकारा पा सकता है।

अलंकार—विरोधाभास।

खरी कसौटी राँम की, खोटा टिकै न कोइ।
राँम कसौटी सो टिकैं, जो[1] जीवत मिरतक[2] होइ॥ ९॥

व्याख्या—संसार जीव के लिए एक कसौटी के समान है। जो संसार में विषयों के प्रति निरासक्त होकर रहता है, वही सफल होता है। वह कसौटी पर खरा उतरता है। जो खोटा है अर्थात् विषयों के प्रति आसक्त होकर जीवनयापन करता है, उनमें रत रहता है, वही असफल होता है। प्रभु की कसौटी पर वही सच्चा उतर सकता है जो जीते-जी विषयों के प्रति मृत हो जाय।

आपा मेटें[3] हरि मिलै, हरि मेटें[4] सब जाइ।
अकथ कहानी[5] प्रेम की, कहे न कोइ पतियाइ[6]॥ १०॥

शब्दार्थ—आपा = अहंभाव। अकथ = अनिर्वचनीय। पतियाइ=विश्वास करना।

व्याख्या—आध्यात्मिक जीवन की द्वैधी गति है—निषेधपरक और विधिपरक। निषेध की भी विचित्र गति है। अहंभाव के निषेध से प्रभु मिलते हैं। किन्तु प्रभु के निषेध से सब कुछ नष्ट हो जाता है। प्रभु के प्रति प्रेमरूपी विधिपरक प्रक्रिया ही अपनानी चाहिए। उस प्रेम की कहानी अवर्णनीय है और यदि कहा भी जाय तो उसका कोई विश्वास नहीं करेगा।

निगुसाँवाँ[7] बहि जाएगा, जाकै थाघी नहिं[8] कोइ।
दीन गरीबी बंदिगी, करतां होइ सु होइ॥ ११॥

शब्दार्थ—निगुसाँवाँ = जिसका कोई मालिक नहीं है। थाघी = सहारे की लकड़ी, आधार। दीन = दैन्य, लघुता। गरीबी = आकिञ्चन्य। बंदिगी=प्रणति।

व्याख्या—जिसका कोई गुरुरूपी मालिक नहीं है, वह इस संसार के प्रवाह में बह जायेगा, क्योंकि उसको पार करने का कोई आधार या आश्रय उसके पास नहीं है। यदि किसी में दैन्य हो, आकिञ्चन्य का भाव हो और प्रणति की प्रवृत्ति हो तो संभवतः कुछ हो सकता है। यदि ये गुण भी न हों तो फिर उसका पूर्ण विनाश अवश्यंभावी है।

---

१. विं०--जीवत मिरतक होइ। २. ना० प्र०--मृतक। ३. ना० प्र०--मेट्यौं, यु०--मेटै। ४. ना० प्र०--मेट्यौं, यु०--मेटै। ५. ना० प्र०--कहाणीं। ६. ना० प्र०--कह्यौं न को पत्याइ। ७. ना० प्र०--निगु साँवाँ। ८. ना० प्र०--नहीं।

दीन गरीबी दीन कौं, दुंदर कौं अभिमान।
दुंदर दिल विष सूं भरी, दीन गरीबी राम॥ १२॥

शब्दार्थ—दीन = (१) दिया, (२) दैन्ययुक्त। दुंदर = द्वन्द्व या झगड़ा करनेवाला।

व्याख्या—जिसमें दैन्य भाव है, वह विनम्र होता है। जो अहंभाव से पूर्ण झगड़ालू व्यक्ति होता है, उसमें अभिमान होता है। झगड़ालू व्यक्ति का हृदय विष से भरा होता है और विनम्र व्यक्ति के हृदय में भगवान का वास होता है।

अलंकार—यमक।

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास[1]।
कबीर ऐसा ह्वै रहा[2], ज्यौं[3] पावां तलि घास॥ १३॥

शब्दार्थ—चेरा=शिष्य। दासनि=भक्तों का। परदास=दासानुदास। पावां=पैर। तलि=नीचे।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं संतों के लिए शिष्य के समान हूं और भक्तों का परम सेवक हूं। कबीर ने अपने जीवन को पैरों के तले रहनेवाली घास के समान विनम्र और अपकार-शून्य बना लिया है।

अलंकार—उपमा।

रोड़ा ह्वै रहु[4] बाट का, तजि पाषंड[5] अभिमान।
ऐसा[6] जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान॥ १४॥
—६३२॥

शब्दार्थ—रोड़ा = कंकड़। बाट=मार्ग।

व्याख्या—हे जीव! तू पाखंड और अभिमान छोड़कर मार्ग में पड़े हुए कंकड़ के टुकड़े के समान दीन और तुच्छ हो जा। जो व्यक्ति इस प्रकार निरहंकार और विनम्र हो जाता है, उसे भगवान की प्राप्ति होती है।

---

१. यु०, वि०—दासन हू का दास। २. ना० प्र०—कबीर ऐसैं ह्वै रह्या, यु०, वि०—अब तौ ऐसा ह्वै रहौ। ३. ना० प्र०—ज्यूं पाँऊँ, यु०, वि०—ज्यों पाँव तले का घास। ४. ना० प्र०—रहौ, यु०—रहे। ५. यु०, वि०—आपा। ६. यु०, वि०—लोभ मोह तृष्ना तजै।

(४२) चित्त कपटी को अंग

कबिरा[1] तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत।
जालूँ कली कनीर की[2], तन राता[3] मन सेत॥ १॥

शब्दार्थ—हेत=प्रेम। जालूँ=जला दूँ। कनीर=कनेर, एक पुष्प जिसका रंग लाल होता है। राता=रक्त, लाल। सेत=श्वेत।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि उस व्यक्ति के पास नहीं जाना चाहिए, जहाँ कपट-युक्त प्रेम है अर्थात् जहाँ केवल प्रेम का दिखावा मात्र है। कनेर का पुष्प ऊपर से रक्त-वर्ण का होता है, किन्तु भीतर श्वेत होता है। लाल रंग अनुराग का प्रतीक है और श्वेत रंग अनुरागशून्यता का। ऐसे फूल को लेकर क्या करना है? ठीक इसी प्रकार जिस व्यक्ति का ऊपर से अनुरागयुक्त दिखावा होता है, किन्तु भीतर से वह अनुराग-शून्य है तो वह त्याज्य है। 'तन' बाह्य प्रेम का प्रतीक है और मन आन्तरिक प्रेम का।

इसी प्रकार संस्कृत में एक नीति-कथन है—

परोक्षे कार्यहंतारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं, विषकुम्भं पयोमुखम्॥

संसारी साकत[4] भला, कुँवरी कन्या भाइ[5]।
दुराचारी बैसनौं[6] बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ॥ २॥

शब्दार्थ—भाइ = भाँति।

व्याख्या—जिसके बाह्य व्यवहार तथा आन्तरिक मनोभावों में एकरूपता नहीं है वह कपटी कहा जाता है। जो भीतर-बाहर एक समान है, वह चाहे भक्त हो या संसारी उतना बुरा नहीं है जितना कि वह व्यक्ति जो ऊपर से भक्ति का पाखंड करता है, किन्तु भीतर से दुराचारी है। इस साखी में इसी तथ्य का उद्घाटन इस प्रकार किया है—

यहाँ शाक्त की तुलना कुँआरी कन्या से की गयी है। कुँआरी कन्या न तो भीतर से किसी के प्रति प्रेम रखती है और न बाहर से किसी के प्रति प्रेम दिखाती है। वह बाहर-भीतर सम-भाव होती है। इसी प्रकार ऐसा शाक्त जो कुँआरी कन्या के समान बाहर-भीतर से एक है अर्थात् बाहर से भी संसारी है और भीतर से भी संसारी है, उससे किसी प्रकार के धोखे की आशंका नहीं है। परन्तु ऐसे वैष्णव से धोखे का भय है जो ऊपर से त्रिपुण्ड लगाता है, कण्ठी धारण करता है, माला जपता है तथा प्रभु-भक्ति का

१. ना० प्र०—कबीर। २. यु०—जानो कली अनार की। ३. ना० प्र०—रातौ। ४. ना० प्र०—साषत। ५. ना० प्र०—कँवारी कै भाइ, यु०—कन्या क्वारी भाइ। ६. ना० प्र०—वैस्नौं।

ढोंग रचता है, किन्तु भीतर से दुराचारी है। हरिभक्त को उसके पास नहीं जाना चाहिए अर्थात् वह त्याज्य है।

अलंकार—उपमा।

निरमल हरि का नाव सों, कै निरमल सुध भाइ।
कै[1] लै दूनीं[2] कालिमाँ, भावै सौं मन साबन[3] लाइ॥ ३॥
—६३५॥

शब्दार्थ—सुध भाइ=शुद्ध भावना। कै=(i) कर ले, (ii) अन्यथा। कालिमा=पाप साबन = साबुन। लै = ले लेगा।

व्याख्या—हे जीव! तू प्रभु की सच्ची भक्ति से अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर ले, अन्यथा तेरे हृदय की कालिमा बढ़ती ही जायगी, तू भले ही बाह्याचार रूपी सौ मन साबुन से ऊपरी सफाई रखे।

अलंकार—यमक।

१. गुप्त—है। २. ना० प्र०—दूणीं। ३. ना० प्र०—मण साबण।

(४३) गुरु सिष हेरा को अंग

इस अंग में यह संकेत किया गया है कि ऐसे सिद्ध गुरु का मिलना अत्यंत कठिन है जो साधना-मार्ग में शिष्य को निरापद रूप से ले चलता हुआ परमतत्त्व का साक्षात्कार करा दे। सत्गुरु के लिए भी सुपात्र शिष्य का मिलना कठिन ही है।

ऐसा[1] कोई ना मिलै[2], हम कौं दे[3] उपदेस।
भौसागर मैं डूबतां[4], कर गहि काढ़ै केस॥ १॥

शब्दार्थ—हेरा = खोजना, परखना। डूबतां = डूबते हुए को।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि संसार में कोई ऐसा गुरु नहीं मिलता जो हमको (जीव को) सच्चा उपदेश दे और भवसागर में डूबते हुए प्राणी के केश हाथ में पकड़कर बाहर निकाल ले।

अलंकार—रूपक।

ऐसा[5] कोई ना मिलै, हम कौं लेइ पिछानि।
अपनां करि किरपा करै, ले उतरै[6] मैदानि॥ २॥

शब्दार्थ—पिछानि=पहचान।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि ऐसा कोई नहीं मिलता जो हमारी आध्यात्मिक स्थिति को पहचान कर अपना ले और कृपा करके आध्यात्मिक मैदान में उतार दे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऐसा[7] कोई ना मिलै, राँम भगति[8] का मीत।
तन मन सौंपे मिरिग ज्यौं[9], सुनैं बधिक का गीत॥ ३॥

शब्दार्थ—मीत = प्रेमी।

व्याख्या—राम का ऐसा सच्चा भक्त मुझे नहीं मिलता जिसने नाद ब्रह्म में अपने तन-मन को उसी प्रकार पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया हो जैसे वधिक का मधुर नाद सुनकर हिरण अपने तन-मन को समर्पित कर देता है।

टिप्पणी—इस साखी में कबीर ने नादानुसंधान योग (सुरति शब्दयोग) की ओर

---

१. तिवारी—अैसा। २. ग्रु०, वि०—मिला। ३. ना० प्र०—दै। ४. तिवारी—में बूड़ते, ग्रु०—में डूबता। ५. तिवारी-अैसा। ६. ना० प्र०—उतारै। ७. तिवारी—अैसा। ८. ग्रु०-भजन। ९. ना० प्र०-मृग ज्यूँ, ग्रु०—मृग ज्यौं।

संकेत किया है। इसके द्वारा साधक का चित्त नाद में सर्वथा लीन हो जाता है और वह ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करता है।

अलंकार—उपमा।

ऐसा[1] कोई ना मिलै[2], घर दे अपन जराइ[3]।
पाँचउ लरिके पटक्कि कै[4], रहै राँम लौ[5] लाइ ॥ ४ ॥

व्याख्या—मुझे ऐसा कोई नहीं मिलता जो अपना घर जलाकर और अपने पाँचों पुत्रों को पटककर राम में अपने चित्त को लीन कर दे।

यहाँ 'घर' सांसारिकता का प्रतीक है और 'पाँचउ लरिके' पंचेन्द्रिय अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऐसा[6] कोई ना मिलै[7], जासौं रहिये लागि।
सब जग जरता देखिया[8], अपनीं अपनीं[9] आगि ॥ ५ ॥

व्याख्या—खोजने पर भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता है जिसके आश्रय में निःशंक रूप से मानव लगा रह सकता हो। संसार में हम जहाँ देखते हैं, वहीं सब अपनी चिन्ता की आग में जल रहे हैं। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई देता जिसके भीतर प्रपंच का उपशम हो गया हो।

तुलनीय—चिंता साँपिनि काहि न खाया।
को जग जाहि न व्यापी माया ॥
—तुलसी।

ऐसा कोइ ना मिलै[10], जासों[11] कहूँ निसंक।
जासों हिरदा[12] की कहूँ, सो फिरि माँड़ै कंक ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—माँड़ै=प्रहार करना। कंक = एक प्रकार का पक्षी, ऐसा बाण जिसके एक ओर कंक पक्षी का पंख लगा हो।

व्याख्या—ऐसा कोई नहीं मिलता जिसके समक्ष मैं निःसंकोच भाव से अपने हृदय की उलझनों को व्यक्त कर सकूँ। मैं जिससे कहता भी हूँ, वह उल्टे व्यंग्य-बाण मारता है, उपहास करता है।

ऐसा कोई ना मिलै[13], सब बिधि देइ बताइ।
सुंनि मंडल मैं पुरिष[14] एक, ताहि रहूँ लौ[15] लाइ ॥ ७ ॥

---

१. तिवारी-अैसा। २. यु०—मिला। ३. ना० प्र०—अपना घर देइ जराइ ४. ना० प्र०—पँचू लरिका पटकि करि। ५. ना० प्र०—ल्यौ। ६. तिवारी—अैसा। ७. यु०—मिला। ८. ना० प्र०—जलता देखिए। ९. ना० प्र०—अपणीं-अपणीं। १०. वि०—मिला। ११. ना० प्र०—जाँसूँ। १२. ना० प्र०—जाँसूँ हिरदै। १३. वि०, यु०—मिला। १४. यु०, वि०—पुरुष है। १५. ना० प्र०—रहै ल्यौ।

शब्दार्थ—ली=ध्यान।

व्याख्या—मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता जो साधना की वे सभी विधियाँ बतला दे जिससे शून्य-मंडल में स्थित ज्योतिपूर्ण परमतत्त्व में मैं ध्यान लगा सकूँ।

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जाँहि[1]।
ऐसा कोई ना मिलै[2], पकड़ि छुड़ावै बाँहि[3] ॥ ८॥

व्याख्या—हमारे देखते हुए संसार के प्राणी काल के मुँह में चले जा रहे हैं और संसार के देखते हुए हम भी काल के मुँह में चले जाएँगे। कोई ऐसा सत्गुरु नहीं मिलता जो हमारी बाँह पकड़कर अर्थात् अपनी शरण में लेकर हमें काल के चंगुल से छुड़ा दे अर्थात् हमको आवागमन के चक्र से मुक्ति दिला दे।

तीनि सनेही बहु मिलै[4], चौथे मिलै[5] न कोइ।
सबै[6] पियारे राम के, बैठे परबस[7] होइ॥ ९॥

व्याख्या—संसार में बहुत से ऐसे लोग मिलते हैं जो तीन इष्टों अर्थात् सुतैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा में अनुरक्त रहते हैं। ऐसा कोई नहीं मिलता जो चौथे इष्ट अर्थात् मोक्ष में अनुरक्त हो। संसार का प्रत्येक जीव प्रभु का अंश है। अतः उनका प्रिय है। किन्तु वह प्रभु की ओर नहीं जा पाता, क्योंकि वह दूसरे अर्थात् राग-द्वेष अथवा माया के वश में पड़ा हुआ है।

तुलनीय—

सुत वित लोक ईषना तीनी।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
—तुलसी।

माया[8] मिलै महोबंती, कूड़े आखै बैन।
कोइ घायल बेधा ना मिलै, साँई हंदा सैन॥ १०॥

शब्दार्थ—महोवंती=प्रेमी। कूड़े=व्यर्थ। आखै=बोलै। वेधा=विधा हुआ। हंदा (राज० विभक्ति)=द्वारा, से। सैन=संकेत।

व्याख्या—माया से अनुराग रखनेवाले और व्यर्थ की बातें छांटनेवाले बहुत से लोग मिल जाते हैं, परन्तु प्रभु के कटाक्ष और संकेत से घायल तथा विंधे हुए बहुत कम लोग मिलते हैं।

---

१. ना० प्र०—जाँह। २. यु०, वि०—मिला। ३. ना० प्र०—बाँह।४. यु०—मिला, वि०—मिले। ५. यु०, वि०—चौथा मिला। ६. तिवारी—सवहिं। ७. ना० प्र०—परवसि।
८. यु०, वि०—में यह साखी इस प्रकार है—
माया डोलै मोहती, बोलै कडुवा बैन।
कोई घायल ना मिलै, साँई हिरदा सैन॥

भाव यह है कि माया के प्रेमी तो बहुत होते हैं, किन्तु प्रभु के प्रेमी बहुत कम मिलते हैं।

सारा सूरा बहु मिलैं[1], घायल मिला[2] न कोइ।
घायल कौं घायल मिलै, तौ[4] राम भगति दिढ़ होइ॥ ११॥

शब्दार्थ—सारा=सम्पूर्ण, अक्षत।

व्याख्या—सच्चा शूर वह है जो युद्ध में भिड़कर चोट खा चुका हो, अन्यथा अपने को शूर कहनेवाले तो बहुत मिलते हैं जो सर्वदा अक्षत रहते हैं, जिनके शरीर पर घाव का कोई चिह्न नहीं दिखलाई पड़ता। किन्तु जो प्रेम के बाण से आहत हो चुका हो, ऐसा शूर कोई नहीं मिलता। जब सत्गुरु को प्रेम के उत्कट उत्कर्ष से घायल ऐसा शिष्य मिले जिसमें प्रेम की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत हो चुकी हो, तभी राम की भक्ति सुदृढ़ होती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरौं[5], प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौं[6] प्रेमी मिलै, तौ[7] सब विष अमृत[8] होइ॥ १२॥

व्याख्या—मैं प्रभु के सच्चे प्रेमी को खोजते फिरता हूँ। परन्तु मुझे ऐसा कोई प्रेमी नहीं मिलता। यदि सच्चे प्रेमी को कोई दूसरा वास्तविक प्रेमी मिल जाय तो यह विषाक्त जीवन अमृत हो जाय अर्थात् जीवन की कटुता आनंद में परिणत हो जाय।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

हम घर जारा[9] आपनां, लिया[10] मुराड़ा हाथि।
अब[11] घर जालौं तास का, जे चलै हमारे साथि॥ १३॥
—६४८॥

शब्दार्थ—मुराड़ा=जलती हुई लकड़ी, लुकाठी।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने अपना आपा और उससे प्रेरित सांसारिक जीवन जलाकर भस्म कर दिया है और हाथ में ज्ञानाग्नि की लुकाठी लिये बैठा हूँ। जो साधना के मार्ग में हमारे साथ चलने को तैयार हो, उसका भी आपा और सांसारिक जीवन मुझे जलाना है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

●

---

१. यु० वि०—मिले। २. ना० प्र०—घाइल मिलै। ३. ना० प्र०—घाइल ही धाइल। ४. ना० प्र०—तब। ५. तिवारी, वि०, यु०—फिरूँ। ६. अन्य—सों। ७. ना० प्र०—तब, वि०—विष से अमृत होइ। ८. तिवारी—अमरित। ९. ना० प्र०—जाल्या आपणाँ। १० गुप्त—लीया, वि०—लूका लीन्हा हाथ। ११. वि०—ताहू का घर फूँक दूँ।

(४४) हेत प्रीति सनेह को अंग

कमोदनी जलहरि बसै[१], चंदा बसै अकास[२]।
जो जाही का भावता[३], सो ताही कै पास[४] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—हेत = प्रेम । जलहरि=जलधर, जलाशय । भावता=प्रिय ।

व्याख्या—कुमुदिनी जलाशय में रहती है और चन्द्रमा आकाश में । किन्तु जो जिसका प्रेमी होता है वह उसके पास ही रहता है । दूरी प्रेम के मार्ग में व्यवधान नहीं डाल सकती । यद्यपि चन्द्रमा दूर आकाश में स्थित है और कुमुदिनी जलाशय में, तथापि वह चन्द्र-ज्योति से ही विकसित होती है, क्योंकि कुमुदिनी के लिए चन्द्र ही प्रिय है ।

तुलनीय—जल मँहि बसै कमोदणीं, चंदउ बसइ अगासि ।
ज्यउ ज्याहीं कइ मन बसइ, सउ त्यांही कै,पासि ॥ २०१ ॥
—ढोला मारू रा दूहा

अलंकार—अर्थान्तरन्यास ।

गुरु[५] जौ बसै बनारसी, सीख समुन्दर तीर ।
बीसारै[६] नहिं बीसरै, जौ गुन[७] होइ सरीर ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सीख=शिष्य । गुन=प्रेम ।

व्याख्या—यदि गुरु बनारस में रहता हो और शिष्य कोसों दूर समुद्र के किनारे हो तो भी यदि अन्तःकरण में पारस्परिक प्रेम विद्यमान है तो प्रयत्न करने पर भी एक-दूसरे को नहीं भूल सकते ।

टिप्पणी—कहा जाता है कि उक्त साखी में कबीरदास के शिष्य मलूकदास के प्रति संकेत है जो जगन्नाथपुरी में जाकर बसे थे । बाबू श्यामसुन्दरदास ने कबीर ग्रन्थावली की भूमिका (पृष्ठ २) में एक मलूकदास का उल्लेख किया है जिन्होंने संवत् १५६१ में किसी खेमचन्द के लिए काशी में कबीर की रचनाओं की हस्तलिखित प्रति तैयार की थी । श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी लिखा है कि '-पुरी में किसी मलूकदास की एक समाधि कबीर साहब की समाधि के निकट बनी हुई बतलाई जाती है । अतएव यह संभव है कि कबीर साहब के शिष्य माने जानेवाले कोई मलूकदास जगन्नाथपुरी में रहते रहे हों तथा

---

१. हनु०, वि०, यु०—जल में बसै कमोदनी । २. ना० प्र०—अकासि । ३. हनु०, वि०, यु०—जो है जाका भावता । ४. तिवारी—पासि । ५. ना० प्र०—कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदा तीर । ६. ना० प्र०—बिसार्‍या नहीं बीसरै । ७. ना० प्र०—जे गुँण ।

उन्हीं की उक्त समाधि हो।* किन्तु यह मलूकदास, मलूक पंथ के प्रवर्तक प्रसिद्ध संत मलूकदास से भिन्न थे, क्योंकि उनका जन्म सं० १६३१ में हुआ था। अतएव वह कबीर के परवर्ती थे।

जो है जाका भावता, जदि[1] तदि मिलिहै[2] आइ।
जाकौं[3] तन मन सौंपिया, सो[4] कबहूँ छाँड़ि न जाइ॥ ३॥

शब्दार्थ—भावता = प्रिय। जदि तदि=कभी-न-कभी।

व्याख्या—जो जिसका प्रिय है वह शरीर से दूर रहने पर भी कभी-न-कभी मिल ही जायेगा। जिसको अपने प्रेमवश किसी ने अपना तन-मन समर्पित कर दिया है, वह कभी भी सदा के लिए पृथक् नहीं हो सकता।

स्वामी सेवक[5] एक मत, मन ही मैं मिलि जाइ[6]।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ॥ ४॥
—६५२॥

व्याख्या—इस साखी में 'मत' शब्द को सामान्य वाच्यार्थ में नहीं लेना चाहिए। यहाँ 'मत' का तात्पर्य केवल यह नहीं है कि दोनों की मान्यताएँ एक हों या दोनों एक बात के माननेवाले हों। उसकी व्यञ्जना यह है कि यदि स्वामी और सेवक, गुरु और शिष्य का दिल मिलता है, यदि दोनों में परस्पर प्रेम है तो शरीर से दूर रहते हुए भी वे मन से सदा निकट ही रहते हैं। स्वामी (गुरु), सेवक (शिष्य) के बौद्धिक नैपुण्य से नहीं रीझता है। वह तो शिष्य के भाव को देखता है। यदि उसमें स्नेह का भाव है तो गुरु उसके प्रति अवश्य आकृष्ट होता है।

---

*उत्तर भारत की संत-परम्परा—पृ० ५६७।

१. यु०, विं०, हनु०—जब तक मिलिहै। २. ना० प्र०—मिलसी। ३. यु०, हनु०—तन मन ताको सौंपिवे। ४. यु०—जो। ५. गुप्त—सेवग। ६. तिवारी—मत मैं मत मिलि जाइ।

(४५) सूरातन को अंग

इस अंग में बताया गया है कि आध्यात्मिक शूर कौन है ?

> कायर हुआं न छूटिहै[1], कछु सूरातन साहि[2]।
> भरम भलाका[3] दूरि करि, सुमिरन[4] सेल सँबाहि[5] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सूरातन>सूरत्तण, शूरत्व। साहि = साधि, साधो, ठीक करो। भलाका= तीर का फलक, गाँसी। सेल = (सं० शल) बरछा, भाला। सँबाहि = संवाहन, परिचालन, चलाना।

व्याख्या—मोह, राग-द्वेषादि आध्यात्मिक जीवन के शत्रु हैं। इन पर विजय प्राप्त करने पर ही मोक्ष संभव है। इसी तथ्य को कबीरदास रूपक शैली में इस प्रकार कह रहे हैं:—

हे जीव ! कायर होकर रहने से तू संसार से छुटकारा नहीं पाएगा। इसलिए तू शूरता की साधना कर अर्थात् अपने जीवन में शूरता का भाव ला। तेरे भीतर जो मोह और भ्रम का तीर घुसा हुआ है, उसे बाहर फेंककर अर्थात् भ्रम को दूरकर, प्रभु-स्मरण का भाला लेकर जीवन के रणक्षेत्र में आगे बढ़।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

> कोनैं[6] परा न छूटिहै, सुनु[7] रे जीव अबूझ।
> कबीर मरि[8] मैदान मैं, करि इन्द्रिन सों जूझ[9] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अबूझ = अबोध, ज्ञानहीन। जूझ = युद्ध।

व्याख्या—हे अज्ञानी जीव ! ध्यानपूर्वक सुन। संसार और समाज से पूर्णतया अलग रहकर, एक कोने में कुटिया बनाकर तपस्या और साधना करने से तेरी वास्तविक मुक्ति नहीं हो सकेगी। इसी संसार में इन्द्रियों के आकर्षण से युद्ध करते हुए तू आध्यात्मिक मैदान में मरण का वरण कर।

पहली पंक्ति में व्यञ्जना यह है कि एकान्त में बैठकर तप करने या समाधि लगाने से प्रत्यक्ष आकर्षण से तो जीव बच सकता है, किन्तु यदि उसका चित्त उसमें अनुरक्त है तो अलग रहते हुए भी चित्त उसके प्रति बार-बार आकृष्ट होगा। चित्त की वासना से निवृत्त

---

१. ना० प्र०—काइर हुवाँ न छूटिए, वि०—कायर भया न छूटिहौ। २. वि०—सरता कछू समाय। ३. ना० प्र०—भलका, वि०—भालका। ४. ना० प्र०—सुमिरण। ५. त्रि०—मँजाय। ६. ना० प्र०, गुप्त—षूँणै पड्या न छूटियो। ७. ना० प्र०—सुणि, तिवारी—सुनि। ८. यु०—मौंड़। ९. ना० प्र०—इन्द्रयाँ सूँ झूझ।

हो जाना ही वास्तविक मुक्ति है। यह निवृत्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब कि शरीर से आकर्षणों के बीच रहते हुए भी, मन से उनसे विरक्त हो जाय।

दूसरी पंक्ति में व्यञ्जना यह है कि इन्द्रियों के आकर्षण के बीच रहते हुए भी चित्त को उनसे विरक्त रखे। यही इन्द्रियों से संग्राम करना है। जीव स्वभावतः शरीर और इन्द्रियों से तादात्म्य रखता है। जब तक वह शरीर से तादात्म्य रखता है, तब तक विषयों के आकर्षण से मुक्त नहीं हो सकता। शरीर से तादात्म्य ही जीव की संज्ञा है। इस तादात्म्य को समाप्त करना ही मरण है। यह मरण ही सच्ची मुक्ति है।

कबीर सोई सूरिवाँ[1], मन सो[2] माँड़ै जूझ[3]।
पंच[4] पियादे[5] पारि कै, दूरि करै सब दूज[6] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सूरिवाँ=शूर। माँड़ै=ठाने। पियादे=पदाति, पैदल सेना, (प्र० अ०) काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि मन की प्रवृत्तियाँ। पारि कै = गिराकर, जीतकर। दूज=द्वैत।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि वास्तविक शूर वही है जो अन्तः स्थित शत्रु अशुद्ध, काम-सम्पृक्त मन से युद्ध करे और काम, क्रोध मद, लोभ, मोह—इन पाँच पैदल सेनानियों अर्थात् मन की प्रवृत्तियों को पराजित करके द्वैतभाव को निरस्त कर दे।

टिप्पणी—जब तक द्वैत भाव बना रहता है, तभी तक संग्राम है, क्योंकि तब तक मोह, शोक आदि प्रवृत्तियाँ मन में तरंगित होती रहती हैं। द्वैत समाप्त होने पर कौन किससे संग्राम करेगा, क्योंकि तब सब में एकात्म-भाव आ जाता है।

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवा भूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक
एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

अर्थात् जिसकी दृष्टि में आत्मा ही सर्वभूत हो गया है, उस निरन्तर एकत्व देखने-वाले ज्ञानी पुरुष को मोह कहाँ और शोक कहाँ ?

सूरा जूझै[7] गिरद सौं[8], इक दिसि सूर न होइ।
कबीर[9] या[10] बिन सूरिवाँ, भला न कहिसी कोइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गिरद=(फा० गिर्द) चारों ओर।

---

१. गु०, वि०—सूरमा। २. ना० प्र०—सूँ। ३. ना० प्र०—झूझ। ४. गु०, वि०—पाँचो इन्द्री पकरि के। ५. ना० प्र०—पयादा पाड़ि ले। ६. तिवारी—दूजि, गु०, वि०—दूझ। ७. ना० प्र०—झूझैं। ८. ना० प्र०—सूँ। ९. गु०, वि०—यौं जूझै बिन बाहरा, भला न कहसी कोय। १०. ना० प्र०—यौं।

व्याख्या—वास्तविक शूर वही है जो अपने शत्रुओं से चारों ओर भिड़ता है, केवल एक ओर युद्ध करने से कोई सच्चा शूर नहीं हो सकता। कबीर कहते हैं कि इस कौशल के बिना कोई भी कुशल शूर नहीं कहा जा सकता।

इस साखी में व्यञ्जना यह है कि जैसे कोई शूर केवल सामने के शत्रु से लड़ता हो और इधर-उधर के शत्रुओं से अपनी रक्षा न कर रहा हो तो वह सिद्ध शूर नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जो केवल बाह्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, किन्तु आन्तरिक वासनाओं पर जय नहीं प्राप्त करता, कबीर के शब्दों में यदि वह 'तृष्ना नाद करत घट भीतर' की स्थिति में है तो वह कुशल आध्यात्मिक शूर नहीं कहा जा सकता।

कबिरा रन में पैठिकै[1], पीछैं रहै न[2] सूर।
साँई सौं[3] साँचा भया, रहसी[4] सदा हजूर ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रन = युद्ध-क्षेत्र। हजूर=सामने, प्रत्यक्ष।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सच्चा शूर वही है जो आध्यात्मिक रण में प्रविष्ट होकर पीछे नहीं हटता अर्थात् जो आक्रमणकारी आकर्षणों और वासनाओं से निरन्तर जूझता रहता है, उनसे भागता नहीं है। 'साँई सौं साँचा भया' का तात्पर्य यह है कि वह अपने प्रभु का एकनिष्ठ सेवक है और सदा उनके सामने तत्पर रहता है अर्थात् उनके आदेशों की पूर्ति के लिए सदा सन्नद्ध रहता है।

दूसरे चरण में व्यञ्जना यह है कि परम ज्योति का स्फुल्लिंग प्रत्येक मानव के हृदय में विद्यमान है। इसी की रक्षा के लिए मानव को आध्यात्मिक-क्षेत्र में संग्राम करना चाहिए, क्योंकि इस पर निरन्तर काम, क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण होते रहते हैं। सच्चा एकनिष्ठ साधक वही है जो अपने भीतर विद्यमान इस आत्मतत्त्व की रक्षा में काम, क्रोध आदि विरोधी प्रवृत्तियों से युद्ध करता रहता है और उस आत्मतत्त्व को अपनी चेतना के केन्द्र-बिन्दु में रखता है।

गगन दमामाँ बाजिया, परा[5] निसानैं घाव।
खेत बुहारा सूरिवाँ[6], मुझ[7] मरने[8] का चाव ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—दमामाँ (फा०) = बड़ा नक्कारा, धौंसा। निसानैं (फा०)=एक प्रकार का अवनद्ध (चमड़े से मढ़ा हुआ) रणवाद्य, नगाड़ा (विस्तार के लिए देखिए—संगीत रत्नाकर ६।११५१–५४)। घाव = चोट। बुहारा = साफ कर दिया। चाव=उत्कंठा।

---

१. ना० प्र०—कबीर आरणि पैसि करि, त्रि०—रन में आयके। २. ना० प्र०–सु ३. ना० प्र०–सूँ, वि०–के सनमुख रहै, यु०–सूँ सनमुख भया। ४. तिवारी, वि०—जूझै। ५. ना० प्र०—पड्या, तिवारी—परत। ६. ना० प्र०—बुहार्‌या सूरिवैं, वि०—पुकारै सूरमा। ७. तिवारी—अब मरिबै कौं दाउ, यु०, वि०—अब लड़ने का दांव। ८. ना० प्र०–मरणे।

व्याख्या—आकाश दमामा की ध्वनि से गूँज उठा और नगाड़े पर डंडों की चोट पड़ने लगी। शूर युद्ध में कूद पड़े हैं और शत्रुओं को पराजित करके मैदान साफ कर दिया है। मेरे हृदय में भी इस मैदान में जूझने की उत्कट अभिलाषा है।

आध्यात्मिक रणक्षेत्र में साधकों और संतों ने काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित किया है। मेरी भी इस रणक्षेत्र में भाग लेने की अभिलाषा हैं।

टिप्पणी—दमामा और निसान रणवाद्य हैं। इनकी ध्वनि वीरों में उत्साह का संचार करती है।

मेरे संसै कोइ नहीं[1], हरि[2] सौं[3] लागा हेत।
काम क्रोध सों जूझनां[4], चौड़े माँड़ा[5] खेत ॥७॥

शब्दार्थ—संसै = संशय। हेत = प्रेम। माँड़ा = ठाना।

व्याख्या—मेरा प्रभु से पूर्ण अनुराग हो गया है। इसलिए मुझे अब काम, क्रोध आदि शत्रुओं से पराजित होने की आशंका नहीं रह गयी है। मुझे अब संसार के विशाल रण-क्षेत्र में, खुले मैदान में, काम, क्रोध से युद्ध ठानना है।

सूरै सार सँवाहिया, पहिरा[6] सहज सँजोग।
अब कै ग्यान गयंद चढ़ि[7], खेत परन[8] का जोग ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सूरै = शूर ने। सार=लोहे का अस्त्र। सँवाहिया=संवहन किया, सम्भाला। गयंद=गजेन्द्र, हाथी।

व्याख्या—इस सांसारिक रणक्षेत्र में आध्यात्मिक शूर ने अपने सभी अस्त्र सँभाल लिये हैं। उसने सहजरूपी प्रिय मिलन का कवच भी धारण कर लिया है। वह ज्ञान के गजेन्द्र पर आरूढ़ हो गया है। इस बार खेत रखने का अर्थात् विजय प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हुआ है। यह अंतिम आक्रमण है। इस बार विजय प्राप्त होगी या मरण का वरण।

इस साखी में दो-तीन विचारों की समन्वित व्यञ्जना है। 'सहज सँजोग' में उस कवच के धारण करने की व्यञ्जना है जिसमें प्रेम के द्वारा द्वैत भाव को सर्वथा मिटाकर साम-रस्य की सहजावस्था में समावेश होता है। प्रायः काम, क्रोध आदि निम्न पाशविक वृत्तियों से मनुष्य की पराजय इसलिए होती है क्योंकि जिस राजसिक भूमि में काम, क्रोध हैं, उसी भूमि पर उनसे भिड़नेवाला साधक भी खड़ा है। यदि वह उससे ऊपर उठकर प्रहार करे तभी उन पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसीलिए कबीर ने कहा है कि साधक ज्ञान के हाथी पर चढ़कर प्रहार करता है।

---

१. ना० प्र०—कबीर मेरे संसा को नहीं। २. वि०—गुरु सौं। ३. ना० प्र०—सूँ। ४. ना० प्र०—सूँ झूझणौं। ५. ना० प्र०—माँड्या। ६. ना० प्र०—पहरया, यु०, वि०—पहरा। ७. तिवारी—ग्यान गयंदहि चढ़ि चला। ८. ना० प्र०—पड़न।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(३।४३)

अर्थात् तुम आत्मा को बुद्धि से भी परे समझकर अपने निम्न स्व को उच्चतर स्व से नियन्त्रित कर, उस उच्च स्तर से कामरूपी दुर्दमनीय शत्रु को मारो।

अलंकार—साँगरूपक।

सूरा तबही परषिये[1], लड़ै धनी[2] कै हेत।
पुरजा पुरजा[3] होइ परै[4], तऊ न छाड़ै खेत॥ ९॥

शब्दार्थ—परषिये = परख होती है। धनी = स्वामी, आत्मा। हेत = प्रेम, लिए। पुरजा-पुरजा = टुकड़े-टुकड़े।

व्याख्या—यहाँ स्वामी आत्मा है, काम, क्रोध आदि शत्रु हैं, साधक योद्धा है। वह अपने स्वामी अर्थात् आत्मा के हित के लिए काम, क्रोधादि शत्रुओं से लड़ता है।

इसी तथ्य को कबीर इन शब्दों में व्यक्त करते हैं कि सच्चे योद्धा की परख यही है कि वह अपने स्वामी के हित के लिए युद्ध करता है और वह रणक्षेत्र में टुकड़े-टुकड़े भले ही हो जाय, किन्तु मैदान छोड़ने का नाम नहीं लेता है।

'हित' शब्द में श्लेष अलंकार है।

खेत न छाड़ै सूरिवाँ[5], जूझै द्वोउ[6] दल माँहि।
आसा जीवन मरन[7] की, मन मैं आंनै[8] नाँहि॥ १०॥

शब्दार्थ—आँनै = लाना। जूझै = युद्ध करता है।

व्याख्या—इस साखी में कबीर सच्चे आध्यात्मिक शूर की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि वह रणक्षेत्र छोड़कर कभी पीछे नहीं हटता है तथा विवेक और मोह, ज्योति और तमस्, संक्षेप में सत्-असत् के बीच चलनेवाले युद्ध में सत् पक्ष की ओर से आगे रहकर युद्ध करता है। संसार के सामान्य प्राणी जिस जीवन के प्रति आसक्त रहते हैं तथा जिस मृत्यु से भयभीत रहते हैं, सच्चा आध्यात्मिक शूर उन्हें केवल शरीर का धर्म समझते हुए उनको मन में स्थान नहीं देता अर्थात् उनके प्रति उदासीन रहता है।

अब तौ जूझै ही बनै[9], मुड़ि चालै[10] घर दूरि।
सिर साहिब कौं सौंपते[11], सोच न कीजै सूरि॥ ११॥

---

१. अन्य—सोइ सराहिए। २. ना० प्र०—धणीं। ३. ना० प्र०—पुरिजा-पुरिजा। ४. ना० प्र०—ह्वै पड़ै। ५. यु०; वि०—सूरमा। ६. ना० प्र०—झूझै है। ७. ना० प्र०—मरण। ८. ना० प्र०—आँणै, यु०, वि०—राखै। ९. ना० प्र०—झूझ्याँ हीं वणैं, तिवारी—जूझाँ ही बनैं। १०. ना० प्र०—चाल्याँ, तिवारी—चालां। ११. ना० प्र०—सौंपतां।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि संग्राम छिड़ जाने पर युद्ध करने में ही कल्याण है। उसे छोड़कर भागने से काम नहीं चलेगा। उससे मुड़कर भागने पर अपना घर और दूर हो जायेगा। प्रभु को अपना सिर समर्पित करने में आध्यात्मिक शूर को हिचकना नहीं चाहिए।

इस साखी में 'घर' शब्द की व्यञ्जना बहुत गूढ़ है। यहाँ घर का तात्पर्य है—आत्मतत्त्व। मानव का वास्तविक घर वही है। उसके जीवन का लक्ष्य वहीं पहुँचना है। यही उसकी नियति है। किन्तु सामान्यतः प्राणी संसार के प्रवाह में बहते हुए उससे दूर रहते हैं। सांसारिक जीव काम, क्रोधादि के वशीभूत रहकर ही सारे कार्य करता हैं। किन्तु जब वह साधना-पथ पर अग्रसर होता है तथा सांसारिक आकर्षणों से विमुख होने लगता है, तब काम, क्रोधादि पुराने संस्कार विद्रोह में खड़े हो जाते हैं और उसके मार्ग का प्रतिरोध करते हैं। तभी साधक और उसकी पाशविक वृत्तियों में संग्राम छिड़ जाता है। अब यदि साधक उनसे युद्ध न कर पीछे मुड़ता है अर्थात् पुनः सांसारिक जीवन में आ पड़ता है तो इस साधना से मुड़ने पर उसका आत्मतत्त्वरूपी घर दूर हो जाता है। उसने साधना के द्वारा जितनी यात्रा पूरी की थी, उसका अन्तराल और बढ़ जाता है।

यहाँ 'सिर सौंपना' का भाव है—अहंभाव का विसर्जन।

अब तौ ऐसी होइ परी[1], मन का भावतु कीन[2]।
मरनैं तैं क्या डरपनां[3], जब हाथि सिंधौरा लीन[4] ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—भावतु = वाञ्छित। सिंधौरा = सिंदूर-पात्र।

व्याख्या—अब तो ऐसी स्थिति आ गयी है कि मैंने अपने चित्त की इच्छा के अनुसार मरने का संकल्प कर लिया है। जिस प्रकार कोई पतिव्रता नारी जब सती होने के संकल्प का प्रतीक, सिन्दूर-पात्र-अपने हाथ में ले लेती है तब उसे उसके निश्चय से कोई डिगा नहीं सकता, तब उसको मृत्यु-भय नहीं रह जाता है, उसी प्रकार जब प्रभुरूपी पति से मिलने के लिए साधकरूपी नारी 'आपा' के मरण का निश्चय कर लेती है, तब उसे उस निश्चय से कोई विचलित नहीं कर सकता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जिस[5] मरनैं तैं[6] जग डरै, सो मेरे आनंद।
कब मरिहूँ[7] कब देखिहूँ[8], पूरन परमानंद ॥ १३ ॥

---

१. ना० प्र०—ऐसी ह्वै पड़ी। २. ना० प्र०—मनकारु चित कीन्ह। ३. ना० प्र०—कहा डराइए। ४. ना० प्र०—हाथि स्यँधौरा लीन्ह। ५. तिवारी—जिसु। ६. ना० प्र०—थैं। ७. तिवारी—मारिहौं। ८. तिवारी—भेंटहौं।

व्याख्या—जिस मरण से सारा संसार डरता है वह मेरे लिए आनन्द का विषय है, क्योंकि शरीर में अहंभाव ही मेरे और प्रभु के बीच व्यवधानस्वरूप है। उससे मुक्त हो जाना ही वास्तविक मरण है। उससे मुक्त होकर सर्वव्याप्त चैतन्य में प्रतिष्ठित होना ही वास्तविक आनन्द है। कबीर कहते हैं कि मैं उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब यह आपा मर जायेगा और मैं पूर्ण परमानन्द का अनुभव करूँगा।

प्रसिद्ध मराठी संत तुकाराम ने एक अभंग में ठीक इसी प्रकार कहा है कि :—

आपुलें मरण पाहिलें म्यां डोलां।
तो जाला सोहला अनुपम्य ॥
आनंदें दाटलीं तिन्हीं त्रिभुवनें।
सर्वात्मकपणें भोग झाला ॥ १९६ ॥

—तुकाराम वचनामृत, पृष्ठ ६३।

"मैंने अपना मरण अपने नेत्रों से देखा तो मुझे अनुपम आनन्द मिला। उस आनन्द से त्रिभुवन आपूरित हो उठा और मैंने सर्वात्मक रूप से भोग का अनुभव किया।"

कायर बहुत पमाँवहीं[1], बहकि[2] न बोलै सूर।
काँम परे ही जांनिए[3], किसके मुख पर नूर[4] ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—पमाँवही = डींग मारते हैं। बहकि = बमककर बोलना, बढ़-बढ़कर बात करना। नूर (फा०) = कान्ति।

व्याख्या—कायर बहुत डींग मारता है, किन्तु शूर व्यर्थ में बढ़-बढ़कर नहीं बोलता। अवसर पड़ने पर अर्थात् रणक्षेत्र में ही यह पता चलता है कि किसके मुख पर वीरता की कान्ति है ? अर्थात् जूझने के लिए कौन तैयार है ?

तुलनीय—

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रलापु ॥

—मानस (१।२७४)

अलंकार—लोकोक्ति।

जाइ पुछौ उस घायलैं[5], दिवस पीर निसि जागि[6]।
बाँहनहारा जांनिहै[7], कै जांनैं जिहि लागि[8] ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—वाँहनहारा = चलानेवाला।

---

१. वि०—पमावई। २. वि०—अधिक। ३. ना० प्र०—कौंम पड्यौं हीं जाँणिये, वि०—सार खलक कै जानिए। ४. किहि के मुँहड़ै नूर। ५. ना० प्र०—घाइलैं, यु०, वि०—घायशां। ६. ना० प्र०—पीड़ निस जाग। ७. ना० प्र०—बाँहणहारा जाँणिहै। ८. ना० प्र०—जाणै जिस लाग, यु०, वि०—जानै जिस।

व्याख्या—प्रभु के प्रेम में घायल व्यक्ति से पूछो कि उसे कितनी गहरी व्यथा है। वह दिन-भर उस पीड़ा से तड़पता रहता है और रात-भर जागता रहता है। इस पीड़ा के मर्म को या तो वह जानता है जिसने प्रेम-बाण चलाया है अथवा वह जानता है जिसे वह बाण लगा है अर्थात् इस मर्म को या तो प्रभु जानते हैं जिन्होंने अपने प्रेम से साधक को आकृष्ट किया है अथवा वह भक्त जानता है जो उस प्रेम से आकृष्ट हुआ है। प्रेम और उसकी व्यथा दोनों अनुभूति के विषय हैं। अतः अन्य के लिए वे अगम्य हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

घायल[1] घूँमै गहभरा[2], राखा[3] रहै न ओट।
जतन कियाँ जीवै[4] नहीं, लगी[5] मरम की चोट॥ १६॥

शब्दार्थ—गहभरा=(गहभर > गहवर > गह्वर) व्याकुल, उद्विग्न। ओट=शरण, आड़।

व्याख्या—प्रेम-बाण से आहत व्यक्ति उद्विग्न-सा घूमता रहता है। वह केवल प्रिय-मिलन से ही शान्ति पा सकता है। उसके लिए कोई दूसरा सहारा नहीं है। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि उसको मर्मभेदी चोट लग चुकी है अर्थात् उसके हृदय के अन्तस्तल में प्रभु-मिलन की व्यथा व्याप्त हो चुकी है।

ऊँचा बिरिख[6] अकासि फल, पंखी[7] मूए झूरि।
बहुत[8] सयाँने पचि मुए[9], फल निरमल[10] पै[11] दूरि॥ १७॥

शब्दार्थ—बिरिख—वृक्ष, (प्र०अ०) साधना का पथ। अकासि=आकाश (प्र० अ०) शून्य, ब्रह्मरंध्र। फल = (प्र० अ०) ब्रह्मानुभूति, रामरस (कबीर के शब्दों में)। पंखी = पक्षी, (प्र० अ०) जीव। झूरि = संतप्त। सँयाने = ज्ञानी, पंडित, शास्त्री। पचि मुए = थककर हार गये।

व्याख्या—सुषुम्ना एक ऊँचे वृक्ष के समान है। उसका फल माया से परे, भौतिकता से परे शून्य या ब्रह्मरंध्र में ही मिल सकता है अर्थात् पूर्ण अनुभूति ब्रह्मरंध्र में ही पहुँचने पर होती है। बेचारा साधक जीव उस फल को पाने के लिए संतप्त होकर निराश हो जाता है या हार मान जाता है। बड़े-बड़े चतुर शास्त्री लोग प्रयत्न और परिश्रम करके हार मानकर बैठ गये। ब्रह्मानुभूतिरूपी फल अत्यन्त सरस एवं निर्मल है, किन्तु पहुँच से बहुत दूर है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. गु०, वि०—घायल तौ घूमत फिरै। २. ना० प्र०—गहि भरया। ३. ना० प्र०—राख्या। ४. गु०—उबरै। ५. ना० प्र०—वर्णी। ६. ना० प्र०—बिरष, गु०, वि०—तरुवर गगन फल। ७. तिवारी, त्रि०—पंखी मूआ झूर, गु०—पक्षी मुआ बिसूर, गुप्त—पंथी। ८. गु०—अनेक सयाना पचि गया। ९. ना० प्र०—रहे, वि०—गए। १०. वि०—लागा पै दूर। ११. ना० प्र०—परि।

दूरि भया तो क्या[1] भया, सिर दे नियरा[2] होइ।
जब लग सिर सौंपै नहीं, चाख सकै नहिं कोइ[3] ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—नियरा = निकट।

व्याख्या—पूर्व साखी के नैरन्तर्य में कबीर कहते हैं कि ब्रह्मानुभूतिरूपी फल दूर है तो क्या हुआ? अहंरूपी सिर समर्पित करने से वह निकट हो सकता है। जब तक आपा रूपी सिर नहीं सौंपा जाता, तब तक उस फल का स्वाद किसी को नहीं मिल सकता।

टिप्पणी—(१) ना० प्र० की प्रति में 'नियरा' के स्थान पर 'नेड़ा' पाठ है। इसका भी अर्थ है—निकट।

(२) कुछ प्रतियों में 'चाख सकै नहिं कोइ' के स्थान पर 'कारिज सिधि न होइ' पाठ है। इसका अर्थ होगा—तब तक कृतार्थ नहीं हो सकता।

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै हाथ सौं[4], तब[5] पैसै घर माँहि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—खाला (अ०) = माता की बहन, मौसी।

व्याख्या—प्रभु के यहाँ केवल प्रेम से प्रवेश हो सकता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी मौसी के घर अधिकारपूर्ण ढंग से प्रवेश कर सकता है, वैसा यहाँ संभव नहीं है। जो अपने हाथ से अपना सिर काटकर नीचे रख देता है अर्थात् जो अपने अहंभाव को सर्वथा मिटा देता है, वही इस गृह में प्रवेश पाने का अधिकारी है।

अलंकार—व्यतिरेक।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस काटि[6] पग तर[7] धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥ २० ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अपना वास्तविक घर प्रभु-प्रेम का है और वहाँ तक पहुँचने का मार्ग अत्यन्त विकट एवं दुष्कर है। जो अपना शीश स्वयं काटकर अपने पैरों तले रौंद दे अर्थात् जो स्वयं अपने अहंभाव को सर्वथा मिटा दे, वही प्रेम के आस्वादन का अधिकारी है।

प्रेम न बारी ऊपजै[8], प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जेहि[9] रुचै, सीस देइ लै जाइ[10] ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—बारी = वाटिका, बाग। हाटि=बाजार में।

---

१. ना० प्र०–तौ का। २. ना० प्र०–नेड़ा। ३. ना० प्र०–कारिज सिधि न होइ, यु०–कारज सिद्ध न कोय। ४. ना० प्र०–करि। ५. ना० प्र०–सो। ६. ना० प्र०–उतारि। ७. ना० प्र०–तलि। ८. ना० प्र०–खेतौं नीपजै। ९. ना० प्र०–जिस। १०. ना० प्र०–सिर दे सो ले जाइ।

व्याख्या — प्रेम किसी वाटिका में उत्पन्न नहीं होता है जिसे इच्छानुसार लाया जा सके और न तो वह बाजार में ही बिकता है जिसे मूल्य देकर खरीदा जा सके। वह धनवान या वैभवशाली व्यक्ति के अधीन भी नहीं है। उसकी प्राप्ति का एक ही उपाय है—अहंभाव का सर्वथा त्याग। जो ऐसा कर सकता है—वह धनी हो या निर्धन, राजा हो या रंक, शासक हो या शासित, उसे प्राप्त कर सकता है।

सीस काटि पासंग किया[1], जीव सरभरि[2] लीन्ह।
जिहि[3] भावै सो आइ ले[4], प्रेम हाट[5] हँम कीन्ह ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—पासंग = (फा०-पसंघा) वह बोझ जिसे तराजू के पल्लों का बोझ बराबर करने के लिए हल्के पल्ले में रख देते हैं। सरभरि = सरबरि, बराबर। हाट कीन्ह=हाट करना (मुहा०), सौदा करना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने प्रेम का हाट लगाया है। उसे क्रय करने के लिए मूल्य के रूप में केवल प्राण देने से काम नहीं चलेगा। जब उसके साथ सिर काटकर अर्थात् अहंभाव को समाप्त कर पासंग के रूप में रखा जाएगा, तभी पलड़ा बराबर पड़ेगा। इस मूल्य पर जो चाहे उसे आकर ले जाए।

अलंकार—रूपक।

सूरै[6] सीस उतारिया, छांड़ी तन की आस।
आगैं तैं हरि मुलकिया[7], आवत देखा[8] दास ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—मुलकिया = पुलकित होकर हँसे।

व्याख्या—साधकरूपी शूर ने अपना शीश काटकर उतार दिया अर्थात् अहंभाव को पूर्णतया त्याग दिया और अपने तन की आस छोड़ दी अर्थात् अपने पूरे जीवन को समर्पित कर दिया। प्रभु ने ऐसी स्थिति में अपने भक्त को आते देखकर पुलकित होकर मधुर स्मित से उसका स्वागत किया।

भगति दुहेली राँम की, नहि कायर का काँम।
सीस उतारै हाथि सौं[9], (तब[10]) लेसी हरि का नाँम ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—दुहेली = दुःसाध्य, कठिन।

व्याख्या—राम की भक्ति अत्यन्त कठिन है। वह कायर के द्वारा संभव नहीं है। जो अपने पूर्ण जीवन की आहुति देने के लिए तैयार हो, अपने सीस को हाथ में लेकर समर्पित करने के लिए तैयार हो, अपने अहंभाव का पूर्ण रूप से हनन करने के लिए तैयार हो, वास्तव में वही हरि-भक्ति का अधिकारी है।

---

१. ना० प्र०–दिया। २. तिवारी–सेर भरि। ३. ना० प्र०–जाहि। ४. ना० प्र०–ल्यौ। ५. ना० प्र०–आट, तिवारी, गुप्त–आघु। ६. तिवारी, वि०–सूरा। ७. तिवारी, यु०–आगां तैं हरि हरषिया, वि०–आगे से गुरु हरषिया। ८. ना० प्र०–देख्या। ९. ना० प्र०–करि। १०. ना० प्र०–सो।

भगति दुहेली राँम की, जस[1] खाँड़े की धार।
जे डोलै तौ[2] कटि पड़ै, निहचल[3] उतरै पार ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—खाँड़े = तलवार। निहचल = स्थिर।

व्याख्या—प्रभु की भक्ति तलवार की धार पर चलने के समान अत्यन्त कठिन है। यदि थोड़ा भी संतुलन बिगड़ जाय तो चलनेवाला कट जाएगा। यदि वह स्थिर भाव से सन्तुलन बनाए रखता है अर्थात् अपने प्रेम में विचलित नहीं होता तो वह निःसंदेह पार जा सकता है अर्थात् साधना में सफल हो सकता है।

तुलनीय—

यह प्रेम को पंथ कराल महा,
तरवार की धार पै धावनो है।
—बोधा

अलंकार—उपमा, विरोधाभास।

भगति दुहेली राँम की, जैसी अगिनि की झाल।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिगहार ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—झाल=लपट, ज्वाला। डाकि पड़े = कूद पड़े। ऊबरे = उद्धार हो गया, बच गए। दाधे = दग्ध हो गए। कौतिगहार=तमाशबीन।

व्याख्या—प्रभु की भक्ति अग्नि की ज्वाला को पार करने के समान अत्यन्त दुष्कर है। इस अग्नि में एक वैचित्र्य है। यह सामान्य आग से भिन्न है। इसमें जो कूद पड़ता है, उसका उद्धार हो जाता है और जो दूर से तमाशा देखता है वह जल जाता है।

अग्नि को 'पावक' भी कहते हैं। पावक की व्युत्पत्ति है—पुनाति इति पावकः। जो शुद्ध कर दे वह पावक या अग्नि है। अग्नि सभी प्रकार के मल को जलाकर धातु को शुद्ध कर देती है। इसी प्रकार प्रभु-प्रेम वह अग्नि है जो साधक के अन्तर्निहित काम, क्रोध आदि विकारों को जलाकर उसे शुद्ध कर देता है। जो इस प्रेम की आग में कूदता है वह शुद्ध हो जाता है, पवित्र हो जाता है और इस प्रकार उसका उद्धार हो जाता है। जो इस प्रेम की आग में कूदने के लिए तैयार नहीं है, तटस्थ खड़ा रहता है, वह काम, क्रोधादि सांसारिक ज्वालाओं से दग्ध होकर विनष्ट हो जाता है।

अलंकार—असंगति, विरोधाभास।

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतन[4] चढ़ि असवार।
ग्याँन खड़ग[5] गहि[6] काल सिर, भली मचाई मार ॥ २७ ॥

---

१. ना० प्र०–जैसि। २. तिवारी–सो। ३. ना० प्र०—नहीं तौ। ४. ना० प्र०–चेतनि। ५. ना० प्र०—षड़ग। ६. गु०, वि०–ले काल सिर।

शब्दार्थ—चेतन = जीवात्मा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि साधनारूपी युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए चेतन (जीवात्मा) रूपी योद्धा, प्रेम के घोड़े पर सवार होकर ज्ञानरूपी तलवार के द्वारा जमकर युद्ध करता हुआ जन्म-मरणरूपी काल के सिर को काट देता है।

टिप्पणी—इस साखी में ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। भक्ति के बिना ज्ञान पंगु रहता है। साधक को मैदान में अग्रसर होने के लिए भक्तिरूपी घोड़ा चाहिए। तभी वह साधनारूपी युद्ध में विजय प्राप्त कर सकता है। ज्ञान से केवल परिचय प्राप्त होता है, किन्तु उससे क्रियाशीलता नहीं आती। प्रेम या भक्ति एक भाव (Emotion) है, उससे क्रियाशीलता आती है। तभी साधक समर्थ होता है। इसीलिए ज्ञान के साथ भक्ति की नितान्त आवश्यकता है।

अलंकार—सांगरूपक।

कबीर हीरा[1] बनजिया, महँगे मोल[2] अपार।
हाड़ गला[3] माटी गली[4], सिर सांटे ब्यौहार॥ २८॥

शब्दार्थ—हीरा=(प्र० अ०) भक्ति। बनजिया=वाणिज्य, व्यापार। सांटे (देशज)= बदले में। माटी = काया, शरीर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि भक्ति अमूल्य है। वह हीरे के व्यापार के समान है, जिसके लिए बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। यह मूल्य वह अक्षुण्ण साधना है जिसमें हाड़ गल जाते हैं, यह काया नष्ट हो जाती है और तब कहीं बदले में वह सुन्दर, प्रकाशमान और अमूल्य भक्तिरूपी हीरा मिलता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जेते[5] तारे रैनि[6] के, तेते[7] बैरी मुज्झ[8]।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौं तुज्झ[9]॥ २९॥

शब्दार्थ—रैनि = रजनी, रात्रि।

व्याख्या—आकाश में जितने तारे हैं, उतने ही मेरे वैरी हैं अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि मेरे असंख्य शत्रु हैं जो मेरे और प्रभु के बीच व्यवधान उपस्थित करते हैं। परन्तु मैं प्रभु को कभी विस्मृत नहीं कर सकता, भले ही मेरा धड़ सूली पर और सिर कँगूरे की नोक पर लटका दिया जाय।

---

१. ना० प्र०–हीरावण जिया। २. तिवारी–मोलि। ३. यु०, वि०–गली, गुप्त–गले। ४. तिवारी, यु०–मिली। ५. वि०–जेता तारा रैन का। ६. ना० प्र०–रैंणि। ७. वि०–येता। ८. ना० प्र०–मुझ। ९. ना० प्र०–तुझ।

जो हारौं[१] तौ हरि सवां, जो जीतौं[२] तो दांव[३] ।
पारब्रह्म[४] सौं[५] खेलतां, जे[६] सिर[७] जाइ त जाव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—सवाँ = समान ।

व्याख्या—यदि आध्यामिक रणक्षेत्र में मैं हार गया अथात् मेरी साधना इतने पूर्ण रूप से सफल न हुई कि प्रभु से मिलन हो जाय तो भी कम-से-कम मेरे भीतर से दुर्गुण तो चले ही जाएँगे और भागवत गुण आ जाएँगे । और यदि इस साधना के क्षेत्र में मैं सफल हो गया, प्रभु से मिलन हो गया, तब तो सारा दाँव अपने हाथ में है । इस प्रकार पारब्रह्म के साथ खेलते हुए अर्थात् साधना के मार्ग पर चलते हुए अपना सिर कटाने के लिए भी तैयार हूँ ।

सिर[८] सांटै हरि सेविए, छाड़ि जीव की बाँनि[९] ।
जे सिर दीया हरि मिलै, तऊ हांनि मन जाँनि[१०] ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—सांटै=वदले में । बाँनि = स्वभाव ।

व्याख्या—जीव, मरण नहीं चाहता । यह उसका स्वभाव है । किन्तु अपने इस स्वभाव के विपरीत यदि सिर देने के वदले प्रभु की सेवा करने का अवसर मिले तो भी इसका स्वागत करना चाहिए । यदि सिर देने से प्रभु मिलें तो भी इससे लाभ-ही-लाभ है, कोई हानि नहीं ।

टूटै[११] बरत अकास तैं[१२], कौन सकत है झेल[१३] ।
साधु सती अरु सूर का, आंनी ऊपर खेल[१४] ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—वरत = मोटी रस्सी जिस पर नट चलता है । झेल=झेलना, बचाना । आँनी = अनी, नोंक ।

व्याख्या—नट जिस रस्से पर आकाश में चलता है, यदि वह टूट जाय तो फिर नट ऐसे झटके से पृथ्वी पर गिरेगा कि कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकता । साधक, सती स्त्री और शूर का जीवन भी तलवार की धार पर चलने के समान है । यदि उनका थोड़ा भी सन्तुलन बिगड़ा तो वे विनाश को प्राप्त होंगे, फिर उनको कोई बचा नहीं सकता ।

अलंकार—निदर्शना ।

---

१. ना० प्र०–जे हारया, वि०—जो हारौं तो सेव गुरु । २. ना० प्र०–जीत्या । ३. ना० प्र०-डाव । ४. वि०—सतनाम सों खेलता । ५. ना० प्र०–कूँ सेवता । ६. तिवारी–जौ । ७. वि०–सिर जावै तो जाव । ८. तिवारी की प्रति में इसका पाठ इस प्रकार है :—

सिर दीन्हे जो पाइए, तौं देत न कीजै कांनि ।
सिर के सांटे हरि मिलै, तऊ हानि मत जांनि ॥

९. ना० प्र०–वाँणि । १०. ना० प्र०—तव लगि हाँणि न जाँणि । ११. ना० प्र०—टूटी । १२. ना० प्र०–थैं, यु०–सो । १३. ना० प्र०—कोई न सकै झड़ झेल । १४. ना० प्र०–अँणी ऊपिला खेल ।

सती पुकारै सलि चढ़ी[1], सुनु[2] रे मीत मसाँन।
लोग बटाऊ चलि[3] गए, हँम तुम[4] रहे निदाँन ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—सती = (प्र० अ०) साधक, जीवात्मा। सलि = सरा, चिता (प्र० अ०) साधना की कठिन यात्रा। मसाँन = श्मशान (प्र० अ०) साधनास्थल। बटाऊ=पथिक। निदाँन = अन्ततः।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती साधनारूपी चिता पर चढ़कर यह कहती है कि हे साधनास्थल ! हमारे पथिक साथी छोड़कर चले गये और अन्ततः तुम और हम रह गये।

साधना के पथ में कोई दूसरा सहायक नहीं हो सकता। केवल साधक को ही उस कठिन यात्रा को पार करना पड़ता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती बिचारी सत किया, काठौं[5] सेज बिछाइ।
ले सूती[6] पिउ[7] आपनाँ, चहुँ दिसि अगिनि[8] लगाइ ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—सत = सत्यव्रत। काठौं = काष्ठ पर, लकड़ी पर।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती ने अपने सतीत्व व्रत का पालन करने के लिए लकड़ी की चिता पर अपनी सेज बिछाई और परमात्मारूपी प्रिय को लेकर उस पर सो गयी और चारों ओर साधना की आग लगा दी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती सूरतन[9] साहि करि, तन मन कीया घाँन[10]।
दिया महोला पीव कौं[11], (तब) मरहट करै बखान[12] ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—सूरतन = शूरत्व। साहिकरि = साधकर। घांन = घानी। महोला = रस, सारतत्त्व। मरहट=मरघट, श्मशान। बखान=प्रशंसा, सराहना।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती ने शूरत्व साधकर अपने तन-मन की घानी बनायी और उसके रस को अपने प्रिय को अर्पित कर दिया। उसके इस शौर्य की सराहना मरघट (साधनास्थल तथा वहाँ के अन्य साधक) करता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती जरन कौं नीकसी[13], पिउ[14] का सुमिरि सनेह।
सबद सुनत जिय[15] नीकसा, भूलि गई सुधि[16] देह ॥ ३६ ॥

---

१ ना० प्र०—चढ़ि। २. ना० प्र०-सुनि। ३. यु०-सब। ४. ना० प्र०—तुझ। ५. यु०-काटों। ६. यु०-सूता पिय आपनां। ७. गुप्त—पीव आपणाँ। ८ गुप्त—अग्नि। ९. ना० प्र०—सूरातन, यु०—शू`तन ताइया। १०. ना० प्र०—घाँण। ११. ना० प्र०—कूँ, यु०—को। १२. ना० प्र०—मड़हट करै वषाँण। १३. ना० प्र०—जलन कूँ नीकली। १४. ना० प्र०—पीव। १५. ना० प्र०—जीव निकल्या। १६. ना० प्र०—सब, यु०—वा।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती अपने प्रियतम का स्नेह स्मरण कर सती होने के लिए चली। उस समय उसके प्रोत्साहन के लिए जो वाद्य (अनाहत नाद) बजने लगे, उनको सुनकर जीवात्मारूपी सती ने अपना प्राण त्याग दिया। उसे अपने शरीर की सुधि भी भूल गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती जरन कौं नीकसी[1], चित धरि एक उमेख[2]।
तन मन सौंपा[3] पीव कौं[4], (तब) अंतर[5] रही न रेख ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—उमेख = लालसा, उमंग। रेख=भेद, अन्तर।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती चित्त में एक अनुपम लालसा लेकर जलने के लिए निकली। उसने अपना तन-मन अपने प्रियतम को सौंप दिया, तब दोनों के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं रह गयी अर्थात् दोनों एक हो गये।

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यौं न जराइ[6]।
मूए[7] पीछे सत करै, जीवत क्यों[8] न कराइ ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—मूए=मरने पर।

व्याख्या—हे सखी! मैं तुझसे पूछती हूँ कि तू इस जीवन में ही क्यों नहीं जल जाती अर्थात् अहंभाव नष्ट कर देती। तू प्रिय के मरने के बाद सतीत्व करती है, जीते जी क्यों नहीं करती अर्थात् सच्चा सतीत्व वह है जिसमें शरीर के रहते हुए आपा सर्वथा विनष्ट हो जाय।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर परगट[9] राम कहि, छाँनै राँम न गाइ।
फूस कजौड़ा दूरि करि, ज्यूँ बहुरि न लागै लाइ ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—छाँनै=प्रच्छन्न रूप से, एकान्त में। फूस = तिनका। कजौड़ा=समूह। लाइ=आग।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू राम का प्रकट रूप में भजन कर। प्रच्छन्न रूप से उनका गुणगान करने से कोई लाभ नहीं। तू अहंकार, मोह आदि कूड़े के समूह को हटा दे जिससे पुनः विषय-वासना की अग्नि न लगे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. ना० प्र०—जलन कूँ नीकली। २. तिवारी—एक विवेक। ३. ना० प्र०—सौंप्या। ४. ना० प्र०—कूँ, गु०—को। ५. तिवारी—अंतरि। ६. ना० प्र०—क्यूँ न मराइ। ७. ना० प्र—मूवाँ। ८. ना० प्र०—क्यूँ। ९. ना० प्र०—प्रगट।

कबीर हरि सब कौं[1] भजै, हरि कौं[2] भजै न कोइ।
जब लगि[3] आस सरीर की, तब लगि दास न होइ ॥ ४० ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु सबका ध्यान रखते हैं, किन्तु प्रभु का स्मरण कोई नहीं करता। जब तक शरीर से तादात्म्य बना रहता है, तब तक कोई सच्चा भक्त नहीं हो सकता।

आप सुवारथ मेदनीं[4], भगत सुवारथ दास।
कबीर राँम सुवारथी, (जिनि) छाड़ी तन की आस ॥ ४१ ॥
—६९३ ॥

शब्दार्थ—सुवारथ = स्वार्थी। मेदनी = संसार।

व्याख्या—सारा संसार अपने-अपने स्वार्थ को देखता है। भक्त का स्वार्थ, भक्ति है। कबीर कहते हैं कि जिसने राम को अपना स्वार्थ बनाया है, वह शरीर से तादात्म्य भाव बिल्कुल छोड़ देता है।

१. ना० प्र०—कूँ ; २. ना० प्र०—कूँ। ३. ना० प्र०—लग। ४. तिवारी—सुवारथि मेदिनीं।

(४६) काल को अंग

झूठे[१] सुख कौं सुख कहैं[२], मानत हैं मन मोद।
खलक चबैना[३] काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद[४] ॥ १ ॥

शब्दार्थ— खलक=संसार।

व्याख्या—लोग अपने अज्ञानवश झूठे सुख को सच्चा सुख मान लेते हैं और मन में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। उनका इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि संसार में जो कुछ है, वह क्षणभंगुर है। यह संसार काल का चबेना है। इसके कुछ प्राणी काल का ग्रास बन चुके हैं और कुछ उसकी पकड़ में जकड़े हुए ग्रास बनने की प्रतीक्षा में हैं।

आजि[५] कि काल्हि कि निसहि मैं, मारगि माल्हंतांह।
काल सचांनां[६] नर चिड़ा, औझड़ औचिंताह[७] ॥ २ ॥

शब्दार्थ निसहि=रात्रि में ही। मारगि=मार्ग में। माल्हंतांह=झपट पड़ता है, मार डालता है। सचांनां=बाज। चिड़ा=पक्षी। औचिंताह=बेखबर।

व्याख्या—इस साखी का अन्वय इस प्रकार होगा—'आजि कि काल्हि कि निसहि मैं औझड़ औचिंताह नर चिड़ा काल सचांनां मारगि माल्हंतांह।'

तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवन अत्यन्त क्षणिक है। आज या कल या रात्रि में ही निरन्तर असावधान प्राणियों को चलते-फिरते काल उसी प्रकार झपटकर नष्ट कर देता है, जैसे बेखबर उड़ते हुए पक्षी पर बाज झपटकर उसे नष्ट कर देता है।

टिप्पणी—इस साखी में 'औचिन्ताह' कृदन्त है और 'माल्हंताह' क्रियापद है।

अलंकार—रूपक।

काल सिहांनै[८] यौं खड़ा, जाग पियारे मीत[९]।
रांम[१०] सनेही बाहिरा, (तूं) क्यों[११] सोवै निहचिंत[१२] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सिहांनै=सिरहाने। बाहिरा=बिना, पराङ्मुख। निहचिंत=निश्चिंत।

व्याख्या—हे प्रिय मित्र! काल तेरे सिरहाने खड़ा है। तू जग जा अर्थात् अज्ञान की निद्रा को त्याग दे। प्रभु के प्रेम से पराङ्मुख होकर तू इस प्रकार निश्चिंत कैसे सो रहा है?

---

१. यु०, त्रि—झूठा। २. यु०—कही। ३. ना० प्र०—चबीणाँ। ४. यु०, वि०—कछु मूठी कछु गोद। ५ ना० प्र०—आजक काल्हिक निस हमैं, मारग माल्हंतौं, यु०, वि०—आज काल पल छिनक में, मारग मेश हित्त। ६. ना० प्र०—सिचाँणाँ, यु०, वि०—चिचाना। ७. ना० प्र०—औच्यँतौं, यु०, वि०—औ अवचित्त। ८. ना० प्र०—सिहाँणै, यु०, वि०—चिचाना है। ९. ना० प्र०—जागि पियारो म्यंत। १०. यु०, वि०—नाम। ११. ना० प्र०—क्यूँ। १२. ना० प्र०—नच्यंत।

सब जग सूता नींद भरि, संत[1] न आवै नींद।
काल खड़ा सिर[2] ऊपरै, ज्यों तोरन[3] आया बींद ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—तोरन = तोरण, स्वागत-द्वार। बींद (राज०) = वर, दूल्हा।

व्याख्या—सारा संसार अज्ञान की निद्रा में सो रहा है। किन्तु सन्त जीवन की क्षणभगुंरता की चिंता तथा अल्पकालिक जीवन में प्रभु की साधना द्वारा उससे मिलन की व्यग्रता के कारण सुख की नींद नहीं सो पाता। काल सिर के ऊपर उसी प्रकार खड़ा है जैसे स्वागत-द्वार के सामने दूल्हा आकर खड़ा हो जाता है।

टिप्पणी—राजस्थान में विवाह के अवसर पर यह प्रथा रही है कि वर गृह-द्वार पर लगाए गए तोरण को खड्ग से स्पर्श कर अथवा काटकर अन्दर प्रवेश करता है।

अलंकार—उपमा।

आज कहै हरि काल्हि[4] भजौंगाँ, काल्हि[5] कहै फिरि काल्हि।
आजुहि काल्हि करंत रे[6], औसर जासी चालि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—जासी=जाएगा।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू आज कहता है कि ईश्वर का भजन कल से प्रारम्भ करूँगा और कल आने पर तू फिर अगले दिन के लिए टाल देता है। इस प्रकार आजकल करते हुए सारा अवसर ही समाप्त हो जाएगा।

कबीर[7] पल की सुधि नहीं, करै काल्हि[8] का साज।
काल अंचिता झड़पसी[9], ज्यौं तीतर कौं[10] बाज ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—साज=तैयारी। अंचिता=बेखबर, अचानक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! एक पल का भी भरोसा नहीं है। पता नहीं किस क्षण क्या हो जाएगा और तू कल की तैयारी करता है अर्थात् भविष्य की योजनाएँ बनाता है। तुझ असावधान के ऊपर काल वैसे ही झपट्टा मारेगा, जैसे अचानक बाज पक्षी तीतर पर झपट्टा मारता है।

अलंकार—उपमा।

कबीर टुक टुक[11] चोघताँ, पल-पल गई बिहाइ।
जिउ[12] जँजाल न छाँड़ई, जम[13] दिया दमामाँ आइ ॥ ७ ॥

---

१. अन्य-मोहि २. यु०, वि०—है वारनै। ३. ना० प्र०—ज्यूँ तोरणि।
४. यु०—काल भजु। ५. यु०—कालि। ६ ना० प्र०—आज ही काल्हि करंतड़ाँ, यु०—आज काल्हि करता रहे। ७. यु०—पाव पलक। ८. यु०—काल। ९. यु०-अचानक मारिहै। १०. यु०—को। ११. ना० प्र०—टग-टग, यु०, वि०—टुग-टुग। १२. ना० प्र०—जीव, यु०, वि०—जीव जंजालो परि रह्या। १३. यु०, वि०—में 'जम' नहीं है।

शब्दार्थ—टुक-टुक = टुकड़े-टुकड़े। चोघतां = चुगते हुए। बिहाइ = बीत गया। जंजाल=प्रपंच, सांसारिक बंधन। दमामां=नगाड़ा।

व्याख्या—जिस प्रकार पक्षी एक-एक दाने को चुगते हुए समय व्यतीत कर देता है, उसी प्रकार जीव नाना प्रकार की योजनाओं का संपादन करते हुए बहुमूल्य जीवन का एक-एक क्षण नष्ट कर देता है। और जब यमराज कूच का डंका बजा देता है अर्थात् मृत्यु निकट आ जाती है, तब भी अज्ञानी जीव सांसारिक बंधनों से मुक्त नहीं हो पाता।

मैं अकेल[1] ए[2] दोइ जनां[3], छेती नाँही काँइ[4]।
जे[5] जम आगे ऊबरौं, तो[6] जुरा पहूँचै[7] आइ॥ ८॥

शब्दार्थ—छेती = अन्तर। जुरा = जरा, वृद्धावस्था।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीव अकेला है और उस पर आक्रमण करनेवाले दो शत्रु हैं—जरा और मरण। वस्तुतः इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यदि मरण से कुछ समय के लिए बच भी गए तो वृद्धावस्था अवश्य ही आ धमकती है। जीवन की क्षणभंगुरता से बचने का कोई उपाय नहीं हैं।

टिप्पणी—यु० प्रति में पहले चरण का अंतिम अंश इस प्रकार है—'सेरी नाहीं कोय'। 'सेरी' का अर्थ है—मार्ग। इसी अर्थ में कबीर ने अन्यत्र भी इस शब्द का प्रयोग किया है—'जा सेरी साधू गया, सो तो राखी मूँदि।'

दूसरे पाठ का भाव होगा कि जीव अकेला है, उसके शत्रु दो हैं—जरा और मरण। इनसे बचने का कोई मार्ग या उपाय नहीं है।

बारी बारी आपनीं[8], चले पियारे मित[9]।
तेरी बारी जीयरा[10], नेरी[11] आवै नित[12]॥ ९॥

शब्दार्थ—बारी बारी = समय से। नेरी = निकट।

व्याख्या—अपने-अपने समय से सभी प्रिय चल बसे। हे अबोध जीव! तेरे प्रस्थान का भी समय नित्य निकट आता जा रहा है।

दौं [13] की दाधी लाकड़ी[14], ठाढ़ी करै पुकार।
मति बसि परौं[15] लुहार कै, जारै[16] दूजी बार॥ १०॥

शब्दार्थ—दौ = (१) दावाग्नि, (२) भव-ताप। लुहार=(प्र० अ०) काल-चक्र।

---

१. ना० प्र०—अकेला। २. यु०, वि०—वह दो जनां। ३. ना० प्र०—जणां। ४. यु०, वि०-सेरी नाहीं कोय। ५. यु०, वि०-जो। ६. यु०, वि०—तो जरा वैरी होइ। ७. ना० प्र०—पहूँती। ८. ना० प्र०—आपणीं। ९ ना० प्रा०—म्यंत, तिवारी-मीत। १०. ना० प्र०-रे जिया, गुप्त-रे जीया। ११. ना० प्र०-नेड़ी, यु०-नियरैं। १२. तिवारी-नीत। १३. तिवारी, यु०-धौं। १४. तिवारी—लाकरी। १५. ना० प्र०-पड़ौं। १६. ना० प्र०—जालै।

व्याख्या—दावानल से दग्ध लकड़ी आर्त्त-स्वर में पुकार कर कह रही है कि मेरी एक दुर्गति हो चुकी है। मैं जलकर लकड़ी से कोयला बन चुकी हूँ। हे प्रभु ! अब दूसरी दुर्गति यह मत करना कि लोहार के हाथ पड़ जाऊँ और कोयले के रूप में पुनः जलना पड़े।

व्यंजना यह है कि जीव भवताप से दग्ध होकर मरण को प्राप्त होता है। उसकी यह एक दुर्गति है ही। कहीं ऐसा न हो कि कालचक्र में फँसकर उसे पुनः जन्म लेना पड़े और भव-ताप में कष्ट उठाना पड़े।

अलंकार—अन्योक्ति।

जो ऊगै[1] सो आँथवै, फूलै सो कुम्हिलाय[2]।
जो चुनिया[3] सो ढहि पड़ै, जन्मे सो मरि जाय[4] ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—ऊगै=उदय होता है। आँथवै=अस्त होता है। चुनिया=चुना जाता है।

व्याख्या—संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। जिसका आविर्भाव हुआ है, उसका तिरोभाव भी होगा। जिसका उदय होता है, उसका अस्त भी अवश्य होता है; जो फूलता है, वह मुरझाता भी है; जो भवन बनते हैं, वे काल पाकर ढह भी जाते हैं और जिसका जन्म होता है, उसका मरण भी अवश्यंभावी है।

जो[5] पहिरा[6] सो फाटिसी, नाम[7] धरा सो जाइ।
कबीर[8] सोई तत्त गहि, जौ[9] गुर दिया बताइ ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो वस्त्र पहना जाता है, वह एक-न-एक दिन अवश्य फट जाएगा। नाम, रूप आदि सभी जगत् के पदार्थ अनित्य हैं। अतः सतगुरु ने जिस नित्य तत्त्व का उपदेश दिया है, उसी को ग्रहण करो। प्रकृति के सभी तत्त्व क्षर हैं, भीतर जो अक्षर पुरुष है, वही हमारा श्रेय होना चाहिए।

निधड़क बैठा रांम बिन, चेति[10] न करै पुकार।
यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—निधड़क = निश्चिन्त। बार = विलम्ब, समय।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव ! तू चेत कर राम का स्मरण नहीं

---

१. ना० प्र०–ऊग्या। २. ना० प्र०-फूल्या सो कुमिलाइ। ३. ना० प्र०–चिणियाँ, गु०—चुनिए। ४. ना० प्र०—जो आया सो जाइ। ५. तिवारी–जो दीसैं सो बिनसिहै, गु०–जो पहिरा सो फाटिया। ६ ना० प्र०–पहर्‌या। ७. ना० प्र०—नाँव धर्‌या, गु०–जो खाया सो जाय। ८. गु०–कबीर रामानंद का, दीया ही रहि जाय। ९. तिवारी–सतगुर। १०. ना० प्र०, गुप्त–चेतनि, गु०–चेत न करी।

करता। उसके बिना निश्चिन्त होकर कैसे बैठा हुआ है ? जिस शरीर का तुझे गर्व है, वह जल के बुलबुले के समान है जिसके नष्ट होने में देर नहीं लगती।

अलंकार—रूपक।

पानी[1] केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति[2]।
देखत ही छिपि जाइंगे[3], ज्यों तारे[4] परभाति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—जाति = जन्म, वर्ग। परभाति = प्रभात, प्रातःकाल।

व्याख्या—प्राणिमात्र जिसने जन्म लिया है, वह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है। जैसे प्रातःकाल देखते-देखते नक्षत्र अस्त हो जाते हैं, वैसे ही मनुष्य आदि प्राणी भी अल्पकाल में विनाश को प्राप्त होते हैं।

अलंकार—उपमा।

कबीर यहु जग कुछ नहीं[5], खिन खारा खिन मीठ[6]।
काल्हि जु बैठा माड़िया[7], आज मसांनां[8] दीठ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—खारा=(ला० अ०) दुःख। मीठ=(ला० अ०) सुख। माड़िया = मंडप, उत्सव। मसांनां = श्मशान।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह जीवन निस्सार है। इसमें यदि किसी क्षण सुख है तो दूसरे क्षण दुःख है। जो कल मंडप में बैठा हुआ उत्सव मना रहा था, वह आज श्मशान में पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है। सारा जीवन क्षणभंगुर है।

कबीर मन्दिर आपनैं[9], नित उठि करती[10] आलि।
मड़हट देखें[11] डरपती, चौड़े दीया[12] जालि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—आलि = श्रृंगार, 'आलि' शब्द 'आल' से बना है, आल एक पौधा होता है, जिससे रंग बनता है। इसी से लाक्षणिक अर्थ 'श्रृंगार' आया है। (दे०-बृहत् हिन्दी कोश, (पृ० १५५) मड़हट = मरघट, श्मशान। जालि = जला दी गई।

व्याख्या—इस साखी में जीव को एक सुन्दरी स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने महल में प्रतिदिन नाना प्रकार के श्रृंगार से अपने को सजाती है और श्मशान देखकर काँप उठती है। उसका तथाकथित सुन्दर शरीर एक दिन खुले चौड़े मैदान में जला दिया जाता है। इसी प्रकार यह जीवन क्षणभंगुर है।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—पाँणी। २. ना० प्र०—इसी हमारी जाति। ३. ना० प्र०—एक दिनाँ छिप जाँहिगे। ४. ना० प्र०—तारे ज्यूँ, यु०—ज्यूँ तारा। ५. यु०, वि०—जीवन कुछ नहीं। ६. ना० प्र०—षिन षारा षिन मीठ। ७. तिवारी—अलहजा मैड़िया, यु०—अलहजा मारिया। ८. ना० प्र०—मसाणाँ, गुप्त—मसाणाँ। ९. ना० प्र०—आपणैं। १०. यु०, वि०—करता। ११. ना० प्र०—देष्याँ, यु०, वि०—देखी डरपता। १२. ना० प्र०—दीन्ही, गुप्त—सो चौड़े दीन्हा जालि।

मन्दिर माँही झलकती[1], दीवा[2] की सी[3] जोति।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ौ[4] घर को छोति॥ १७॥

शब्दार्थ—दीवा=दीपक। बटाऊ=पथिक (ला० अ०) अतिथि। हंस=(प्र० अ०) जीवात्मा, प्राण। छोति=अपवित्र वस्तु।

व्याख्या—इस साखी में भी जीव के लिए नारी का रूपक लिया गया है। जो सुन्दरी नारी दीपक की ज्योति के समान महल में सौंदर्य की प्रभा बिखेरती थी, प्राण रूपी अतिथि के चले जाने पर वही इतनी अपवित्र और घृणित समझी जाने लगी कि लोग कहते हैं कि इस छूत को शीघ्र से शीघ्र घर से निकालकर श्मशान ले जाओ।

ना० प्र० की प्रति में 'झलकती' के स्थान पर 'झवूकती' पाठ है। इसका अर्थ है—चमकती।

अलंकार—'हंस बटाऊ' में रूपक।

कबीर ऊँचा धौलहर[5], माँटी चित्री पौलि।
एक राम के नाँव[6] बिन, जँम पाड़ैगा रौलि॥ १८॥

शब्दार्थ—धौलहर=धवलगृह, प्रासाद। पौलि=(सं०) प्रतोली, मुख्यद्वार। रौलि=तमाचा मारना (ला० अ०) प्रहार करना।

व्याख्या—तेरा यह हृष्ट-पुष्ट शरीर रूपी धवलगृह जिसकी ड्योढ़ी रंगे-बिरंगे मिट्टी के चित्रों से सुसज्जित की गई है अर्थात् जिसका नाना प्रकार से शृंगार किया गया है, एक दिन यमराज के प्रहार का शिकार बन जाएगा। इसलिए इस शरीर से अनुराग व्यर्थ है। हे जीव! तू अपना सारा अनुराग राम-नाम के प्रति रख। इसी से तेरा कल्याण होगा। क्षणभंगुर शरीर को सुसज्जित करना निरर्थक है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, विनोक्ति।

कबीर[7] कहा गरबियो, काल गहे कर केस।
नाँ जानैं कहूँ[8] मारिसी, कै घर कै परदेस॥ १९॥

शब्दार्थ—गरबियो=गर्व करता है। मारिसी=मारेगा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू अपने शरीर और शक्ति पर व्यर्थ गर्व करता है। तुझे पता नहीं कि काल तेरे केश पकड़े हुए हैं अर्थात् तू उसके हाथ में है। वह न जाने कहाँ तुझे धर पटकेगा—घर में या परदेश में अर्थात् तेरी मृत्यु किसी क्षण, किसी स्थान पर हो सकती है।

---

१. ना० प्र०—माँहि झवूकती, गु०—माँही झमकती। २. गु०—दीपक की सी। ३. ना० प्र०—कैसी। ४. तिवारी—अब काढ़ौ। ५. ना० प्र०—ऊँचा मंदर धौलहर। ६. गुप्त—नाउँ। ७. यह साखी 'चितावणीं को अंग' (१२ १२) में भी है। ८. ना० प्र०—जाणैं कहाँ, गुप्त—जांणूं कहाँ।

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए[1] सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चला बजावनहार[2] ॥ २० ॥

शब्दार्थ—जंत्र = वाद्य, (प्र० अ०) शरीर। तार = नाड़ी-मंडल जिसके द्वारा ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ प्रवृत्त या क्रियाशील होती हैं। बजावनहार = बजानेवाला, (प्र० अ०) प्राण।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी वाद्य अब नहीं बज सकता अर्थात् यह क्रियाहीन हो गया है, क्योंकि इसके सब तार टूट गए हैं अर्थात् इसका नाड़ी-मंडल बेकार हो गया है। इसमें शरीर रूपी वाद्य का दोष नहीं है, क्योंकि इसको क्रियाशील करनेवाला प्राणतत्त्व रूपी वादक इसे छोड़कर अन्यत्र चला गया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

धवणि धवंती[3] रहि गई, बुझि[4] गए अंगार।
अहरनि[5] रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चला[6] लुहार ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—धवणि=धौंकनी, (प्र० अ०) श्वास-प्रश्वास। धवंती=धौंकती हुई, चलती हुई। अहरनि=निहाई (प्र० अ०), शरीर। ठमूकड़ा=स्थिर, क्रियाशून्य। लुहार=(प्र० अ०) प्राण, जीवात्मा। अंगार=(प्र० अ०) जीवनतत्त्व।

व्याख्या—यह साखी भी जीवन की क्षणभंगुरता का संकेत करती है। यहाँ शरीर के सभी उपमान लोहार की भट्ठी से लिये गये हैं। जब तक लोहार बैठा काम करता रहता है, तब तक उसकी धौंकनीं चालू रहती है, अंगारे जाज्वल्यमान रहते हैं और उसकी निहाई पर लोहे का घन चलता रहता है। परन्तु जब वह कार्य बंद करके चलता है, तब धौंकनी का कार्य बंद हो जाता है, अंगारे ठंढे पड़ जाते हैं और उसकी निहाई क्रिया-शून्य पड़ी रहती है।

इसी प्रकार लोहार रूपी जीवात्मा के शरीर में रहते हुए श्वास-प्रश्वास रूपी धौंकनी चलती रहती है, उसके भीतर जीवनतत्त्व रूपी अंगारे की ऊष्णता बनी रहती है और शरीर रूपी निहाई क्रियाशील रहती है। लेकिन जब जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर प्रयाण करता है, तब श्वास रूपी धौंकनी हवा देते-देते बंद हो जाती है, जीवनतत्त्व की गर्मी समाप्त हो जाती है और यह शरीर क्रियाशून्य होकर बेकार हो जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

पंथी ऊभा पंथ सिरि[7], बगुचा बाँधा[8] पूठि।
मरना[9] मुँह आगै खड़ा, जीवन[10] का सब झूठ ॥ २२ ॥

---

१. गु०—गया। २. ना० प्र०—चले बजावणहार। ३. गु०—धूनि धवती, वि०—धंमन धमती। ४. गु०—तव बुझिया, वि०—बूझि गया। ५. गु०, वि०—अहरनि का ठमगा रहा, ना० प्र०—अहरणि रह्या। ६. ना० प्र०—चले। ७. गु०, वि०—सिर। ८. ना० प्र०—बुगचा बाँध्या, तिवारी—बगुचा बंधा। ९. ना० प्र०—मरणाँ। १०. ना० प्र०—जीवण।

शब्दार्थ—पंथी=यात्री (प्र० अ०) जीवात्मा। ऊभा = खड़ा हुआ, प्रस्तुत हुआ। बगुचा=गठरी (प्र० अ०) कार्यों का लेखा। पूठि=पीठ। मरना = मृत्यु।

व्याख्या—जीवात्मा रूपी पथिक कर्मों की गठरी अपनी पीठ पर बाँधे हुए जीवन-यात्रा के लिए प्रस्तुत खड़ा है। किन्तु वह देखता है कि काल उसके सामने खड़ा है। इसलिए उसे सारा जीवन ही निस्सार और निरर्थक प्रतीत होता है।

> **यहु जिव आया दूर तैं[1], अजौं भि जासी दूरि[2]।**
> **बिच कै बासै रमि[3] रहा, काल रहा सिर[4] पूरि॥ २३॥**

शब्दार्थ—बासै = ठहराव, मंजिल।

व्याख्या—यह जीव बहुत दूर से आया है अर्थात् अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ इस अवस्था को प्राप्त हुआ है। उसे अभी लम्बी यात्रा करनी शेष है, किन्तु वह बीच में ही इस क्षणिक जीवन की मंजिल में अटक गया है। वह सांसारिक विषयों में लिप्त होकर अपने स्वरूप को भूल गया है। उसे यह सुधि नहीं है कि काल उसके सिर पर मंडरा रहा है और इसलिए क्षणिक वासनाओं में लिप्त न होकर अपनी वास्तविक नियति अर्थात् जन्म-मरण से मुक्ति के लिए साधना करनी चाहिए।

> **राँम कहा तिन[5] कहि लिया, जरा[6] पहूँची आइ।**
> **लागी मन्दिर द्वार तैं[7], अब क्या काढ़ा जाइ॥[8] २४॥**

शब्दार्थ—जरा=वृद्धावस्था।

व्याख्या—जब तक शरीर में बल रहता है, तब तक मनुष्य राम-नाम का जप कर ले तो कर ले, अन्यथा वृद्धावस्था आने पर साधना करना संभव नहीं है। जब मन्दिर के द्वार तक आग पहुँच गयी, तब भीतर रखी वस्तुओं को कैसे निकाला जा सकता है?

भाव यह है कि जब मृत्यु निकट आ गयी, कण्ठ अवरुद्ध हो गया, तब राम का नाम कैसे लिया जा सकता है?

अलंकार—दृष्टांत।

> **बरिया बीती बल गया[9], केस पलटि भए और[10]।**
> **बिगड़ी[11] बात न बाहुड़े, कर[12] छूटे नाँहि ठौर॥ २५॥**

शब्दार्थ—बरिया = वेला, समय। बाहुड़ै = बहुरना, लौटना।

---

१. ना० प्र०–थैं। २. यु०, वि०–जाना है बहु दूरि। ३. यु०, वि०–वसि गया। ४. ना० प्र०–रह्या सर। ५. ना० प्र०–कह्या तिनि, यु०, वि०–कहा जिन। ६. ना० प्र०–जुरा पहूँती। ७. ना० प्र०–मंदिर लागै द्वार थैं, यु०, वि०—मंदिर लागी द्वार सों। ८. ना० प्र०—तव कुछ काढ़्णाँ न जाइ, यु०—अब कछु कही न जाइ। ९. हनु०—वरिया वीते वल घटे, यु०, वि०–बिरिया बीती बल घटा। १०. ना० प्र०–वरन पलट्या और। ११. हनु०—विगरा काज सँभालि ले। १२ ना० प्र०–कर छिटकाँ कत ठौर, वि०—करि छूटन की ठौर, यु०—करि छूटन नहिं ठौर।

व्याख्या—साधना का सयय बीत गया। शरीर में बल घट गया। केशों का रंग बदलकर कुछ और हो गया अर्थात् श्वेत हो गया। वृद्धावस्था पूरे तौर से आ गयी। बात बिगड़ जाने पर फिर नहीं ठीक हो पाती। समय बीत जाने पर कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। यदि कोई चीज़ हाथ से निकल गयी तो फिर उसका कहाँ ठिकाना लग सकता है?

पूरी साखी का भाव यह है कि जब तक शरीर में बल रहता है, तभी तक साधना हो सकती है। समय बीत जाने पर कुछ नहीं हो सकता है।

> बरिया बीती बल गया[1], औरौ[2] बुरा कमाय।
> हरि जिन छाँड़ै हाथ तैं[3], दिन नियरा[4] ही आय॥ २६॥

व्याख्या—साधना का अवसर चला गया। शरीर की शक्ति क्षीण हो गयी। तूने कुकर्मों के द्वारा और पाप कमाया। तेरे निधन का दिन निकट आ गया। अब भी चेत जा। प्रभु को हाथ से मत छोड़। भगवान का आश्रय ले।

> कबीर[5] हरि सों[6] हेत करि, कूड़ै[7] चित्त न लाय[8]।
> बाँध्यो[9] बारि खटीक कै, ता पसु केतिक आय॥ २७॥

शब्दार्थ हेत = प्रेम। कूड़ै = व्यर्थ। बारि=द्वार। खटीक=कसाई, बधिक। आय= आयु, उम्र।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू प्रभु से प्रेम कर। व्यर्थ की वासनाओं को चित्त में न आने दे। सांसारिक विषयों से विरक्त होकर प्रभु से अनुराग कर। जिस प्रकार बधिक के द्वार पर बँधे हुए पशु की आयु का कोई ठिकाना नहीं होता। वह कब काट दिया जायगा, यह निश्चित नहीं है। उसी प्रकार हे जीव! तू यम के द्वार पर बँधा हुआ है। तेरा अन्त समय कब आ जाय, पता नहीं? इसलिए इस जीवन में प्रभु का स्मरण कर।

अलंकार—दृष्टान्त।

> बिष[10] के बन मैं घर किया, सरप[11] रहे[12] लपटाइ।
> तातैं[13] जियरै डर गह्या, जागत रैनि[14] बिहाइ॥ २८॥

शब्दार्थ—बिहाइ = बीतती है।

व्याख्या—मैंने विष के वन में अपना निवास स्थान बनाया है। उस वन के वृक्षों

---

१. हनु०, यु०, वि०–विरिया वीती वल घटा। २. ना० प्र०—अरु। ३. अन्य–हरिजन छौड़ा हाथ ते। ४. ना० प्र०–नेड़ा, यु०, वि० —नीरा ही। ५. हनु०, यु०–कविरा। ६. ना० प्र०–सूँ। ७. हनु०, वि०–कोरे। ८. ना० प्र०–लाव। ९. ना० प्र०—बाँध्या बार षटीक कै, तापसु किती एक आव। १०. तिवारी–बिख। ११. गुप्त–श्रप। १२. हनु०, यु०–रहा। १३. ना० प्र०–तायँ, हनु०–ताके डर जिव गहि रहा। १४. ना० प्र०–रैंणि।

में चारों ओर सर्प लिपटे हुए हैं। इससे हृदय भयभीत रहता है और रात्रि में नींद नहीं आती। सारी रात जागते हुए बितानी पड़ती है।

इस साखी में वन के रूपक द्वारा कबीर ने यह भाव व्यक्त किया है कि यह संसार विषैले वन के समान है, जिसमें विषय के सर्प विद्यमान हैं। इसलिए जीव निश्चिन्त होकर इस वन में जीवन नहीं व्यतीत कर पाता।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

> कबिरा[1] सब सुख राम हैं, औरहि[2] दुख की रासि।
> सुर नर मुनिजन[3] असुर सब[4], पड़े[5] काल की पासि[6] ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—पासि = पाश, बंधन।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! राम ही परमानन्द हैं। तूने संसार में जिसे सुख या आनन्द समझ रखा है, वे सब दुःखों की राशि है। जन्म-मरण का चक्र ऐसा है जिससे किसी को छुटकारा नहीं मिलता। काल के पाश में देवता, मनुष्य, मुनि और राक्षस सभी बँधे हुए हैं। इसलिए यदि तू यह चाहता है कि अब जन्म-मरण के चक्र में न पड़े अर्थात् सदा के लिए उनसे मुक्त हो जाय, तो राम की भक्ति कर।

> काची काया मन अथिर, थिर थिर करम[7] करंत।
> ज्यों-ज्यों[8] नर निधड़क फिरै, त्यों-त्यों[9] काल हसंत ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—काची = कच्ची, नाशवान। काया=शरीर। अथिर=अस्थिर, चंचल। थिर=स्थिर। निधड़क=निश्चिन्त।

व्याख्या—मानव का शरीर कच्चे घड़े के समान अस्थिर है। उसका मन भी चंचल है। फिर भी आश्चर्य यह है कि मानव सभी कार्य अपने को स्थिर समझकर करता है। वह जितना ही निश्चिन्त होकर जीवनयापन करता है, काल उतना ही उसकी मूर्खता पर हँसता है।

अलंकार—विरोधाभास।

> रोवनहारे[10] भी मुए, मुए जलावनहार[11]।
> हा हा करते ते मुए, कासौं[12] करौं पुकार ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—कासों=किससे।

व्याख्या—जो मृत्यु को प्राप्त हो गया, वह तो मरा ही, जो उसके शोक में रोते थे, वे भी मर गये और जो उसे जलाने के लिए ले गये थे वे भी काल के ग्रास बन गये।

---

१. ना० प्र०—कबीर। २. ना० प्र०—और दुखाँ। ३. ना० प्र०—मुनियर। ४. हनु०, यु०—सुर। ५. यु०—परे। ६. हनु०, यु०—फाँसि। ७. ना० प्र०—काम। ८. ना० प्र०—ज्यूँ-ज्यूँ। ९ ना० प्र०—त्यूँ-त्यूँ। १०. ना० प्र०—रोवणहारे। ११. ना० प्र०—जलावणहार। १२. ना० प्र०—कासनि।

जो अपने प्रिय की मृत्यु के दुःख में क्रंदन करते थे, वे भी काल-कवलित हो गये। काल से कोई बच न सका। इसलिए काल से बचने के लिए किससे सहायता की याचना करूँ?

जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालनहार[1]।
हमरै[2] पाछै पूंगरा तिन भी बाँधा भार॥ ३२॥
—७२५॥

शब्दार्थ—जाए=पैदा किया। पूँगरा=(सं०–पोगंड)—पाँच से दस वर्ष की अवस्था का बालक।

व्याख्या—इस साखी में कबीर ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से तीन पीढ़ियों की विनश्वरता के द्वारा यह दिखलाया है कि कोई भी प्राणी काल के चंगुल से बच नहीं सकता।

वह कहते हैं कि जिन्होंने हमको पैदा किया था वे संसार से चल बसे। हम भी यहाँ से चलने की तैयारी में हैं और हमारी भावी संतति ने भी अपने कर्मों की गठरी के भार को बाँध रखा है जिससे उसका भी यहाँ से प्रयाण निश्चित है। काल से कोई बच नहीं सकता। उस चक्र से बचने का एक ही उपाय है—राम-नाम का जप।

१. ना० प्र०—चालणहार। २. ना० प्र०—जो हमको आगैं मिले, तिन भी बँध्या भार।

(४७) सजीवनि को अंग

जरा[१] मीच व्यापै नहीं, मुवा न सुनिए[२] कोइ।
चलि कबीर तेहि[३] देस[४] कौं, जहँ बैद विधाता होइ[५] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—मुवा=मृत। विधाता=भगवान। मीच=मृत्यु।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! उस देश को चल, जहाँ वृद्धावस्था तथा मृत्यु की गति नहीं है, जहाँ किसी ने मरण का नाम तक नहीं सुना है तथा जहाँ स्वयं प्रभु ही वैद्य के रूप में विद्यमान हैं। यदि कोई रोग हुआ भी तो स्वयं प्रभु वैद्य हैं। वह असाध्य रोग से भी बचा सकते हैं।

टिप्पणी—इस देश को कबीर-पंथ में 'अमरलोक' या 'अमरपुर' कहते हैं। सहज अवस्था ही वह देश है, जहाँ जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। उसके समाप्त होने पर जरावस्था का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

कबीर जोगी बनि[६] बसा, खनि खाया[७] कंद मूल।
नाँ जानौं[८] किस जड़ी तैं[९], अमर भया अस्थूल[१०] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—वनि=वन में। खनि=खोदकर। अस्थूल = सूक्ष्म।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि योगी वन में वसा और उसने खोदकर कंद-मूल का सेवन किया। न जाने किस जड़ी से वह सूक्ष्म और अमर हो गया।

टिप्पणी—इस साखी में 'बन' साधना का प्रतीक है। योगी साधना के बन में रहता है। कंद-मूल' खाने में विभिन्न यौगिक क्रियाओं की व्यंजना है। 'नाँ जानौं किस जड़ी तैं' में संजीवनी बूटी का संकेत है। यह संजीवनी बूटी वह सहजावस्था है अथवा उस अमर-लोक की स्थिति हैं जिसमें जीव जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

कबीर हरि[११] चरणौं[१२] चला, अहं[१३] गई सब छूटि।
गगन मंडल आसन[१४] किया, काल रहा सिर कूटि[१५] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—गगन मंडल = सहस्रार।

---

१. ना० प्र०—जहाँ जुरा मरण। २. ना० प्र०—सुणिए। ३. हनु०, वि०—वा देस को। ४. ना०प्र०—देसड़ै। ५. हनु०, वि०, यु०—जँह वैद रमैया होय। ६. हनु०, यु०—बन। ७. ना० प्र०—षणि खाए। ८. ना० प्र०—जाणौं। ९. ना० प्र०—थैं, अन्य—से। १०. ना० प्र०—भए असथूल। ११. तिवारी, यु०, हनु०—तौ हरि पै चला, वि०—तौ पिव पै चला। १२. गुप्त—चरनूं। १३. ना० प्र०—माया मोह थैं टूटि। १४ ना० प्र०—आसण। १५. ना० प्र०—गया, अन्य—रहा मुख मोरि।

व्याख्या—कबीर हरि का उपासक हो गया। उसका अहंभाव समाप्त हो गया। उसकी चेतना सहस्रार में स्थित हो गयी, तब वेचारा काल असहाय होकर अपना सिर धुनने लगा कि हाय अब तो यह प्राणी मेरे मरणपाश से मुक्त हो गया।

यहु मन पटकि पछाड़ि[1] लै, सब आपा मिटि जाइ।
पंगुला होइ पिउ पिउ करै[2], पीछे काल न खाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—आपा = अहंभाव। पगुंला=पंगु।

व्याख्या—हे जीव ! इस चंचल मन को, जो बराबर विषयों की ओर दौड़ लगाता रहता है, तू पटककर पछाड़ दे। उसके ऊपर तू पूर्ण रूप से इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर ले कि उसका अहंभाव समाप्त हो जाय। तब वह पंगु हो जायेगा अर्थात् विषयों की ओर उसकी दौड़ समाप्त हो जायेगी और उसके लिए दूसरा विकल्प प्रभु-स्मरण मात्र रह जायेगा। ऐसी स्थिति में वह काल के चंगुल से मुक्त हो जायगा।

कबीर मन तीखा[3] किया[4], लाइ बिरह खरसान[5]।
चित चरणूं मैं चुभि रहा[6], तब[7] न काल का बान[8] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ - तीखा = तीक्ष्ण, नुकीला। खरसान = तीक्ष्ण शाण, अस्त्रों में तेज धार करनेवाला यंत्र, मसकला।

व्याख्या—विरह की तीव्र अनुभूति से ही मिलन की उत्कण्ठा प्रबल होती है, अभाव की अनुभूति भाव की ओर जाने के लिए विवश करती है। कबीर कहते हैं कि मैंने विरह रूपी मसकले पर अपने मन को ऐसा तीक्ष्ण किया कि वह जाकर प्रभु के चरणों में चुभ गया अर्थात् उनमें पूर्ण रूप से अनुरक्त हो गया। तब वहाँ काल का बाण प्रभावकारी नहीं हो सकता। प्रभु का चरण काल के अधिकार-क्षेत्र से परे है।

अलंकार—रूपक।

तरवर तासु बिलंबिए[9], बारह मास फलंत।
सीतज छाया सघन[10] फल, पंखी केलि करंत ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तरवर = वृक्ष। बिलंविए = अवलम्बन करना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि ऐसे वृक्ष का आश्रय लेना चाहिए जो बारहों महीने फल देता है, जिसकी छाया शीतल है जिसमें अत्यधिक फल लगे हैं और जिस पर पक्षी क्रीड़ा करते रहते हैं।

---

१. तिवारी--फटकि पछोरि। २. ना० प्र०--पंगलु ह्वै पिव-पिव करै। ३. ना० प्र०--तीपा। ४. गुप्त--कीया। ५. ना० प्र०--'वरह लाइ परसाँड़। ६. तिवारी—चरनां सौं चुहटिया, यु०, त्रि०- चरनों सों चपटिया। ७. ना० प्र०--तहाँ नहीं काल का पाँण। ८. तिवारी--पांन। ९. हनु०, वि०, यु०-- बिलंबिया। १० ना० प्र० -गहर, तिवारी--गहिर।

यहाँ 'वृक्ष' सहजावस्था या प्रभु के प्रति प्रगाढ़ अनुराग का प्रतीक है। 'बारह मास फलंत' में नित्यता की व्यंजना है। 'सीतल छाया' में प्रभु के अनुग्रह का संकेत है और 'सघन फल' में योग क्षेम की व्यञ्जना है। ('योग' का अर्थ है—अप्राप्त की प्राप्ति और 'क्षेम' का अर्थ है--प्राप्त का परिरक्षण)। 'पक्षी' मुक्त जीव का प्रतीक है।

इसी प्रकार गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
—(९।२२)

अलंकार—अन्योक्ति।

दाता[1] तरवर दया फल, उपगारी जीवंत।
पंखी चले दिसावराँ, बिरषा सुफल फलंत ॥ ७ ॥
—७३२ ॥

शब्दार्थ--दिसावरां = विदेश, अन्यत्र। बिरषा = वृक्ष।

व्याख्या--वृक्ष दाता होता है। उसके फल सभी के निमित्त होते हैं। वह परोपकार के लिए ही जीवित रहता है। वह जिन पक्षियों को फल देता है, यदि वे उसे छोड़कर अन्यत्र चले भी जायँ तो भी वृक्ष फल देता ही रहता है।

टिप्पणी—यहाँ प्रभु को 'वृक्ष' बतलाया गया है, जो सबको अनुग्रह का फल देता रहता है और सभी का उपकार करता रहता है। यदि जीव रूपी पक्षी उससे विमुख होकर विषय-वासना में लग जाय, तब भी उसके अनुग्रह में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

अलंकार—अन्योक्ति।

१. यह साखी 'सजीवनि को अंग' के किसी अन्य पाठ में नहीं मिलती, क्योंकि इसका 'संजीवनी' से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

(४८) अपारिष को अंग

पाइं पदारथ पेलि[1] करि, कंकर लीन्हा[2] हाथि।
जोरी बिछुरी[3] हंस की, पड़े[4] बगाँ कै साथि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—अपारिष = भगवद्भक्ति रूपी रत्न को सामने पाकर भी उसके परख की क्षमता न रखनेवाला। पाइं = पैर। पदारथ=पदार्थ, (प्र० अ०) भक्ति। पेलि करि= फेंककर। कंकर = कंकड़ (प्र० अ०) सांसारिक विषय। बगाँ = बगुला (प्र० अ०) विषयासक्त जीव !

व्याख्या—अज्ञानी जीव ने भगवद्भक्ति रूपी रत्न को फेंककर कंकड़ हाथ में ले लिया अर्थात् वह सांसारिक विषयों में आसक्त हो गया। इसलिए इस शरीर रूपी वृक्ष पर स्थित परमात्मा और जीवात्मा रूपी दो पक्षियों की जोड़ी बिछुड़ गई अर्थात् जीव प्रभु से वियुक्त हो गया और वह बगुला रूपी मायाग्रस्त तथा पाखंडी जीवों के साथ पड़ गया।

टिप्पणी—दो पक्षियों की जोड़ी भारतीय अध्यात्मशास्त्र का बहुत प्राचीन रूपक है। उपनिषदों में इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर इससे अवगत रहे होंगे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
—(मुण्डक० ३।१)

अर्थात् दो सुन्दर पंखवाले पक्षी सखा भाव से साथ-साथ एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के मधुर फल का भोग करता है और दूसरा उसे बिना खाए हुए केवल साक्ष्यभाव से देखता है। इन दोनों पक्षियों में एक जीवात्मा है और दूसरा परम आत्मा।

अलंकार—अन्योक्ति।

एक अचंभा[5] देखिया, हीरा हाटि[6] बिकाइ।
परखनहारा[7] बाहिरा[8], कौड़ी बदले जाइ ॥ २ ॥

---

१. हनु०, वि०, यु०--पेलिया। २. ना० प्र०--लीया। ३. ना० प्र०--जोड़ी बिछुड़ी। ४. ना० प्र०--पड़्या, अन्य--चला। ५. तिवारी, त्रि०, यु०--अचंभौ। ६. यु०, वि०, हनु०--हाट। ७. ना० प्र०--परिषणहारे। ८. यु०, वि०--बाहरी।

शब्दार्थ—हाटि = बाजार में। परखनहारा = परीक्षण करनेवाला, मूल्य आँकनेवाला। बाहिरा=बिना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने एक आश्चर्य देखा कि हीरा बाजार में विक रहा है। सच्चे पारखी के अभाव में वह कौड़ी के मोल में बिक रहा है।

विशेष—'हीरा' प्रभु-भक्ति का प्रतीक है। 'हाट' संसार है। इस संसार में सच्ची प्रभु-भक्ति को जाननेवाले बहुत कम लोग हैं। परिणाम यह होता है कि सच्ची भक्ति के स्थान पर बाह्याचार एवं पाखंड का आश्रय लिया जाता है। यही हीरे का कौड़ी मोल बिकना है।

अलंकार—अन्योक्ति।

> कबीर गुदरी बीखरी[१], सौदा गया बिकाइ।
> खोटा बाँधा गाँठरी[२], इब कछु लिया न जाइ[३] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ - गूदरी = (प्र० अ०) शरीर। बीखरी = बिखर गया, नष्ट हो गया। इब = अब।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि शरीर रूपी गुदड़ी जीर्ण हो गई। सत्कर्म रूपी सौदे का फल मिल चुका। असत् कर्म रूपी खोटे सौदे को जीव अपनी गठरी में बाँधे जा रहा है। उस खोटे सौदे से क्या प्राप्ति हो सकती है अर्थात् अब उससे अच्छा फल नहीं मिल सकता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

> पैंड़े मोती बीखरे[४], अंधा निकसा[५] आइ।
> जोति बिना जगदीस की, जगत उलंघा[६] जाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पैंडे = मार्ग में। मोती = (प्र० अ०) ब्रह्मानन्द। उलंघा=लाँघकर, उपेक्षा कर।

व्याख्या—ब्रह्मानन्द अथवा कबीर के शब्दों में राम-रस रूपी मोती बिखरे हुए हैं। किन्तु उस रास्ते पर आनेवाले जीव अज्ञान से अभिभूत अंधे हैं। प्रभु की ज्ञान-ज्योति के बिना सारा संसार उस परमानन्द रूपी मोती को लाँघकर अर्थात् उसकी उपेक्षा कर निकल जाता है।

भाव यह है कि राम-रस रूपी आनन्द अपने भीतर ही विद्यमान है। किन्तु अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण हम उसका अनुभव नहीं कर पाते।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. ना० प्र०--गुदड़ी वीषरी। २. ना० प्र०--बांध्या गाँठड़ी। ३. यु०, वि०, हनु०--खरा लिया नहिं जाय। ४. ना० प्र०--वींखर्‌या, वि०, यु०--वीखरा, हनु०--वीखरी। ५. ना० प्र०--निकस्या। ६. ना० प्र०—उलंध्या, तिवारी—उलंघै, अन्य—उलांघा।

कबीर[1] यहु जग आँधरा[2], जैसी अँधी गाइ।
बछरा[3] था सो मरि गया, ऊभी चांम चटाइ॥ ५॥
—७३७॥

शब्दार्थ—ऊभी = खड़ी। चांम = चमड़ा, खाल।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह संसार उसी प्रकार अंधा है, जैसे वह गाय अंधी होती है जो कि बछड़े के मर जाने पर भी उसके चाम को खड़ी-खड़ी चाटती रहती है।

टिप्पणी—जब गाय का बछड़ा मर जाता है तो ग्वाले उसकी खाल में भूसा भरकर उस आकृति को गाय के निकट रख देते हैं। गाय भ्रमवश उसे अपना वास्तविक बछड़ा समझकर चाटती रहती है। वह बाहरी खाल को ही बछड़ा समझती है। उसके भीतर की वास्तविकता का उसे पता नहीं रहता। इस प्रकार मोहांध जीव इस जगत् के भीतर निहित राम-रस रूपी सारभूत आनंद को न पहचानते हुए विषय-वासना रूपी चाम में ही आसक्त रहता है।

अलंकार— भ्रांतिमान, दृष्टान्त।

१. यु०—कबिरा ये। २. ना० प्र०—अँधला। ३. ना० प्र०—बछा।

(४९) पारिख को अंग

टिप्पणी—इस अंग में कबीर ने जीवन के परम इष्ट या अर्हा (Value) की ओर संकेत किया है। भौतिक पदार्थों के चाकचिक्य से तो प्राकृत जन आकृष्ट होते हैं। परन्तु प्रभु के प्रेम या भक्ति के मर्म के पारखो बहुत कम होते हैं। अतः उस ओर सामान्य जन आकृष्ट नहीं होते। उसके मर्म को जाननेवाले कुछ इने-गिने लोग ही उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। आध्यात्यिक गुण को पहचाननेवाले विरले ही होते हैं। कबीर ने आध्यात्मिक अर्हा (spiritual value) को ही श्रेष्ठ माना है और उसी के प्रति साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

> जब गुन को[1] गाहक मिलै, तब गुन[2] लाख बिकाइ।
> जब गुन[3] को गाहक नहीं, (तब) कौड़ी बदलै जाइ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—पारिख = पारखी।

व्याख्या—जब गुण को परखनेवाला मिलता है, तब गुणवान वस्तु लाखों के मोल में बिकती है। जब गुण का पारखो ही नहीं होता, तब वही वस्तु नगण्य समझो जाकर कौड़ी के मूल्य में बिकती है।

अलंकार—अन्योक्ति।

> कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।
> बगुला मंझन जांनई, हंसा चुनि चुनि खाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मंझन=माँजा, मादक-फेन।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि समुद्र की लहर किनारे पर मोती बिखेर देती है। अज्ञानी बगुला फेन समझकर उसकी उपेक्षा करता है। किन्तु विवेकी हंस उसे चुन-चुनकर खा लेता है।

भाव यह है कि जीवन-सागर यदा-कदा सत्गुरु रूपी मोती प्रत्युपस्थापित करता है। किन्तु अज्ञानी जीव उसके माहात्म्य को न समझकर उसकी उपेक्षा करते हैं, जब कि विवेकी, पारखी जीव उससे लाभ उठाते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—गुण कूँ। २. ना० प्र०—गुण। ३. ना० प्र०—गुण।

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले माँडिय[1] हाटि।
जब[2] रे मिलैगा पारिखू[3], तब हीराँ की साटि ॥ ३ ॥
—७४० ॥

शब्दार्थ—माँडिय = मंडित करना, सजाना। हाटि = बाजार में। पारिखू=पारखी। साटि = सट्टा, सौदा।

व्याख्या—प्रभु जाज्वल्यमान, बहुमूल्य हीरे के समान है। उसका वास्तविक भक्त जौहरी के समान है जो उसकी ज्योति को पहचानता है और उसे ग्रहण कर संसार रूपी हाट में मंडित करता है। जब कोई उसके मर्म को पहचाननेवाला मिलेगा, तभी उस हीरे का सौदा हो सकता है अर्थात् पारखी जन ही प्रभु के भक्त हो सकते हैं।

अलंकार—रूपक।

१. तिवारी, यु०—लै-लै माँडी। २. ना० प्र०—जबर। ३. ना० प्र०--पारिषू, यु०, हनु०-पारखी।

(५०) उपजणि को अंग

यहाँ 'उपजणि' से तात्पर्य है--भगवद्भक्ति की उत्पत्ति।

नांव न जानैं[१] गाँव का, भूला मारगि जाइ[२]।
कल्हि गड़ै जो कांटवा,[३] अगमन कस न खुराइ[४] ॥ १ ॥

शब्दार्थ–उपजणि=उत्पत्ति। खुराइ=दूर रहना, अलग करना।

व्याख्या–आध्यात्मिक पथ का ऐसा पथिक जो अपने गन्तव्य स्थान का नाम नहीं जानता अर्थात् जिसे अपने लक्ष्य का पता नहीं है और साधना के भ्रान्त-पथ पर चल पड़ता है, उसे अत्यंत भयंकर बाधाओं का सामना करना पड़ता है। उसके मार्ग में जो काँटे आनेवाले हैं अर्थात् बाधाएँ उपस्थित होनेवाली हैं, उनका उसे पता नहीं है। ऐसी स्थिति में पहले से ही दूर रहना अच्छा है।

सीख[५] भई संसार से[६], चले जु[७] साँई पास।
अविनासी मोहि ले चला[८], पुरई मेरी आस ॥ २ ॥

शब्दार्थ–सीख (राज०) = बिदाई। साँई=स्वामी, पति। रई=पूर्ण किया। आस= आशा, कामना।

व्याख्या–संसार से बिदाई हो गई। मैं अपने स्वामी के पास जा रहा हूँ। प्रभु मेरे मार्ग-प्रदर्शक हो गए हैं और मेरी साध पूरी हो गई है।

भाव यह है कि यदि विषयों से वैराग्य हो जाय तो स्वयं प्रभु साधक के मार्गदर्शक हो जाते हैं। विषयों से वैराग्य के भाव को यहाँ संसार रूपी नैहर से बिदाई द्वारा व्यक्त किया गया है और प्रभु की ओर जाने का भाव पति के घर जाने द्वारा व्यक्त किया गया है।

अलंकार–अन्योक्ति।

इन्द्रलोक अचरज[९] भया, ब्रह्मा परा[१०] विचार।
कबिरा चाला[११] राँम पै, कौतुकहार[१२] अपार ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—विचार = चिन्ता। कौतुकहार=तमाशा देखनेवाले।

---

१. ना० प्र०—जाणौं। २. ना० प्र०–मारगि लागा जाँउँ, यु०, हनु०--पीछे लागा जाइ। ३. ना० प्र०—जु काँटा भाजिसी, यु०, हनु०—जो काँटा भागसी। ४. ना० प्र०—पहिली क्युं न खड़ाँउँ, हनु०—पहिले क्यों न खुजाय। ५. ना० प्र०—सीप। ६. ना० प्र०- थैं। ७. यु०—चला जो। ८. ना० प्र०—चल्या। ९. ना० प्र०—अचिरज। १०. ना० प्र०—पड़्या, हनु०—बड़ा। ११. ना० प्र०—कबीर चाल्या . १२. ना० प्र०—कौतिगहार।

व्याख्या—कबीर ने प्रभु-भक्ति की सीधी डोर पकड़ ली और वह सीधे प्रभु के पास पहुँच गये। यह देखकर इन्द्रलोक में आश्चर्य उत्पन्न हो गया और ब्रह्मा भी सोच-विचार में पड़ गये। इस कौतुक को देखनेवाले असंख्य लोग एकत्र हो गये।

भाव यह है कि प्रायः लोग इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं का सहारा लेकर ही प्रभु के पास पहुँचना चाहते हैं। परन्तु कबीर बिना किसी देव-देवी के सहारे अपने प्रियतम की ओर चल पड़े और अपनी प्रेम-साधना से वहाँ पहुँच गये। जिसमें प्रभु के प्रति अनन्य भक्ति है, उसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं।

ऊचाँ चढ़ि असमान कूँ, मेर ऊलंघे ऊड़ि।
पसु पंखेरू[1] जीव जत[2], (सब) रहे मेर मैं बूड़ि॥ ४॥

शब्दार्थ—असमान = आकाश, शून्य चक्र। मेर=मेरापन, आपा। ऊलंघे=उल्लंघन। ऊड़ि (व्रज) = कूदकर, उछलकर। पंखेरू = पक्षी। जत = जितने।

व्याख्या—आपा को लाँघकर, उड़ान भरकर मैं ऊँचे आकाश (गगन-मंडल या शून्य चक्र) तक पहुँच गया, जब कि संसार के अन्य पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी अहंभाव में ही डूबे हुए हैं।

सद[3] पांनी[4] पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव।
बासी पावस पड़ि मुए[5], विषै बिलंबे[6] जीव॥ ५॥

शब्दार्थ—सद=सद्यः, ताजा। पावस = वर्षाऋतु, (ला० अ०) जल। पाताल = (प्र० अ०) मूलाधार चक्र। बिलंबे=लगे हुए।

व्याख्या—इस साखी का अन्वय इस प्रकार है—'कबीरा पाताल का सद पानी काढ़ि पीव, विषै बिलंबे जीव बासी पावस पड़ि मुए।'

कबीर कहते हैं कि हे जीवो! पाताल का ताजा पानी निकालकर पियो। जो विषयी जीव बासी पानी में पड़ गये हैं, उनकी आध्यात्मिक मृत्यु ही हो गयी है।

विशेष—यहाँ 'पाताल' मूलाधार चक्र का प्रतीक है, जहाँ कुण्डलिनी का निवास है। उसके द्वारा सत्य की आन्तरिक अनुभूति होती है। उसी अनुभूति की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पुराने, गंदे पानी से तात्पर्य है—रूढ़ मत-मतान्तर। सांसारिक जीव यदि उससे प्रेरणा ग्रहण करने की चेष्टा करता है, तो उसकी आध्यात्मिक मृत्यु ही हो जाती है।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—पसू पंपेरू। २. ना० प्र०—जंत। ३. हनु०—शरद पानि। ४. ना० प्र०—पाँणीं। ५. हनु०, यु०—परि मुआ। ६. हनु०, यु०—विषय बिलंबा।

सपने मैं सांई मिला[१], सोवत[२] लिया जगाइ।
आँखि[३] न मीचौं डरपता, मत सपना[४] ह्वै जाइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मीचौं = बंद करना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरा स्वप्न में प्रभु से मिलन हुआ अर्थात् उनका साक्षात्कार हुआ। उन्होंने मुझे मोह-निद्रा से जगा लिया। मैं उस दर्शन का निरंतर अनुभव करता रहना चाहता हूँ। इसलिए नेत्र नहीं बंद करता, क्योंकि नेत्र बन्द करने पर यह दृश्य स्वप्न-सा हो जाएगा अर्थात् मैं पुनः अज्ञान-निद्रा में पड़ जाऊँगा।

तुलनीय—

सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ गलि लागी धाइ।
डरपत पलक न छोड़ही, मति सुपनउ होइ जाइ ॥
—छन्द ५०३ ॥
—ढोलामारू रा दूहा

गोविन्द[५] के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै[६] माँहि।
डरता[७] पांनी[८] ना पिऊँ, मति वै धोए[९] जाँहि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मति वै = कहीं वे।

व्याख्या—गोविंद के अपार गुण मेरे हृदय में अंकित हैं। मैं इस भय के कारण पानी नहीं पीता कि कहीं वे धुल न जायँ।

भाव यह है कि मैं फूंक-फूंककर पग रखता हूँ और कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे हृदय में अंकित गुणों पर कोई आँच आ जाए और मैं उस अनुभूति के अयोग्य हो जाऊँ।

अब तो मैं ऐसा भया[१०], निरमोलिक निज नाउँ[११]।
पहिले[१२] काच कथीर था, फिरता ठाँवै ठाँउ[१३] ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—निरमोलिक=अमूल्य। काच=(१) काँच, शीशा। (२) कच्चा। कथीर=(सं० कस्तीर>कत्थीर>कथीर) राँगा। ठाँवै ठाउँ = स्थान-स्थान पर, निरर्थक।

व्याख्या—गुरु-कृपा तथा साधना के प्रकर्ष से मुझमें अद्भुत परिवर्तन हुआ। अब मेरा नाम 'निरमोलिक' पड़ गया है अर्थात् अब मैं एक अमूल्य रत्न के समान हो गया हूँ जिसमें सदा प्रकाश है तथा जिसका मूल्य आँका नहीं जा सकता है। इसके पूर्व मैं

---

१. ना० प्र०-कबीर सुपिनैं हरि मिल्या। २. ना० प्र०-सूता। ३. ना० प्र०-आंषि। ४. ना० प्र०—मति सुपिनां। ५ हनु०, यु०-गोविंद केरे बहुत गुन। ६. हनु०, यु०—लिखा जु हिरदा। ७. हनु०, यु०-पानी पिऊँ न डरपता। ८. ना० प्र०—पाँणी। ९. हनु०, यु०-धोया। १०. ना० प्र०-कबीर अब तौ ऐसा भया। ११. हनु०, यु०-नाम। १२. ना० प्र०-पहली। १३. हनु०, यु०—ठामहि ठाम।

कांच और राँगे के समान मूल्यहीन था और मेरा कुछ भी महत्त्व नहीं था। मैं इधर-उधर भटकता फिरता था अर्थात् मैं एक दीन और मलिन जीव था।

यहि 'काच' को 'कथीर' का विशेपण माना जाय तो अर्थ होगा—कच्चे राँगे के समान।

अलंकार—'काच' शब्द में श्लेप।

> भौ सागर जल विष भरा[1], मन नहिं[2] बाँधै धीर।
> सबल सनेही हरि मिलै[3], (तब) उतरा पार[4] कबीर॥ ९॥

शब्दार्थ—भौ = भव, संसार। सबल = समर्थ, शक्तिमान्।

संसार रूपी समुद्र विपय रूपी विपाक्त जल से परिपूर्ण है। इसको पार करने के लिए मन में धीरज नहीं बँधता। जब सर्वशक्तिमान् प्रभु का प्रेम मिला, तब मैं सहज ही इस भयंकर संसार-सागर से पार उतर गया।

अलंकार—रूपक, श्लेष।

> भला सुहेला ऊतरा[5], पूरा मेरा भाग।
> राँम नाँव नौका[6] गहा[7], (तब) पानी पंक न लाग[8]॥ १०॥

शब्दार्थ—सुहेला=सहज में। पंक = कीचड़।

व्याख्या—मैं बहुत ही भाग्यशाली हूँ कि सहज ही इस भव-सागर से पार उतर गया। पार उतरने के लक्ष्य में मैं इस कारण सफल हुआ क्योंकि मैं राम-नाम की नौका पर बैठ गया। मैंने प्रभु-प्रेम का आश्रय ग्रहण किया। इससे मुझे वासना रूपी जल तथा विषय रूपी कीचड़ नहीं लगा।

अलंकार—रूपक।

> कबीर केसौ[9] की दया, संसा घाल्या खोइ[10]।
> जे दिन गए भगति बिनु[11], ते[12] दिन सालै मोहि॥ ११॥

शब्दार्थ—केसौ=केशव, प्रभु। संसा=संशय। घाल्या खोइ=मिटा डाला। सालै=शल्य (भाले की नोक) के समान चुभनेवाला।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरे ऊपर प्रभु की दया हो गई। उनके अनुग्रह से मेरे सब संशय मिट गए। मेरे जो दिन प्रभु-भक्ति के बिना बीते थे, वे अब शल्य के समान पीड़ाकारक प्रतीत होते हैं।

---

१. ना० प्र०—भौ समंद विष जल भरया। २. ना० प्र०—नहीं। ३. हनु०, यु०—मिला। ४. ना० प्र०-उतरे पारि। ५. ना० प्र०-ऊतरया ६. हनु०, यु०-बाँका गहा। ७. ना० प्र०-गह्या। ८. हनु०, यु०—पानी पग नहिं लाग। ९. यु०—कबिरा केशव। १०. यु०—संशय मेला खोहिं। ११. यु०—गया हरि भजन बिनु। १२. यु०-सो।

कबीर[1] जाचन जाइ था, आगे मिला अजंच[2] ।
ले चाला घर आपनैं[3], भारी खाया संच[4] ॥ १२ ॥
—७५२ ॥

शब्दार्थ—जाचन=भीख माँगने । अजंच = अयाची, जिसे याचना की कोई आवश्यकता न हो, सम्पन्न । संच=संचित धन, राशि, ढेर ।

व्याख्या—कबीर याचना के लिए निकले थे । उन्हें प्रभु रूपी अयाची मिल गये, जो सर्व-सम्पन्न हैं तथा सारी याचकता को दूर रखने की सामर्थ्य रखते हैं । वह मुझे अपने घर ले गये । कहाँ मैं भिखारी था और अब मुझे पूर्ण संचित राशि प्राप्त हो गई ।

विशेष—भाव यह है कि मानव एक ऐसा प्राणी है जो इष्ट या मूल्य (Value) की खोज करता रहता है । वह पहले भौतिक मूल्यों की ओर आकृष्ट होता है । परन्तु वह अनुभव करता है कि जिन धन-धान्य आदि इष्ट वस्तुओं के पीछे वह दौड़ लगाता रहा है, वे सभी नाशवान हैं । केवल प्रभु ही एक ऐसा इष्ट है जिसके मिलने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है । 'संच' शब्द के द्वारा यही व्यक्त किया गया है कि वह संचित राशि है अर्थात् उसके मिलने पर सभी इष्टों की प्राप्ति हो जाती है । कोई चाह शेष नहीं रह जाती ।

टिप्पणी—'अयाची' वह है जो सर्व-सम्पन्न होता है, जिसे किसी वस्तु की याचना की आवश्यकता ही नहीं रहती । यहाँ ध्वनि यह भी है कि अयाची वह है जो सभी याचनाओं को दूर भगा देता है अर्थात् सभी इष्टों की पूर्ति कर देता है, क्योंकि वह सर्व-सम्पन्न है ।

---

१. यु०—कबिरा जाँचन । २. यु०, हनु०—मिला अजाच । ३. हनु०, यु०—आप सरीखा करि लिया । ४. हनु०, यु०—पाया सांच ।

(५१) दया निरबैरता कौ अंग

कबीर दरिया परजला[1], दाझै जल थल झोल।
बस नाहीं गोपाल सौं[2], बिनसै रतन अमोल॥ १॥

शब्दार्थ—दरिया = समुद्र। परजला = प्रज्वलित हुआ। दाझै = दग्ध हो रहे हैं। झोल = ज्वाला।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि इस भव-सागर में आग लग गई है जिससे जल-थल आदि सभी उसकी ज्वाला में दग्ध हो रहे हैं। प्रभु पर उस आग का कोई वश नहीं चलता, अन्यथा अमूल्य रत्न अर्थात् जीवात्मा का भी विनाश हो जाता।

विशेष—भाव यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की ज्वाला में सारा संसार जल रहा है। किन्तु यह सब होते हुए भी शरीर के भीतर विद्यमान अमूल्य रत्न जीवात्मा—प्रभु का अंश होने के कारण विनष्ट नहीं होता। काम, क्रोध आदि का प्रभु के ऊपर कोई जोर नहीं चलता। इसीलिए जीवात्मा सुरक्षित रहता है। काम, क्रोध रूपी ज्वाला जीवात्मा को पथ-भ्रष्ट तो कर सकती है, किन्तु उसके स्वरूप का विनाश नहीं कर सकती।

अलंकार—असंगति, रूपकातिशयोक्ति, विशेषोक्ति।

ऊनइ आई[3] बादली, बरसन[4] लगे अंगार।
ऊठि कबीरा धाह दे, दाझत है संसार॥ २॥

शब्दार्थ—ऊनइ आई=उमड़ आई, उन्नमित। धाहदे=चिल्ला-चिल्लाकर पुकारना। दाझत = जल रहा।

व्याख्या—माया की बदली उमड़ आई। अनेक प्रकार के ताप और सांसारिक दुःख के अंगारे बरसने लगे। सारा संसार दग्ध हो रहा है। हे कबीर! तू उठकर, धाड़ लगाकर सांसारिक जीवों को इस ताप से बचने की चेतावनी दे।

अलंकार—अन्योक्ति, विरोधाभास।

दाध बली[5] ता सब दुखी, सुखी न देखौं[6] कोइ।
जहाँ कबीरा पग धरै[7], तहँ[8] टुक धीरज होइ॥ ३॥
—७५५॥

---

१. ना० प्र०—प्रजल्या। २. गुप्त—सूँ। ३. ना० प्र०—ऊँनमि बिआई, गुप्त—ऊनविआई। ४. ना० प्र०—वर्संणि, तिवारी—बरखन लगा। ५. यु०, वि०—कलापी। ६. यु०, वि०—देखा। ७. यु०, वि०—जहँ-जहँ भक्ति कबीर की। ८. यु०, वि०—तहँ-तहँ।

शब्दार्थ - दाध = जलन, दाह। ता = उससे। टुक = किंचित्।

व्याख्या—काम, क्रोध, वासना आदि की ज्वाला अत्यन्त बलिष्ठ है। उससे सभी दुःखी हैं। कबीर कहते हैं कि मैं किसी को भी सुखी नहीं देखता हूँ। जहाँ मैं पहुँचता हूँ, केवल वहाँ मेरे उपदेश से कुछ शीतलता या शांति छा जाती है और लोगों में धैर्य बँधता है।

भाव यह है कि सन्तों के उपदेश से ही संसार के प्राणी ताप-भय से बच सकते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

(५२) सुन्दरि को अंग

कबीर[१] सुन्दरि यौं कहै, सुनियो[२] कंत सुजांन[३]।
बेगि मिलौ तुम आइ करि[४], नहितर तजौं परांन[५] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सुन्दरि = ईश्वर की भक्ति करनेवाली प्रिया रूपी जीवात्मा। नहितर = अन्यथा।

व्याख्या—जीवात्मा रूपी सुन्दरी प्रभु-रूपी कंत से कहती है कि हे विज्ञ प्रिय स्वामी ! मेरी विनती सुनो। तुम शीघ्र आकर मुझसे मिलो अन्यथा मैं प्राण त्याग दूँगी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर[६] जे कोइ[७] सुन्दरी, जांनि[८] करै बिभिचार।
ताहि न कबहूँ आदरै, परम[९] पुरुष भरतार ॥ २ ॥

शब्दार्थ—जे = यदि। बिभिचार = व्यभिचार। भरतार=पति, भर्त्ता। परम पुरुष= पुरुषोत्तम, भगवान।

व्याख्या—यदि कोई सुन्दरी जान-बूझकर व्यभिचार करती है, अन्य पुरुष के साथ रमण करती है तो उसका स्वामी कभी भी उसे अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकता। ठीक इसी प्रकार यदि जीवात्मा रूपी सुन्दरी प्रभु को छोड़कर माया से लगन लगाती है तो वह पुरुषोत्तम भगवान का सामीप्य नहीं प्राप्त कर सकती।

जे सुंदरि साँई भजै[१०], तजै आँन की आस।
ताहिं न कबहूँ परिहरै, पलक न छाँड़ै पास ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—आँन=अन्य। परिहरै = त्यागै। पास = पार्श्व।

व्याख्या—जो सुन्दरी अपने पति की सेवा में रत रहती है और अन्य पुरुष की इच्छा भी नहीं करती, उसका पति उसे कभी नहीं छोड़ता। वह एक क्षण के लिए भी उससे अलग नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जो जीवात्मा अन्य देवी-देवताओं की आशा छोड़कर प्रभु की हृदय से भक्ति करता है, उसको प्रभु अपना मधुर सान्निध्य प्रदान करता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. यु०—कबिरा। २. ना० प्र०—सुणि हो। ३. ना० प्र०—सुजांण। ४. हनु०, यु०—कै। ५. ना० प्र०—नहीं तर तजौं परांण, यु०, हनु०–नातर तजिहौं प्रान। ६. यु०—कबिरा जो कोइ। ७. ना० प्र०—जेको। ८. ना० प्र०—जांणि। ९. ना० प्र०—प्रेम पुरिष, तिवारी—परम पुरिस। १०. हनु०, यु०—सुन्दरि तौ साँई भजै।

इस[1] मन कौं मैदा करौ[2], नान्हाँ करि करि पीस[3]।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म[4] झलक्कै[5] सीस ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे सुन्दरी (जीव) ! तू इस स्थूल भौतिक मन को साधना द्वारा इतना सूक्ष्म बना ले, उसके रजस् और तमस् अंश को चूर्ण-विचूर्ण कर सात्त्विक अंश का इतना उद्रेक कर ले कि तेरे मानस में प्रभु की ज्योति झलकने लग जाय। हे सुन्दरी ! तू तभी वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकती है।

'सुन्दरी' के साथ 'ब्रह्म झलक्कै सीस' में 'सीस' की व्यञ्जना यह है कि तभी तेरा सौभाग्य चमकेगा।

दरिया पार हिंडोलना, मेल्या[6] कंत मचाइ।
सोई नारि सुलक्षणीं, नित प्रति झूलन[7] जाइ ॥ ५ ॥
—७६० ॥

शब्दार्थ—हिंडोलना = झूला। मेल्या=डाल रखा है। मचाइ=सजाकर। सुलक्षणीं= शुभ लक्षणोंवाली।

व्याख्या—इस साखी के प्रथम चरण का अन्वय इस प्रकार हैं—'कंत दरिया पार हिंडोलना मचाइ मेल्या।'

तात्पर्य यह है कि इस संसार-सागर में ज्ञान प्राप्त करने की स्थूल साधन-इन्द्रियों से परे प्रभु रूपी पति ने मिलन का झूला सजाकर डाल रखा है। वही स्त्री शुभ लक्षणोंवाली है जो उस हिंडोले में नित्यप्रति अपने प्रिय के साथ झूलती है।

भाव यह है कि इन्द्रिय, तर्क अथवा बुद्धि से मानव इस भव-सागर को पार नहीं कर सकता। इनसे परे जो सहज ज्ञान है, वही प्रिय के मिलन का माध्यम है।

प्रमुख पाश्चात्त्य दार्शनिक बर्ट्राण्ड रसेल ने भी कहा है:—

"The first and most direct out come of the moment of illumination is belief in the possibility of a way of knowledge, which may be called revelation or insight or intution as contrasted with sense, reason and analysis."—Mysticism and Logic, p. 16.

अर्थात् प्रकाश के क्षण का प्रथम और प्रत्यक्ष परिणाम ज्ञान के एक ऐसे मार्ग की सम्भावना में विश्वास है जिसे दैवीज्ञान, परिज्ञान या अन्तर्ज्ञान कहा जा सकता है और जो इन्द्रियज्ञान, तर्क तथा विश्लेषण से भिन्न है।

अलंकार—अन्योक्ति।

●

---

१. हनु०, यु०—मन मनसा को मारिकै, नन्हा करि कै पीस। २. ना० प्र०—करौं। ३. ना० प्र०—पीसि। ४. हनु०, यु०—पदम। ५. ना० प्र०—झलकै। ६. गुप्त—मेल्हा। ७. ना० प्र०—झूलण।

(५३) कस्तूरिया म्रिग को अंग

कस्तूरी कुण्डलि[१] बसै, म्रिग[२] ढूढ़ै बन माँहि।
ऐसे घटि घटि राम हैं[३], दुनिया[४] देखै[५] नाँहि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कुण्डलि=कुण्डल में। घटि घटि=प्रत्येक शरीर में। देखै=अनुभव करना।

व्याख्या—कस्तूरी, मृग की नाभि में विद्यमान रहती है, किन्तु वेचारा मृग अज्ञान-वश उसे बाहर वन में खोजता घूमता है। इसी प्रकार राम प्रत्येक व्यक्ति के घट में विद्यमान हैं, किन्तु सांसारिकजन इसका अनुभव नहीं कर पाते और मंदिर तथा तीर्थों में उसे खोजते घूमते हैं।

अलंकार—उपमा।

कोइ[६] एक देखै संत जन, जाकै पाँचौ[७] हाथि।
जाकै पाँचौ[८] बस नहीं, ता हरि संग न साथि[९] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—हाथि=हाथ में, वश में।

व्याख्या—घट-घट में बसनेवाले राम का अनुभव कोई ऐसे संतजन ही कर पाते हैं जिनकी पाँचों इन्द्रियाँ वश में हैं। जिनकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं हैं, उनका प्रभु से कोई सम्पर्क नहीं हो सकता।

सो साँई[१०] तन मैं बसै, भ्रम्यौ[११] न जांनै[१२] तास।
कस्तूरी का मिरग ज्यौं[१३], फिरि फिरि सूँघै[१४] घास ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—भ्रम्यौ = भ्रमण करना, चक्कर लगाना।

व्याख्या—प्रभु प्रत्येक व्यक्ति के घट में विद्यमान हैं, किन्तु जैसे मृग, कस्तूरी की सुगन्धि के स्थान को नहीं जानता और उसकी खोज में भ्रमण करता रहता है, चक्कर काटता रहता है और घूम-घूमकर इसलिए घास सूँघता रहता है कि उसी स्थान से सुगंध तो नहीं आ रही है। ऐसे ही सांसारिक जीव अपने भीतर विद्यमान प्रभु को नहीं जानते और उसे तीर्थों तथा मंदिर आदि में खोजते रहते हैं अथवा उस आनन्दस्वरूप को तुच्छ विषयों में पाने की चेष्टा करते हैं।

---

१. हनु०. यु०—कुण्डल। २. ना० प्र०—मृग। ३. हनु०—ऐसे हरि घट-घट बसै। ४. हनु०—मूरख जानत नाँहि। ५ यु०—जानै। ६. हनु—देखै कोई संतजन, पाँचों जाके हाथ। ७. ना० प्र०—पाँचूँ। ८. ना० प्र०—पाँचूँ। ९. हनु०—ताके संग न साथ। १०. हनु०, यु०—साहिब। ११. हनु०, यु०, तिवारी—मरम। १२. ना० प्र०—जाँणै। १३. ना० प्र०—के मृग ज्यूँ। १४. अन्य—ढूँढ़ै।

टिप्पणी—इस साखी में 'भ्रम्यौ' शब्द में बाहर मंदिर, तीर्थ आदि में प्रभु को खोजने की व्यञ्जना है और 'घास' में तुच्छ विषयों की ध्वनि है।

अलंकार—उपमा।

कबीर[1] खोजी राम का, गया जु[2] सिंघलदीप।
राम तौ भीतरि रमि रहा[3], जौ आवै परतीत ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—परतीत = विश्वास, प्रतीति।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि राम का खोजी समुद्र पार दूर देश जाने का प्रयत्न करता है। उस बेचारे को पता नहीं कि राम तो सभी के हृदय में रम रहे हैं। यदि दृढ़ विश्वास हो और अन्तर्चक्षु से उसे देखने का प्रयत्न किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति को उसका साक्षात्कार हो सकता है।

टिप्पणी—'रमि रहा' में विचरने तथा व्याप्त रहने का भाव है।

घट बढ़ कहूँ न देखिए[4], ब्रह्म रहा भरपूरि[5]।
जाने[6] ही ते निकट है, अनजाने ते दूरि ॥ ५ ॥

व्याख्या—ऐसा नहीं है कि प्रभु कहीं कम रूप में विद्यमान हैं और कहीं अधिक रूप में। वह तो सर्वत्र पूर्ण रूप में विद्यमान हैं। कम या अधिक परिमाणवाचक शब्द हैं, जो प्रभु पर किसी प्रकार लागू नहीं हो सकता। यदि इस तथ्य की प्रतीति हो तो उसकी अनुभूति अपने भीतर ही अत्यंत निकट हो सकती है और यदि यह प्रतीति नहीं है तो अज्ञानी जीव उसे कोसों दूर समझता है।

मैं जानूँ[7] हरि दूरि हैं, हरि हृदये भरपूर[8]।
आप[9] पिछाणैं बाहिरा, नेड़ा ही थै दूर ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—आप = आत्मस्वरूप। पिछाणै=पहचान। बाहिरा = बिना। नेड़ा=निकट।

व्याख्या—मैं समझता था कि प्रभु कहीं बहुत दूर होंगे। किन्तु वह तो हमारे हृदय में ही पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। जो अपनी पहचान से बाहर हैं अर्थात् जिनको आत्म-स्वरूप की जानकारी नहीं है, उनके लिए प्रभु पास रहने पर भी दूर ही प्रतीत होते हैं।

तिन कै ओटे[10] राम हैं, परबत मेरे भाइ[11]।
सदगुर मिलि परचा[12] भया, तब[13] पाया घट माँहि ॥ ७ ॥

---

१. यु०—कबिरा। २. यु०—जो। ३. यु०—साहिब तौ घट में बसें। ४. ना० प्र०—घटि बधि कहीं न देखिए। ५. यु०—प्रेम सकल भरपूर। ६. ना० प्र०—जिनि जान्यौं तिनि निकट है, दूरि कहैं ते दूरि। ७. ना० प्र०—जाँण्यौं। ८. ना० प्र०—रह्या सकल भरपूरि। ९. यु०—आप पिछाने बाहरी, नीरा ही ते दूर। १०. ना० प्र०—तिणकैं ओल्है, हनु०—तृन के ओटे। ११. हनु०—भावै परवत जाइ। १२. तिवारी—परचै। १३. ना० प्र०—तब हरि पाया घट माँहि।

शब्दार्थ—तिन = तृण । ओटे = व्यवधान, पर्दा, आवरण । भाइ = विचार से, समझ से ।

व्याख्या—यद्यपि राम और मेरे बीच तृण के समान एक सूक्ष्म आवरण है, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे और प्रभु के बीच पर्वत के समान दीर्घ और विशाल व्यवधान है। सत्गुरु से मिलने पर जब प्रभु का परिचय प्राप्त हुआ, तब पता चला कि प्रभु मेरे भीतर ही विद्यमान हैं।

टिप्पणी—(i) ना० प्र० की प्रति में 'ओटे' के स्थान पर 'ओल्हैं' पाठ है। 'ओल्हैं' शब्द 'ओलवा' से बना है। इसका भी अर्थ है—पर्दा या व्यवधान। (ii) संतों ने शरीर के लिए प्रायः 'घट' शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि जिस प्रकार विभु या सर्वत्र व्याप्त आकाश 'घट' के भीतर परिसीमित-सा लगता है, उसी प्रकार विभु (सर्वव्यापी) प्रभु इस शरीर में परिसीमित-सा प्रतीत होता है। (iii) सूक्ष्म पर्दा माया या अहं का आवरण है। उसके हट जाने पर आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।

राँम[1] नाँम तिहुँ लोक में, सकल माँहि[2] भरपूरि।
यहु चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलैं दूरि ॥ ८ ॥

व्याख्या—रामनाम तीनों लोकों में सभी में परिव्याप्त है। उस चतुराई को आग लगे, जिससे लोग अपने ही भीतर व्याप्त राम को छोड़कर उन्हें दूर-दूर खोजते घूमते हैं।

ज्यौं नैनन[3] मैं पूतली, त्यौं[4] खालिक घट माँहि।
मूरख नर जानैं नहीं[5], बाहर ढूँढ़न[6] जाँहि ॥ ९ ॥
—७६९ ॥

शब्दार्थ—खालिक (अ०) = सृष्टिकर्त्ता, स्वामी, ईश्वर।

व्याख्या—जिस प्रकार नेत्रों में पुतली होती है, उसी प्रकार शरीर के भीतर प्रभु विद्यमान हैं। अज्ञानी इस तथ्य को नहीं जानते और उसे बाहर खोजने जाते हैं।

अलंकार—उपमा।

१. हनु०—एक। २. ना० प्र०—सकलहु रह्या, गु०—सकल रहा। ३. ना० प्र०—ज्यूँ नैनूँ। ४. ना० प्र०—त्यूँ। ५. ना० प्र०—मूरिख लोग न जाँणही। ६. ना० प्र०—बाहरि ढूँढ़ण।

(५४) निन्द्या (निन्दा) को अंग

लोग बिचारा निन्दई[१], जिनहुँ[२] न पाया ग्याँन ।
राँम नाँव[३] राता[४] रहै, तिनहुँ न भावै आन[५] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—राता = रत, लीन ।

व्याख्या—वेचारे वे ही दूसरों की निन्दा करते रहते हैं जिन्होंने ज्ञान नहीं प्राप्त किया है । जो प्रभु की भक्ति में अनुरक्त रहते हैं, उन्हें प्रभु को छोड़कर और कुछ अच्छा लगता ही नहीं । उन्हें दूसरों की निन्दा में रस कहाँ मिल सकता है ?

दोष पराया देखि कै[६], चला[७] हसंत हसंत ।
अपनै[८] च्यंति[९] न आवई, जिनकी[१०] आदि न अंत ॥ २ ॥

शब्दार्थ—च्यंति = चिंता ।

व्याख्या—लोग दूसरों का दोष देखकर उसका उपहास करते हैं, अपने दोषों की चिन्ता नहीं रहती, जिनका न आदि है न अंत ।

निन्दक नियरे[११] राखिए, आँगनि[१२] कुटी बँधाइ[१३] ।
बिन साबुन[१४] पानी बिना, निरमल करै सुभाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—नियरे = निकट । बँधाइ=बनवाकर । सुभाइ=स्वभाव ।

व्याख्या—निन्दक को अपने समीप ही आँगन में कुटी बनवाकर रखना चाहिए । वह पानी और साबुन के बिना ही हमारे स्वभाव को निर्मल कर देता है ।

भाव यह है कि सामान्यतः व्यक्ति दूसरों के गुण-दोषों को निरपेक्ष दृष्टि से देखता है, इसलिए वे उसके सामने स्पष्ट रूप से आ जाते हैं । किन्तु अपने सम्बन्ध में उसकी दृष्टि इतनी पक्षपातपूर्ण रहती है कि वह अपने दोष नहीं देख पाता । निन्दक उसके दोषों को प्रकट कर देता हैं । तब उसका ध्यान अपने दोषों पर जाता है और वह निर्मल बनने का प्रयत्न करता है । इसीलिए कहा गया है निन्दक साबुन-पानी के बिना ही स्वभाव को निर्मल कर देता है ।

अलंकार—विभावना ।

---

१. ना० प्र०—नींदई । २. ना० प्र०—जिन्ह नं, हनु०—जिन नहिं । ३. तिवारी—अमलि माता रहै । ४. हनु०, यु०—जानै नहीं । ५. यु०—वकै आन ही आन, हनु०-सेवै आनहि आन । ६. ना० प्र०—दोख पराए देखि करि । ७. ना० प्र०—चल्या, हनु०—चलै । ८. हनु०—आपन याद न आवई । ९. तिवारी—चीति । १०. हनु०-जाको ।११. ना० प्र०—नेड़ा, हनु०, यु०—नेरे । १२. ना० प्र०—आँगणि । १३. हनु०, वि०—छवाइ । १४. ना० प्र०—सावँण पाँणी ।

निन्दक[1] दूरि न कीजिए, दीजै[2] आदर माँन।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आँनहि आन[3] ॥ ४ ॥

व्याख्या—निन्दक को दूर न कीजिए। उसको सम्मान देकर समीप ही रखिये। वह दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर चारों ओर बकता रहता है। इससे अपने दोषों की ओर विवशतः दृष्टि जाती है और तब मनुष्य अपने तन-मन को निर्मल करने का प्रयत्न करता है।

जो कोइ निंदै साधु कौं[4], संकट[5] आवै सोइ।
नरक माँहि जन्मै[6] मरै, मुकुति[7] न कबहूँ होइ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—साधु=सज्जन।

व्याख्या—जो कोई सज्जन की निन्दा करता है, वह संकट को प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्ति का जन्म-मरण नरक में ही होता है अर्थात् उसका सारा जीवन नरक में ही व्यतीत होता है और उसे कभी मुक्ति नहीं प्राप्त होती।

तिरनहुं कबहुँ न निन्दिए[8], पाँव तले है जोइ।
ऊड़ि[9] पड़ै जब आँखि मैं, खरा दुहेला होइ[10] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तिरनहुं=तृण को भी। ऊड़ि=उड़कर। खरा=अत्यन्त। दुहेला=कष्ट।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि तृण सदृश तुच्छ वस्तु की भी, जो पाँवों तले पड़ी हो, कभी निन्दा नहीं करना चाहिए। यदि कभी उड़कर वह तुच्छ तृण भी आँख में पड़ जाए तो अत्यन्त पीड़ा होगी।

अलंकार—अन्योक्ति।

आपनपौ[11] न सराहिए, और न कहिए रंक।
नाँ जाँनौं किस[12] बिरिख[13] तलि, कूड़ा[14] होइ करंक ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—आपनपौ=अपने को। रंक=तुच्छ। बिरिख=वृक्ष। करंक=हड्डियाँ।

व्याख्या—अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और किसी दूसरे को तुच्छ नहीं कहना चाहिए। अहंमन्यता व्यर्थ है। इस नश्वर शरीर का, जिसके ऊपर हम गर्व करते हैं, न जाने कब अन्त हो जाए और इसकी हड्डियाँ न जाने किस वृक्ष के नीचे कूड़े के समान पड़ी रह जाएँ ?

---

१. ना० प्र०—न्यन्दक। २. हनु०, वि०—कीजै। ३. हनु०, वि०—बकै आंन ही आंन। ४. ना० प्र०—जे को नींदै साध कूँ। ५. ना० प्र०—संकटि। ६. ना० प्र०—जांमे। ७. यु०—मुक्ति। ८. ना० प्र०—कबीर घास न नींदिए, जो पाऊँ तलि होइ। ९. ना० प्र०—उड़ि। १०. यु०—पीर घनेरी होइ। ११. गुप्त—आंपणपौ। १२. हनु०, वि०—क्या जानौं किहि रूख तर। १३. ना० प्र०—ब्रिप। १४. हनु०, वि०—कूरा।

कबीर आप ठगाइए, और न ठगिए कोइ।
आप ठगे[1] सुख ऊपजै, और ठगे[2] दुख होइ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—आप=अपनपौ, आपा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि आपा को लुट जाने दो, नष्ट हो जाने दो। दूसरे किसी को धोखा देने की चेष्टा न करो। आपा लुट जाने से सुख उत्पन्न होता है। दूसरों को ठगने या लूटने से केवल दुःख प्राप्त होता है।

अब[3] कै जे साँई मिलै, (तौ) सब दुख आषौं रोइ।
चरनूँ ऊपरि सीस धरि, कहूँ ज कहणाँ होइ ॥ ९ ॥
—७७८ ॥

शब्दार्थ—जे=यदि। आषौं (पंजाबी)=कहूँ, आख्यान करूँ।

व्याख्या—यदि इस बार मेरे प्रभु मिलेंगे तो मैं उन्हें अपनी करुण कहानी रोकर सुनाऊँगा। उनके चरणों पर शीश रखकर, जो कुछ कहना है, कहूँगा।

भाव यह है कि पूर्ण आत्म-समर्पण कर, प्रभु से अनुग्रह की याचना करूँगा।

१. ना० प्र०—ठग्यां। २. ना० प्र०—ठग्यौं। ३. यह साखी अन्य पाठों में इस अंग में नहीं है और न 'निन्दा कौ अंग' में उपयुक्त प्रतीत होती है।

(५५) निगुणाँ को अंग

जानै हरिअर रूखड़ा[1], उस[2] पानीं[3] का नेह।
सूखा[4] काठ न जांनई[5], कबहूँ बूठा[6] मेह ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निगुणाँ=(१) अनाड़ी, विवेकहीन, गुणहीन। (२) निगुरा, जिसका कोई गुरु नहीं है। रूखड़ा=वृक्ष। काठ=लकड़ी। बूठा=बरसा।

व्याख्या—हरा वृक्ष ही जल के आर्द्र-दान के महत्त्व को समझता है। सूखा काठ उसे क्या समझ सकता है? उस पर चाहे घोर वृष्टि ही क्यों न हो।

भाव यह है कि जिसका हृदय भावपूर्ण है, वही प्रभु के स्निग्ध अनुग्रह का महत्व समझता है। जो भावशून्य हैं, वे भक्ति-रस का आनन्द कैसे जान सकते हैं, भले ही वे चतुर्दिक् प्रेम से घिरे हों।

अलंकार—अन्योक्ति।

झिरमिर झिरमिर[7] बरषिया, पाहन[8] ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल[9] भई, पाहन[10] वोही तेह[11] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पाहन=पाषाण, पत्थर। सैंजल=गीली। वो ही=वैसे ही। तेह=कठोर।

व्याख्या—पत्थर के ऊपर झीनी वर्षा की झड़ी लगी रही। फलस्वरूप पाषाण के ऊपर लगी मिट्टी गलकर गीली हो गई, किन्तु पत्थर पूर्ववत् कठोर बना रहा।

भाव यह है कि प्रभु के अनुग्रह की वर्षा सभी के ऊपर होती है। किन्तु केवल सहृदय और भावपूर्ण भक्त ही उससे आर्द्र होते हैं। भावशून्य (निगुणा) व्यक्तियों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे पूर्ववत् भावशून्य और शुष्क वने रहते हैं।

अलंकार—विशेषोक्ति, अन्योक्ति।

पारब्रह्म वड़[12] मोतियाँ, झड़ि बाँधी सिषराँह[13]।
सगुरा सगुरा चुनि[14] लिए, चूक पड़ी निगुराँह[15] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—वड़=बड़ा। झड़ि=झड़ी। सिषराँह=शिखर पर, ब्रह्मरंध्र। सगुरा= गुरु-भक्त। निगुराइ=बिना गुरु का।

---

१. ना० प्र०—हरिया जाँणैं रूँपड़ा। २. हनु०—पानी हूँ का नेह। ३. ना० प्र०—पाँणीं। ४. ना० प्र०—सूका। ५. ना० प्र०—जाँणई। ६. हनु०, वि०—कितहूँ बूड़ा। ७. हनु०—झीमिर झीमिर। ८. ना० प्र०—पाँहण। ९. हनु०, वि०, युं०—पानो। १०. ना० प्र०—पाँहण। ११. हनु०, वि०—वाही नेह। १२. ना० प्रा०—वूठा। १३. गुप्त—झड़, हनु०—घटा, वि०, यु०—झड़ि बाँधि सिखर। १४. ना० प्र०—चुणि लिया। १५. वि०, यु०—निगुर।

व्याख्या—पर्वत के शिखर पर पारब्रह्म ने बड़े-बड़े मोतियों की झड़ी लगा दी। जो गुरु से युक्त थे, उन्होंने मोतियों को चुन लिया। जो बिना गुरु के थे, वे चूक गये।

भाव यह है कि प्रभु का अनुग्रह चतुर्दिक व्याप्त है। किन्तु जिनको कोई सद्गुरु प्राप्त होता है, उन्हीं में उस अनुग्रह की ग्रहणशीलता आती है। जिसका कोई गुरु नहीं है, वह उस अनुग्रह को ग्रहण नहीं कर पाता।

टिप्पणी—यहाँ 'मोतियों की वर्षा' में अनुग्रह की वर्षा की व्यञ्जना है। शिखर पर बरसने में मस्तक के शिखर अथवा ब्रह्मरंध्र की व्यञ्जना प्रतीत होती है। 'बूँद' की तुलना 'मोतियों' से की गई है जो अत्यन्त सटीक है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर हरि रस बरषिया, गिरि डूँगर सिषराँह[1]।
नीर सिवाणाँ[2] ठाहरै, नाँ कछु छापरडाँह[3] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—डूँगर = टीला। सिषराँह=शिखर पर। मिवाणाँ = नीची जमीन, पहाड़ की तलहटी। छापरडाँह=छप्पर पर।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि पर्वत और टीलों के शिखरों पर वृष्टि होती है। किन्तु उसका जल न तो पर्वतों और टीलों पर ठहरता है और न छप्पर पर। वह पर्वत की तलहटी अथवा निचली जमीन में ही आकर ठहरता है। उसी प्रकार प्रभु के अनुग्रह की वृष्टि सर्वत्र होती है, किन्तु जो अहंकार से उन्मत्त होकर सिर उठाये हुए हैं, उनके हृदय में उसके लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उनके भीतर उसके ग्रहण के लिए अभी कोई आधार तैयार नहीं है। जो विनम्र हैं, जिनका हृदय संवेदनशील है, वे ही उस रस को ग्रहण कर सकते हैं।

टिप्पणी—यहाँ अहंकारियों की तुलना पर्वत, टीलों तथा छप्पर से की गई है और विनम्र पुरुषों को 'मिवाणाँ' बताया गया है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर[4] मूढ़क[5] करमियाँ, नख सिख पाखर[6] आहि।
बाँहनहारा[7] क्या करै, बान न लागै ताहि[8] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मूढ़क = अविवेकी, मोहांध। करमियाँ = कर्मकाण्डी। पाखर = कवच। बाँहनहारा=बाण चलानेवाला।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि कर्मकाण्डी अविवेकी होता है। वह केवल बाह्याचार की तड़क-भड़क में फँसा रहता है। वह कर्मकाण्ड की विधियों का कवच नख से शिख

---

१. हनु०, वि०, यु०—पर्वत सिखराय। २. गुप्त—निवाणाँ, तिवारी—निवाँनैं, हनु०—निवानू। ३ ना० प्र०—नाऊँ छा परडाँह, हनु०, वि०—ना वह छापर डाय। ४. यु०—कबिरा मूँढक प्रानियाँ। ५. ना० प्र०—मूँड़ा। ६. ना० प्र०—पापर ज्याँह ७. ना० प्र०—बाँहणहारा ८. ना० प्र०—त्याँह।

तक अर्थात् ऊपर से नीचे तक पहने हुए है। बेचारा तीर चलानेवाला क्या करे, क्योंकि जो बाह्याचार का कवच पहने हुए हैं, उनमें बाण बिंधता ही नहीं।

यहाँ 'बाँहनहारा' गुरु है और 'तीर' शब्द है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कहत सुनत सब दिन गए[1], उरझि न सुरझ्या[2] मन।
कह[3] कबीर चेतै[4] नही, अजहूँ पहिला[5] दिन॥ ६॥

शब्दार्थ—चेतै = सावधान।

व्याख्या—तत्त्व का उपदेश कहते-सुनते सारा जीवन समाप्त हो गया, किन्तु अज्ञानी जीव का मन एक बार मोह में उलझकर फिर न सुलझ सका। कबीर कहते हैं कि अज्ञानी जीव अभी तक सावधान नहीं हुआ। उसको अभी तक आत्म-बोध नहीं हो सका। उसकी आज भी वही अवस्था है जो पहले दिन थी।

कहै कबीर कठोर कै[6], सबद न लागै सार।
सुधबुध[7] कै हिरदै भिदै, उपज[8] विवेक[9] विचार॥ ७॥

शब्दार्थ—सार = लोहा, अस्त्र। सुधबुध = समझदार, प्रबुद्ध, संवेदनशील।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिसका हृदय संवेदनशील नहीं है, जो कठोर हृदय-वाले हैं, उनको शब्द रूपी बाण बिंध नहीं सकता। जो संवेदनशील हैं, जिज्ञासु हैं, उनके हृदय में शब्द-बाण विंध जाता है और विवेक तथा विचार जग उठते हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सीतलता कै कारनैं,[10] नाग[11] विलंबे आइ।
रोम रोम विष भरि रहा[12], अम्रित[13] कहाँ समाइ॥ ८॥

शब्दार्थ—नाग = सर्प।

व्याख्या—शीतलता की प्राप्ति के लिए सर्प आकर चन्दन के वृक्ष पर लिपटता है, किन्तु उसके रोम-रोम में विष भरा हुआ है। चन्दन का शीतल प्रभाव उसके भीतर कैसे समा सकता है?

इसी प्रकार जो स्वभाव से ही विषैले तथा दुष्ट हैं, वे सत्संग की शरण पाने पर भी भक्ति-सुधा से वंचित रहते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. तिवारी–सुनत सुनावत दिन गए। २. ना० प्र०—सुरझ्या। ३. ना० प्र०—कहि। ४. ना० प्र०–चेत्या। ५. ना० प्र०–सुपहला। ६. तिवारी, हनु०, त्रि०–कबीर हृदय कठोर कै। ७. अन्य—सुधि बुधि। ८. ना० प्र०—उपजि, वि०, हनु०–उपजे ज्ञान। ९. गुप्त–बमेक। १०. ना० प्र०—कै कारणें। ११. ना० प्र०—माग। १२. ना० प्र०—रह्या। १३. ना० प्र०–अंमृत।

सरपहि[१] दूध पिलाइये, दूधै बिष ह्वै जाइ।
ऐसा कोई ना मिलै, स्यूं सरपै[२] बिष खाइ॥ ९॥

शब्दार्थ—स्यूँ=सहित।

व्याख्या—सर्प को दूध पिलाने से दूध भी विष में परिणत हो जाता है। ऐसा कोई अद्वितीय गुरु नहीं मिलता, जो सर्प को विष सहित नष्ट कर दे।

यहाँ 'सर्प' माया या मोह है। 'विष' विषय-वासनाएँ हैं। जिसका हृदय विषय-वासना में लिप्त रहता है, उसमें सदुपदेश की भी उल्टी प्रतिक्रिया होती है। ऐसा कोई विरला सद्गुरु ही हो सकता है जो मोहरूपी सर्प और उसमें पुंजीभूत वासनाओं के विष को समाप्त कर दे।

तुलनीय—

पयःपानं भुजंगानां, केवलं विषवर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये॥

अलंकार—अन्योक्ति।

जालौं[३] इहै बड़ापना[४], सरलै पेड़[५] खजूरि।
पंथी[६] छाँह न वीसवै[७], फल लागैं ते[८] दूरि॥ १०॥

शब्दार्थ—जालौं = जला दूँ। वड़ापना = बड़प्पन, विशालता। पंथी = यात्री। 'वीसवै = विश्राम पाना।

व्याख्या—खजूर का वृक्ष सीधा और ऊँचा होता है, किन्तु उसकी छाया में न तो पथिक विश्राम पा सकता है और न ऊँचाई के कारण उसके फल ही प्राप्त कर सकता है। ऐसी विशालता किस काम की ? उस पर आग लगे।

इसी प्रकार यदि कोई बहुत बड़ा पंडित है और शास्त्र-ज्ञान में निपुण हो गया है, परन्तु अनुभूति न होने के कारण वह किसी को कुछ दे नहीं सकता तो ऐसा महान् पंडित भी किस काम का ?

अलंकार—अन्योक्ति।

ऊँचा कुल के कारनैं[९], बंस बढ़ा[१०] अधिकार[११]।
चंदन बास भेदै नहीं,[१२] जारा[१३] सब परिवार॥ ११॥

शब्दार्थ—अधिकार (बैसवाड़ी) = अधिकता से।

---

१. गुप्त—स्रपै। २. गुप्त—स्रपै। ३. हनु०—जारौं। ४. ना० प्र०—बड़पणां। ५. हनु०—ऊँचों पेड़। ६. ना० प्र०—पंषी। ७. हनु०—पावई। ८. हनु०—बड़। ९. ना० प्र०—कारणैं। १०. ना० प्र०—वध्या। ११. तिवारी—असरार, हनु०—बांस बढ़ो हंकार, यु०-बांस बंध्यो हंकार। १२. हनु०—एक नाम जान्यो नहीं। १३. ना० प्र०—जाल्या, यु०—जार्‌यो।

व्याख्या—ऊँचे कुल में उत्पन्न होने से बाँस अधिकता से ऊपर बढ़ता चला जाता है, परन्तु उसमें चन्दन की सुगंधि का गुण नहीं आता, उल्टे वह पारस्परिक रगड़ से अपने सारे वंश को जला देता है।

ऐसे ही केवल ऊँचे कुल में जन्म लेने से कोई बड़ा नहीं होता, जब तक कि उसके भीतर ज्ञान और अनुभूति की सुगंधि न व्याप्त हो। बड़प्पन की शान में ऐसे लोग पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष से नष्ट हो जाते हैं।

अलंकार—'वंश' शब्द में श्लेष, अन्योक्ति।

कबीर[1] चन्दन कै निड़ै[2], नींब भि[3] चन्दन होइ।
बूड़ा बाँस बड़ाइया,[4] यौं जनि[5] बूड़ै[6] कोइ॥ १२॥
—७९०॥

शब्दार्थ—निड़ै = निकट। भि = भी। बूड़ा = नष्ट हो गया।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि चंदन का सामीप्य पाकर नीम जैसे कडुए वृक्ष में भी चंदन की सुगंधि आ जाती है। किन्तु बाँस अपनी ऊँचाई के कारण चंदन की सुगंधि नहीं ग्रहण कर पाता और अपने ऊँचे आकार से ही नष्ट हो जाता है। ईश्वर करे ऐसी ऊँचाई से किसी का नाश न हो।

भाव यह है कि ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी जो 'निगुणाँ' होते हैं, उनमें नम्रता और गुण की ग्रहणशीलता नहीं होती। फलस्वरूप उनका ऊँचापन ही उनके विनाश का कारण बनता है। वे अपने अहंकार से ही विनष्ट हो जाते हैं। ऐसा बड़प्पन किस काम का ?

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. यु०—कबिरा, हनु०—चंदन केरे नीयरे। २. तिवारी, गुप्त—बिड़ै, यु० के भरै। ३. तिवारी—भी। ४. ना० प्र०—बंस बड़ाइताँ। ५. ना० प्र०—जिनि, हनु०—मति। ६. हनु०, यु०—बूड़ो।

(५६) बीनती को अंग

कबीर[1] साँई मिलहिंगे, पूछहिंगे[2] कुसलात।
आदि अंत की कहूँगा[3], उर अंतर की बात ॥ १ ॥

शब्दार्थ—आदि अन्त = आद्योपान्त।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरा विश्वास है कि जब प्रभु मिलेंगे, तब मेरे कुशल की बात पूछेंगे। उस समय मैं हृदय खोलकर अपने जीवन की आन्तरिक कथा आदि से अन्त तक उन्हें सुनाऊँगा।

इस साखी में व्यञ्जना यह है कि जीव ने इस संसार में जो कुछ किया है, यदि वह सब निष्कपट भाव से प्रभु के समक्ष व्यक्त कर दे तो उसे दयालु प्रभु के अनुग्रह की प्राप्ति अवश्य होगी।

कबीर[4] भूलि[5] बिगाड़ियाँ, (तूँ) नाँ करि मैला चित्त[6]।
साहिब गरवा चाहिए[7], नफर बिगाड़ै[8] नित्त ॥ २ ॥

शब्दार्थ—भूलि=भूल करके, अज्ञानवश। बिगाड़ियाँ = नष्ट कर डाला। गरवा= गम्भीर, महान्, गुरुत्वपूर्ण। नफर (अ०)=दास, नौकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अज्ञानवश यह जीवन नष्ट हो गया। किन्तु हे जीव! तू अपने चित्त को मलिन मत कर। तू हताश न हो। नौकर तो नित्य अपनी मूर्खता से कुछ न कुछ काम बिगड़ता रहता है। स्वामी में महत्ता चाहिए, गुरुता चाहिए। यदि स्वामी में गुरुत्व है तो नौकर की त्रुटियों और दोषों को वह अवश्य सम्हाल लेगा। हे जीव! तू चिन्ता न कर। सौभाग्य से तेरा स्वामी महान् है। यदि तेरे में नम्रता शेष है तो वह यह जानता है कि नौकर भूल करते ही रहते हैं। वह क्षमा कर सम्हाल लेगा। तू प्रभु के समक्ष नम्र भाव से, निष्कपट होकर, शुद्ध चित्त से अपने दोषों को प्रकट कर। तुझे प्रभु का अनुग्रह अवश्य प्राप्त होगा।

करता[9] केरे बहुत गुन[10], औगुन[11] कोई नाँहि।
जे दिल खोजौं आपनों[12], सब औगुन मुझ माँहि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—करता=सृष्टिकर्त्ता, प्रभु। औगुन=अवगुण, दोष।

---

१. यु०—कबिरा। २. अन्य—पूछैंगे। ३. हनु०, वि०, यु०—सब कहूँ। ४. हनु०—बंदा। ५ तिवारी—भूल। ६. हनु०—करि करि मैला चित्त। ७. ना० प्र०—लोड़िए। ८. हनु०—बिगारै। ९. हनु०, यु०—साँई केरा। १०. ना० प्र०—गुण। ११. ना० प्र०—औगुण। १२. ना० प्र०—आपणीं, यु०—आपना, ति०—आपनीं।

व्याख्या—प्रभु में सभी गुण विद्यमान हैं। उनमें कोई दोष नहीं है। जब मैं अपने हृदय का अन्वेषण करता हूँ तो मुझे प्रतीत होता है कि सारे अवगुण मेरे ही भीतर विद्यमान हैं।

प्रभु में सभी गुण विद्यमान होने में व्यञ्जना यह है कि वह पूर्ण है। जो पूर्ण है, वही अपूर्ण का उद्धार कर सकता है। अपूर्णता आपा में विद्यमान है। प्रभु आन्तरिक आत्मा के रूप में विद्यमान है और वह सर्वथा पूर्ण है।

औसर बीता अलप तन, पीव रहा[1] परदेस।
कलंक उतारौ साँइयाँ,[2] भानौं भरम अँदेस॥ ४॥

शब्दार्थ—अलप=अल्प, थोड़ा। तन = शरीर (ला० अ०) जीवन। साँइयाँ=पति, प्रभु। भानौं=दूर कर दो, नष्ट कर दो, भंजन करो। अँदेस=संशय।

व्याख्या—इस साखी में एक विरहिणी नायिका के माध्यम से जीव की कातरता एवं मिलनोत्कण्ठता की व्यञ्जना निहित है।

विरहिणी कहती है कि मेरा प्रियतम विदेश में रम रहा है। उससे मिलने का अवसर बीता जा रहा है। यह क्षणभंगुर शरीर न जाने कब नष्ट हो जाय? अतः वह प्रियतम से आर्तस्वर में निवेदन करती है कि हे प्रिय! तुम्हारे विदेश-वास के कारण लोग मुझ पर नानाप्रकार के कलंक लगाते हैं। हे प्रियतम! तुम शीघ्र आकर मेरे इस कलंक को मिटाओ और लोगों में व्याप्त भ्रम और संशय को दूर कर दो।

जीव को इस संसार में यह अवसर मिला है कि वह प्रभु का सान्निध्य प्राप्त कर सके। उसे यह कार्य थोड़ी-सी आयु में ही करना है। किन्तु मोह और अज्ञान के कारण उसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभु कहीं दूर देश में हैं। (यद्यपि वह उसके भीतर ही हैं) जीव ऐसी स्थिति में अपने को पाकर प्रभु से अनुनय करता है कि हे प्रभु! नर तन के रूप में आपसे मिलन का जो मुझे सुअवसर मिला था, उसको सम्पन्न न कर सकने के कारण मुझे जो कलंक लगा है, उसे आप कृपाकर दूर कीजिए। इससे मानव-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त न कर सकने के कारण मेरे प्रति व्याप्त भ्रम और संशय दूर हो जाएगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर करत है बीनती,[3] भौसागर के ताँइ[4]।
बंदे पर जोरा हुवै,[5] जम कौं[6] बरजि गुसाँइ॥ ५॥

शब्दार्थ—ताँइ = कारण, लिए। बंदे=सेवक। जोरा=अत्याचार। बरजि=रोकिए।

---

१. ना० प्र०-रह्या। २. ना० प्र०—उतारौ केसवाँ, हनु०, यु०—उतारौ राम जी। ३. यु०—कबिरा, तिवारी—कबीर बिचारा करै बीनती। ४. ना० प्र०—ताँई, हनु०—माँहि। ५ ना० प्र०—ऊपरि जोर होत है। ६. ना० प्र०—कूँ बरिज, हनु०—को बरजहु नाँहि।

व्याख्या—भवसागर में पड़ने के कारण कबीर प्रभु से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि मुझे यम भयंकर यातना दे रहा है। आप उससे मेरा उद्धार कीजिए। मुझे जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त कीजिए।

हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।
मीराँ मुझमैं क्या खता, मुखाँ न बोलै पीर॥ ६॥

हज (अ०)=मुसलमानों का एक धार्मिक कृत्य जो मक्के में जाकर अदा करना पड़ता है। काबै (अ०) = मक्के की एक इमारत जिसे मुसलमान ईश्वर का घर समझते हैं। मीराँ (फा०)=बड़े लोग, सत्गुरु। केती=कितनी। खता (अ०)=दोष, अपराध। मुखाँ= मुख से। पीर (फा०)=धर्मगुरु।

यहाँ कबीर साधारण साधक के प्रतिनिधि के रूप में कह रहे हैं कि मैं साधना का लोकमान्य मार्ग अर्थात् तीर्थ, व्रतादि कर चुका हूँ। मैं न जाने कितनी बार हज हो आया और काबा भी गया। मैं सभी अभिज्ञात (Recognized) साधनों का अवलंब ले चुका हूँ। अब मेरे में क्या दोष रह गया कि फिर भी गुरु मेरे प्रति उन्मुख नहीं होता।

व्यञ्जना यह है कि सत्गुरु बाह्याचार को महत्व नहीं देता। वह केवल शिष्य की आन्तरिक निष्ठा और नम्रता पर ही रीझता है और उसकी ओर आकृष्ट होता है।

अलंकार—विशेषोक्ति।

मेरा मन ज्यों तुज्झ सों,[1] यों जे[2] तेरा होइ।
ताता[3] लोहा यों मिलै, संधि लखै[4] नहिं कोइ॥ ७॥
—७९७॥

शब्दार्थ—संधि = जोड़। ताता = तप्त, गर्म।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार मेरा मन आपमें अनुरक्त है, यदि आप उसी प्रकार मुझे अपनाने के लिए तैयार हों तो हम दोनों मिलकर उसकी प्रकार एकाकार हो सकते हैं, जैसे लोहे के दो गर्म टुकड़े मिलकर इस प्रकार एकाकार हो जाते हैं कि उनमें जोड़ या संधिस्थल नहीं प्रतीत होता।

टिप्पणी—इस साखी में प्रभु से 'वरण' करने के लिए अनुनय की गई है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

---

१. ना० प्र०—ज्यूँ मन मेरा तुझ सौं। २. तिवारी, हनु०—जो। ३. तिवारी—तौ अहरनि ताता लोह ज्यौं, हनु०—अहरन ताती लोह ज्यों। ४. ना० प्र०—न लखई।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम् ।
(कठो०-१/२/२३)

'यह आत्मा न तो वेदाध्ययन से प्राप्त हो सकता है, न धारणा शक्ति से और न बहुत उपदेश से । जिसको पात्र समझकर वह वरण करता है, उसी के द्वारा वह (आत्मा) प्राप्त हो सकता है और उसी के प्रति वह (आत्मा) अपने सूक्ष्म स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है ।

अलंकार—उपमा ।

(५७) साषीभूत को अंग

'साषीभूत—इस अंग में 'साषीभूत' शब्द का विशेष अर्थ है। मानव-चेतना की चार अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के द्वारा हमारा सांसारिक जीवन चलता रहता है। इन तीनों की चेतना मनोवैज्ञानिक अहं (Psychological-Self) की चेतना है। इसी के द्वारा हम संसार के सारे जीवन का निर्वाह करते हैं। इन तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा 'तुरीय' चेतना है। तुरीय शब्द का अर्थ है—चौथा। यह तीनों अवस्थाओं से परे है। इसीलिए इसका नाम 'तुरीय' है। यह चौथी अवस्था अन्य तीनों अवस्थाओं की साक्षी है। यह मानव का तात्विक अहं (Meta-Physical-Self) है। यही हमारा वास्तविक आत्मा है। वह काम, क्रोध, लोभ, राग-द्वेष तथा सांसारिक जीवन के अन्य कार्यों में लिप्त नहीं होता। उनका केवल साक्षी होता है। इसीलिए उसे 'साक्षि-चैतन्य' कहते हैं। यह 'साक्षि-चैतन्य' अपने स्वरूप को जानता रहता है। इसी 'साक्षी' के विषय में प्रस्तुत अंग लिखा गया है।

कबीर में 'साक्षी' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—एक तो उपनिषदों का 'साक्षि-चैतन्य' जो प्रस्तुत संदर्भ में है और दूसरे 'सद्गुरु' के अर्थ में, जो परम सत्य का साक्षी है और उस सत्य का साक्ष्य .सरों के प्रति देता है। अन्य अंगों में 'साखी' शब्द इसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त है।

कबीर[1] पूछै राँम सों[2], सकल भुवनपति राइ[3]।
सबही करि अलगा[4] रहौ[5], सो बिधि देहु[6] बताइ॥ १॥

शब्दार्थ—राइ=राजा, स्वामी। विधि = उपाय।

व्याख्या—कबीर राम से पूछते हैं कि आप सम्पूर्ण संसार के स्वामी हैं। आप समस्त रचना करके, माया के सम्पूर्ण खेल करके भी उसमें लिप्त नहीं होते। एक साक्षी के रूप में अलग रहते हैं। यह कैसे ? कृपा कर वह विधि मुझे भी बता दीजिए।

अलंकार—अतद्गुण।

जिहि बरियाँ साँई[7] मिलै, तासु[8] न जानैं[9] और।
सब को[10] सुख दे सबद करि, अपनी अपनी[11] ठौर॥ २॥

शब्दार्थ—बरियाँ = बेला, समय। तासु=उसको। सबद=शब्द, अनाहत नाद।

---

१. यु०-कबिरा। २ ना० प्र०-कूँ। ३. विं०, यु०-भवन पतिराय। ४. हनु०, वि०, यु०-न्यारा रहै। ५ ना० प्र०-रहौ। ६. ना० प्र०-हमहि, त्रि०, यु०-सोई देहु बताइ। ७. तिवारी—सांहिब। ८. ना० प्र०—तास। ९. ना० प्र०—जाँणैं, वि०-ता समान नहिं और। १०. ना० प्र०—कूँ, हनु०-का। ११. ना० प्र०-अपणीं-अपणीं।

व्याख्या—जिस वेला में स्वामी से मिलन होता है अर्थात् प्रभु का साक्षात्कार होता है, उसे दूसरा कोई नहीं जान सकता अर्थात् वह साधक और स्वामी के बीच की बात है। वह सबको अपनी-अपनी जगह पर अर्थात् अपने-अपने कर्म, आचार और पात्रता के अनुसार शब्द (अनाहत नाद) के द्वारा अपने को प्रकट कर आनंद देता है।

कबीर मन का बाहुला, ऊँड़ा बहै असोस।
देखत ही दह मैं पड़ै, दई किसा कौं दोस॥ ३॥
—८००॥

शब्दार्थ—बाहुला = बहाव, नाला। ऊँड़ा (राज०) = गहरा। असोस = अशोष्य, जो सूखे नहीं। दह = (सं० ह्रद), कुण्ड। किसा = किसका।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मन का नाला बहुत गहरा होता है और उसका जल जल्दी सूखता नहीं है। जो व्यक्ति जान-बूझकर मनरूपी कुण्ड में गिरता है अर्थात् वासना-पूर्ण मन में रमण करता है, उसके लिए किसे दोष दिया जाय?

अलंकार—रूपक।

टिप्पणी—यह साखी अन्य किसी पाठ में नहीं मिलती और 'साषीभूत को अंग' में उपयुक्त भी नहीं प्रतीत होती।

(५८) बेली को अंग

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ो[१], नाँ[२] तुमरी नाँ बेलि।
जालन आँनी[३] लाकड़ी, ऊठी कूँपल मेलि[४] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—तुमरी=तितलौकी (प्र० अ०) वासना। बेलि=(प्र०अ०) माया। जालन=जलाने के लिए। आँनी=लाई गई। कूँपल=अंकुर। मेलि=पनपते हुए।

व्याख्या—माया रूपी बेलि विचित्र है। साधारणत: साधक कुछ साधना के पश्चात् यह समझने लगता है कि अब मैंने इस पर विजय प्राप्त कर ली है। अब न तो माया-रूपी बेलि रह गई और न उसका फल—तुमड़ी अर्थात् माया—वेलि के ऊपर हमारा इतना अधिकार हो गया है कि अब न तो माया का प्रभाव रह गया है और न उससे उत्पन्न वासना रूपी तुमड़े (फल) ही रह गये हैं। किन्तु जब वह उस माया रूपी बेलि को शुष्क लकड़ी समझकर उसे जलाने अथवा पूर्णतः नष्ट करने का प्रयत्न करता है, तब वह यह देखकर चकित हो जाता है कि जिस बेलि को वह सूखी लकड़ी समझ चुका था और उसे पूर्णतः जलाने को तैयार था, उसमें छिपी हुई नई कोंपलें निकल पड़ीं।

टिप्पणी—माया अविद्या (आध्यात्मिक अज्ञान) के कारण है। उसी अविद्या से अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेश होते हैं। पातंजल योग के द्वितीय पाद का चौथा सूत्र है—

'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' ॥ ४ ॥

अर्थात्—अविद्या अस्मिता, राग-द्वेष आदि क्लेशों की प्रसवभूमि है। ये क्लेश चार रूप में रहते हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। प्रसुप्त वह अवस्था है जिसमें चेतना में अविद्याप्रसूत वासनाएँ शक्तिमात्र रूप में, बीज भाव में विद्यमान रहती हैं। वे अवसर पाकर, आलम्बन पाकर जग जाती हैं, कार्यशील हो जाती हैं।

इस साखी के द्वितीय चरण में 'ऊठी कोंपल मेलि' का भाव यही है कि हम जिस माया को सूखी लकड़ी के समान नष्टप्राय समझकर जलाने चले थे, आश्चर्य यही है कि उसी से फिर नई कोंपले निकलने लगीं। ये नई कोंपले प्रसुप्त वासनाएँ हैं जो चित्त में छिपी पड़ी रहती हैं। इसलिए अविद्या-माया पूर्ण ज्ञानोदय के बिना नहीं जलाई जा सकती।

अलंकार—भ्रान्तिमान्।

---

१. गु०—परी। २. ना० प्र०—नाँ तूँ वड़ी न। ३. ना० प्र०—जालण आँणी। ४. ना०प्र०—मेल्हि

आगे आगे दौ जलैं,[1] पीछे हरिया[2] होइ।
बलिहारी ता[3] बिरष की, जड़ काटे[4] फल होइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—दौ = दावाग्नि। बिरष = वृक्ष।

व्याख्या—माया-वन अद्भुत है। जब हम इसको जलाते हैं तो यह ज्यों-ज्यों आगे से जलता है, त्यों-त्यों पीछे से हरा होता जाता है, अर्थात् हम माया का कृत्रिम रूप से निग्रह नहीं कर सकते। उसे हम जितना ही दबाते हैं, उतनी ही माया-प्रसूत वासनाएँ चित्त में प्रसुप्त रूप में छिप जाती हैं और बाद में आलम्बन पाकर पुनः जग उठती हैं और कार्यशील हो जाती हैं। 'जलाने' का भाव है—कृत्रिम साधनों से वासनाओं को दबाना और 'हरा' होने का भाव है—उनका पुनः कार्यक्षम हो उठना। साधक समझता है कि वासना जल गयी; परन्तु वह पुनः अंकुरित हो उठती है।

इस अविद्या माया रूपी वृक्ष की बलिहारी है। सामान्य वृक्ष जड़ काटने से फल नहीं दे सकते, किन्तु माया-वृक्ष जब समूल नष्ट कर दिया जाता है, जड़ से काट दिया जाता है, तभी मुक्ति रूपी फल की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी—'जड़ काटे फल होइ' के विरोधाभास में 'जड़' काटने में 'माया' का संकेत है और 'फल होइ' में 'मुक्ति' का संकेत है।

अलंकार—व्यतिरेक, विरोधाभास।

जे काटौं[5] तौ डहडही, सींचौं[6] तौ कुम्हिलाइ।
इस गुनवन्ती[7] बेलि का, कछु गुन कहा[8] न जाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—डहडही = हरी-भरी, लहलहाती।

व्याख्या—यह माया-बेलि विचित्र एवं असामान्य है। यदि इसको काटा जाय तो यह हरी-भरी तथा पल्लवित हो उठती है और यदि इसको सींचा जाय तो मुरझा जाती है। इस अद्भुत गुणवाली बेलि की विशेषताओं का वर्णन नहीं किया जा सकता।

इस उलटबाँसी का भाव यह है कि ज्यों-ज्यों हठपूर्ण साधना या कृत्रिम उपायों से वासना को दबाने की चेष्टा की जाती है, आधुनिक मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) के शब्दों में वह त्यों-त्यों हरी भरी हो जाती है अर्थात् पनपकर बलवती हो जाती है और जब भक्ति अथवा ज्ञानरूपी सुधा-रस से इसको सींचा जाता है, तब यह मुरझा जाती है।

अलंकार—(१) व्यतिरेक, (२) विरोधाभास, (३) 'गुणवंती' शब्द में श्लेष है, यह त्रिगुणात्मिका (सत्व, रजस्, तमस्) का भी बोधक है और वैशिष्ट्य का भी।

---

१. यु०–धा बरै, हनु०–दव बरं। २. तिवारी, हनु०–हरियर। ३. तिवारी–तेहिं बिरिख, हनु०, यु०–ता वृक्ष। ४. ना० प्र०–काट्यौं। ५. वि०, यु०–काटे। ६. यु०, हनु०–सींचे, वि०–सींचै। ७. ना० प्र०–गुणवन्ती। ८. तिवारी—कछु गुन बरनि, ना० प्र०–कुछ गुणँ कह्या।

आँगन[1] बेलि अकास[2] फल, अनब्यावर[3] का दूध।
ससा सींग की धनुहड़ी[4] रमै बाँझ का पूत[5] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अनब्यावर=बिना बिआई हुई। ससा=शशक, खरगोश। धनुहड़ी=छोटा धनुष। रमै=रमण करना, खेलना।

व्याख्या—इस अंग में माया को बेलि कहा गया है। उसी क्रम में प्रस्तुत साखी भी है।

माया को 'अघटनघटनापटीयसी' कहा गया है। असम्भाव्य को सम्भाव्य बना देना माया की विशेषता है। यहाँ उसी असम्भाव्य की सम्भाव्य-प्रतीति को सम्पुष्ट करने वाले चार उदाहरण दिये गये हैं।

अनिर्वचनीय माया द्वारा प्रपंच का नाटक उसी प्रकार अकथनीय तथा अघटन को घटित करने का इन्द्रजाल है, जैसे बेलि का आँगन में होना और उसका फल आकाश में होना, अनब्याई गाय का दूध, खरगोश का सींग और बंध्या स्त्री के पुत्र का खेलना।

अलंकार -'आँगन बेलि अकास फल' में असंगति।

कबीर[6] कड़ुई बेलड़ी, कड़ुवा ही फल होइ।
सिद्ध[7] नाम तब पाइए, जे[8] बेलि बिछोहा होइ ॥ ५ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह माया-बेलि कड़ुई होती है और इसका फल भी कड़ुवा होता है। माया में अनुरक्त रहनेवाला व्यक्ति वासना की कटुता से आक्रान्त रहता है। यदि कोई इस मायारूपी बेलि से अपने को पृथक कर ले तो वह सिद्ध नाम प्राप्त कर सकता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सिद्ध भया तौ क्या भया,[9] चहुँदिसि फूटी बास।
अजहूँ[10] बीज अंकूर है,[11] फिर[12] ऊगन की आस ॥ ६ ॥
—८०६ ॥

शब्दार्थ—बास=सुगंध (ला० अ०) ख्याति। आस=सम्भावना।

व्याख्या—यदि सिद्ध हो जाने की ख्याति चारों ओर फैल गयी तो इससे क्या लाभ? मायारूपी बीज और उसका वासनारूपी अंकुर अब भी हृदय में विद्यमान है और उसके पुनः पनपने की सम्भावना विद्यमान है। अतः साधक को बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

अलंकार—'बीज अंकूर' में रूपकातिशयोक्ति।

●

---

१. ना० प्र०—आँगणि। २. ना० प्र०—अकासि। ३. ना० प्र०—अण व्यावर। ४. यु०, वि०—के धनुष को, हनु०—के धनुष करि, ना० प्र०—धूनहड़ी। ५. हनु०—खेलैं, वि०—खैंच बाँझ सुत सूध। ६. यु०—कबिरा कड़वी। ७. ना० प्र०—सींध नाँव। ८. यु०—जब। ९. ना० प्र०—सींध भई तब का भया। १०. हनु०—औरो। ११. हनु०, यु०—में। १२. ना० प्र०—भी ऊगण, गुप्त—भी उगण।

(५९) अबिहड़ को अंग

कबीर[1] साथी सोइ[2] किया, दुख सुख जाहि न कोइ[3]।
हिलि मिलि कै[4] संग खेलिहूँ, कदे[5] बिछोह न होइ ॥ १ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने उस प्रभु को अपना साथी बनाया है जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से परे है। मैं उससे हिल-मिलकर, सदा युक्त रहकर खेलूँगा अर्थात् जीवन व्यतीत करूँगा। उससे कभी वियुक्त नहीं होऊँगा। उससे कभी बिछुड़न नहीं होगी।

कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोइ।
गुन औगुन[6] बिहड़ै[7] नहीं, स्वारथ बंधी[8] लोइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सिरजनहार=स्रष्टा। हितू=हितैषी। बिहड़ै=अंतर करना, बिलगाना, अलग करना। बंधी=बँधे हुए। लोइ=लोग।

व्याख्या—कबीर प्रभु के अनुग्रह में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए कहते हैं कि स्रष्टा के सिवाय मेरा कोई अन्य हितैषी नहीं है। वह गुण और अवगुण में अन्तर नहीं करता है अर्थात् पापी और पुण्यात्मा का भेद नहीं करता है। उसके प्रति जो अनुराग रखता है, वह चाहे पापी हो या पुण्यात्मा, प्रभु उस पर अनुग्रह करते हैं। अन्य सभी लोग स्वार्थ में बँधे हुए हैं।

आदि मध्य[9] अरु अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग[10]।
कबीर उस करतार का[11], सेवक तजै न संग[12] ॥ ३ ॥
—८०९ ॥

शब्दार्थ—लौं=तक। अविहड़=अवियुक्त। अभंग=अटूट, लगातार। करतार=स्रष्टा।

व्याख्या—अनश्वर, अभंग प्रभु जिसका न कोई आदि है, न मध्य और न अंत, वह मेरे जीवन के आदि, मध्य और अंत तक अर्थात् जन्म, जीवन और मृत्यु-पर्यन्त सदा, लगातार मुझसे अवियुक्त रहता है। कबीर कहते हैं कि सेवक को ऐसे प्रभु का कभी साथ नहीं छोड़ना चाहिए।

●

१. यु०—साथी तो सोई किया। २. ना० प्र०—सो। ३. ना० प्र०—जाके सुख दुख नहीं कोइ। ४. ना० प्र०—ह्वै करि खेलिस्यूँ, अन्य—के संग खेलई। ५. हनु०, वि०, यु०—कबहुँ। ६. ना० प्र०—गुण औगुण। ७. वि०—बेड़ै। ८. वि०—बंधा। ९. ना० प्र०—मधि। १०. यु०—अभय औ सदा अभंग। ११. ना० प्र०—की। १२. हनु०, वि०, यु०—कभी न छाड़ै संग।

साखियों की वर्णानुक्रम सूची

य

• डॉ जयदेव सिंह

एम० ए० (दर्शन तथा संस्कृत), डी० लिट्०
(मानद्, कानपुर विश्वविद्यालय)
जन्म : संवत् १९५०

साहित्य, दर्शन एवं संगीत के बहुश्रुत मनीषी डॉ० जयदेव सिंह लगभग पचास वर्षों से साहित्य तथा दर्शन के अध्ययन-अध्यापन में रत हैं। आकाशवाणी में अनेक वर्षों तक संगीत विभाग के प्रोड्यूसर रहे एवं संप्रति संगीत-नाटक अकादमी, उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष हैं। सन् १९७४ में भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण की उपाधि से विभूषित।

कृतियां

१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा
२. भारतीय संगीत का बृहत्तर इतिहास
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
४. बुद्धिस्ट कन्सेप्सन आफ निर्वाण (सं०)
५. कबीर वाङ्मय : खण्ड १, रमैनी

• डॉ० वासुदेव सिंह

जन्म ३१ अक्तूबर, सन् १९३५

सन् १९५६ में आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० (हिन्दी) विश्वविद्यालय के सभी छात्रों में प्रथम स्थान—स्वर्ण पदक से विभूषित। सन् १९६२ में पी-एच० डी०। सम्प्रति हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी में प्रध्यापक।

कृतियां

१. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन-रहस्यवाद
२. हिन्दी-साहित्य का उद्भवकाल
३. तुलसी : सन्दर्भ और दृष्टि (संपादित)
४. कबीर वाङ्मय : खंड १, रमैनी

हिन्दी साहित्य के मानक ग्रंथों की श्रृंखला

कबीर वाङ्मय

छह खण्डों में

कबीर संत-काव्य-धारा के सर्वाधिक सशक्त प्रतिमान थे । परमतत्व उनके दर्शन की पृष्ठभूमि था और तत्कालीन धर्म तथा सम्प्रदायों के रूढ़िवाद से ऊपर उठकर उन्होंने मानव चेतना को एक नयी दिशा प्रदान की । इन सबके लिए कबीर ने जिन प्रतीकों का सहारा लिया, भाषा को जो अर्थवत्ता दी, साहित्य तथा दर्शन के जिन नये आयामों को प्रतिष्ठित किया, उसका गंभीर अध्ययन, अनुशीलन तथा रमैनी, साखी, शब्दों की भावार्थबोधिनी व्याख्या 'कबीर वाङ्मय' परियोजना का प्रमुख प्रतिपाद्य है ।

प्रथम खण्ड	:	रमैनी
द्वितीय खण्ड	:	शब्द
तृतीय खण्ड	:	साखी
चतुर्थ और पंचम खण्ड	:	कबीर के साहित्य, पंथ, साधना, दर्शन और योग का विवेचन
षष्ठ खण्ड	:	कबीर कोश

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी